सूची

खून सफेद

(१)

चैत का महीना था, लेकिन वे खलिहान, जहाँ अनाज की ढेरियाँ लगी रहती थीं, पशुओं के शरणस्थल बने हुए थे, जहाँ घरों से फाग और वसन्त की अलाप सुनायी पड़ती, वहाँ आज भाग्य का रोना था। सारा चौमासा बीत गया, पानी की एक बूँद न गिरी। जेठ मे एक बार मूसलाधार वृष्टि हुई थी, किसान फूले न समाये, खरीफ की फसल बो दी, लेकिन इन्द्रदेव ने अपना सर्वस्व शायद एक ही बार लुटा दिया था। पौधे उगे, बढ़े और फिर सूख गये। गोचर भूमि में घास न जमी। बादल आते, घटाएँ उमड़तीं, ऐसा मालूम होता कि जल-थल एक हो जायगा, परन्तु वे आशा की नहीं, दुःख की घटाएँ थीं। किसानों ने बहुतेरे जप-तप किये,' ईंट और पत्थर देवी-देवताओं के नाम से पुजाये, बलिदान किये, पानी की अभिलाषा में रक्त के परनाले बह गये, लेकिन इन्द्रदेव किसी तरह न पसीजे। न खेतों मे पौधे थे, न गोचरों में घास, न तालाबों में पानी। बड़ी मुसीबत का सामना था। जिधर देखिये, धूल उड़ रही थी। दरिद्रता और क्षुधापीडा के दारुण दृश्य दिखायी देते थे। लोगों ने पहिले तो गहने और बरतन गिरवी रखे, और अन्त में बेच डाले। फिर जानवरों की बारी आयी और जब जीविका का अन्य कोई सहारा न रहा तब जन्म-भूमि पर जान देनेवाले किसान बाल-बच्चों को लेकर मजदूरी करने निकल पड़े। अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए कहीं-कहीं सरकार की सहायता से काम खुल गया था। बहुतेरे वहीं जाकर जमे। जहाँ जिसको सुभीता हुआ, वह उधर ही जा निकला।

(२)

संध्या का समय था। जादोराय थका-माँदा आकर बैठ गया और स्त्री से उदास होकर बोला—दरखास्त नामजूर हो गयी। यह कहते-कहते वह आँगन में जमीन पर लेट गया। उसका मुख पीला पड़ रहा था और आँतें सिकुड़ी जा

रही थीं। आज दो दिन से उसने दाने की सूरत नहीं देखी। घर में जो कुछ विभूति थी—गहने, कपड़े, बरतन, भाँड़े सब पेट में समा गये। गाँव का साहूकार भी पतिव्रता स्त्रियों की भाँति आँखें चुराने लगा। केवल तकावी का सहारा था, उसी के लिए दरख्वास्त दी थी, लेकिन आज वह भी नामजूर हो गयी, आशा का झिलमिलाता हुआ दीपक बुझ गया।

देवकी ने पति को करुण दृष्टि से देखा। उसकी आँखों में आँसू उमड़ आये। पति दिन भर का थका-माँदा घर आया है। उसे क्या खिलावे? लज्जा के मारे वह हाथ-पैर धोने के लिए पानी भी न लायी। जब हाथ-पैर धोकर आशा-भरी चितवन से वह उसकी ओर देखेगा तब वह उसे क्या खाने को देगी? उसने आप कई दिन से दाने की सूरत नहीं देखी थी। लेकिन इस समय उसे जो दुःख हुआ, वह क्षुधातुरता के कष्ट से कई गुना अधिक था। स्त्री घर की लक्ष्मी है। घर के प्राणियों को खिलाना-पिलाना वह अपना कर्त्तव्य समझती है। और चाहे यह उसका अन्याय ही क्यों न हो, लेकिन अपनी दीन-हीन दशा पर जो मानसिक वेदना उसे होती है, वह पुरुषों को नहीं हो सकती।

हठात् उसका बच्चा साधो नींद से चौंका और मिठाई के लालच में आकर वह बाप से लिपट गया। इस बच्चे ने आज प्रातःकाल चने की रोटी का एक टुकडा खाया था, और तब से कई बार उठा और कई बार रोते-रोते सो गया। चार वर्ष का नादान बच्चा, उसे वर्षा और मिठाइयों में कोई सम्बन्ध नहीं दिखायी देता था। जादोराय ने उसे गोद में उठा लिया उसकी ओर दुःख-भरी दृष्टि से देखा। गर्दन झुक गयी और हृदय-पीड़ा आँखों में न समा सकी।

(२)

दूसरे दिन यह परिवार भी घर से बाहर निकला। जिस तरह पुरुष के चित्त से अभिमान और स्त्री की आँख से लज्जा नहीं निकलती, उसी तरह अपनी मेहनत से रोटी कमानेवाला किसान भी मजदूरी की खोज में घर से बाहर नहीं निकलता। लेकिन हा पापी पेट, तू सब कुछ कर सकता है! मान और अभिमान, ग्लानि और लज्जा ये सब चमकते हुए तारे तेरी काली घटाओं की ओट मे छिप जाते हैं।

प्रभात का समय था। वे दोनों विपत्ति के सताये घर से निकले। जादोराय

ने लड़के को पीठ पर लिया। देवकी ने फटे-पुराने कपड़ों की वह गठरी सिर पर रखी, जिस पर विपत्ति को भी तरस आता। दोनों की आँखें आँसुओं से भरी थीं। देवकी रोती थी। जादोराय चुपचाप था। गाँव के दो-चार आदमियों से रास्ते में भेंट भी हुई, किन्तु किसी ने इतना भी न पूछा कि कहाँ जाते हो? किसी के हृदय में सहानुभूति का वास न था।

जब ये लोग लालगंज पहुँचे, उस समय सूर्य ठीक सिर पर था। देखा, मीलों तक आदमी-ही-आदमी दिखायी देते थे। लेकिन हर चेहरे पर दीनता और दुःख के चिह्न झलक रहे थे।

बैसाख की जलती हुई धूप थी। आग के झोंके ज़ोर-जोर से हरहराते हुए चल रहे थे। ऐसे समय में हड्डियों के अगणित ढाँचे जिनके शरीर पर किसी प्रकार का कपड़ा न था, मिट्टी खोदने में लगे हुए थे। मानों वह मरघट-भूमि थी, जहाँ मुर्दे अपने हाथों अपनी कबरें खोद रहे थे। बूढ़े और जवान, मर्द और बच्चे, सब-के-सब ऐसे निराश और विवश होकर काम में लगे हुए थे मानों मृत्यु और भूख उनके सामने बैठी घूर रही है। इस आफत में न कोई किसी का मित्र था न हितू। दया, सहृदयता और प्रेम ये सब मानवीय भाव हैं, जिनका कर्त्ता मनुष्य है। प्रकृति ने हमको केवल एक भाव प्रदान किया है और वह स्वार्थ है। मानवीय भाव बहुधा कपटी मित्रों की भाँति हमारा साथ छोड़ देते हैं, पर यह ईश्वरप्रदत्तगुण कभी हमारा गला नहीं छोड़ता।

(४)

आठ दिन बीत गये थे। संध्या समय काम समाप्त हो चुका था। डेरे से कुछ दूर आम का एक बाग था। वहीं एक पेड़ के नीचे जादोराय और देवकी बैठी हुई थी। दोनों ऐसे कृश हो रहे थे कि उनकी सूरत नहीं पहिचानी जाती थी। अब वह स्वाधीन कृषक नहीं रहे। समय के हेरफेर से आज दोनों मजदूर बने बैठे हैं।

जादोराय ने बच्चे को ज़मीन पर सुला दिया। उसे कई दिन से बुखार आ रहा है। कमल-सा चेहरा मुरझा गया है। देवकी ने धीरे से हिलाकर कहा—बेटा! आँखें खोलो। देखो साँझ हो॰

साधो ने आँखें खोल दीं, बुखार उतर गया था। बोला—क्या हम घर आ गये माँ?

घर की याद आ गयी। देवकी की आँखें डबडबा आयीं। उसने कहा—नहीं बेटा! तुम अच्छे हो जाओगे, तो घर चलेंगे। उठकर देखो, कैसा अच्छा बाग है!

साधो माँ के हाथों के सहारे उठा, और बोला—माँ! मुझे बड़ी भूख लगी है, लेकिन तुम्हारे पास तो कुछ नहीं है। मुझे क्या खाने को दोगी?

देवकी के हृदय में चोट लगी, पर धीरज धर के बोली—नहीं बेटा, तुम्हारे खाने को मेरे पास सब कुछ है। तुम्हारे दादा पानी लाते हैं तो मैं नरम-नरम रोटियाँ अभी बनाये देती हूँ।

साधो ने माँ की गोद में सिर रख लिया और बोला—माँ! मैं न होता तो तुम्हें इतना दुःख तो न होता। यह कहकर वह फूट-फूटकर रोने लगा। यह वही बेसमझ बच्चा है, जो दो सप्ताह पहिले मिठाइयों के लिए दुनिया सिर पर उठा लेता था। दुःख और चिन्ता ने कैसा अनर्थ कर दिया है। यह विपत्ति का फल है। कितना दुःखपूर्ण, कितना करुणाजनक व्यापार है।

इसी बीच में कई आदमी लालटेन लिये हुए वहाँ आये। फिर गाड़ियाँ आयीं। उन पर डेरे और खेमे लदे हुए थे। दम-के-दम में वहाँ खेमे गड़ गये। सारे बाग में चहल-पहल नजर आने लगी। देवकी रोटियाँ सेंक रही थी, साधो धीरे-धीरे उठा और आश्चर्य से देखता हुआ एक डेरे के नजदीक जाकर खड़ा हो गया।

(५)

पादरी मोहनदास खेमे से बाहर निकले तो साधो उन्हें खड़ा दिखायी दिया। उसकी सूरत पर उन्हें तरस आ गया। प्रेम की नदी उमड़ आयी। बच्चे को गोद में लेकर खेमे में एक गद्देदार कोच पर बैठा दिया और तब उसे बिसकुट और केले खाने को दिये। लड़के ने अपनी जिन्दगी में इन स्वादिष्ट चीजों को कभी न देखा था। बुखार की बेचैन करनेवाली भूख अलग मार रही थी। उसने खूब मनभर खाया और तब कृतज्ञ नेत्रों से देखते हुए पादरी साहब के पास जाकर बोला—तुम हम को रोज ऐसी चीज़ें खिलाओगे?

पादरी साहब इस भोलेपन पर मुस्कुरा के बोले—मेरे पास इससे भी अच्छी-

अच्छी चीज़ें हैं। इस पर साधोराय ने कहा—अब मैं रोज तुम्हारे पास आऊँगा। माँ के पास ऐसी अच्छी चीज़ें कहाँ ? वह तो मुझे चने की रोटियाँ खिलाती है।

उधर देवकी ने रोटियाँ बनायीं और साधो को पुकारने लगी। साधो ने माँ के पास जाकर कहा—मुझे साहब ने अच्छी-अच्छी चीज़ें खाने को दी हैं। साहब बड़े अच्छे हैं।

देवकी ने कहा—मैंने तुम्हारे लिए नरम-नरम रोटियाँ बनायी हैं। आओ तुम्हें खिलाऊँ।

साधो बोला—अब मैं न खाऊँगा। साहब कहते थे कि मैं तुम्हे रोज अच्छी-अच्छी चीज़ें खिलाऊँगा। मैं अब उनके साथ रहा करूँगा।

माँ ने समझा कि लड़का हँसी कर रहा है। उसे छाती से लगाकर बोली—क्यों बेटा ! हमको भूल जाओगे ? देखो, मैं तुम्हें कितना प्यार करती हूँ।

साधो तुतलाकर बोला—तुम तो मुझे रोज चने की रोटियाँ दिया करती हो। तुम्हारे पास तो कुछ नहीं है। साहब मुझे केले और आम खिलावेंगे। यह कहकर वह फिर खेमे की ओर भागा और रात को वहीं सो रहा।

पादरी मोहनदास का पड़ाव वहाँ तीन दिन रहा। साधो दिन-भर उन्हीं के पास रहता। साहब ने उसे मीठी दवाइयाँ दीं। उसका बुख़ार जाता रहा। वह भोले-भाले किसान यह देखकर साहब को आशीर्वाद देने लगे। लड़का भला-चगा हो गया और आराम से है। साहब को परमात्मा सुखी रखे। उन्होंने बच्चे की जान रख ली।

चौथे दिन रात को ही वहाँ से पादरी साहब ने कूच किया। सुबह को जब देवकी उठी तो साधो का वहाँ पता न था। उसने समझा, कहीं टपके ढूँढने गया होगा ; किन्तु थोड़ी देर देखकर उसने जादोराय से कहा—लल्लू यहाँ नहीं है। उसने भी यही कहा—यहीं कहीं टपके ढूँढता होगा।

लेकिन जब सूरज निकल आया और काम पर चलने का वक्त हुआ तब जादोराय को कुछ सशय हुआ। उसने कहा—तुम यहीं बैठी रहना, मैं अभी उसे लिये आता हूँ।

जादोराय ने आस-पास के सब बागों को छान डाला और अन्त में जब

दस बज गये तो निराश लौट आया। साधो न मिला, यह देखकर देवकी ढाढ़ें मारकर रोने लगी।

फिर दोनों अपने लाल की तलाश में निकले। अनेक विचार चित्त में आने-जाने लगे। देवकी को पूरा विश्वास था कि साहब ने उस पर कोई मन्त्र डाल-कर वश में कर लिया। लेकिन जादो को इस कल्पना के मान लेने में कुछ सदेह था। बच्चा इतनी दूर अनजान रास्ते पर अकेले नहीं आ सकता। फिर भी दोनों गाड़ी के पहियों और घोड़े की टापों के निशान देखते चले जाते थे। यहाँ तक कि वे एक सड़क पर आ पहुँचे। वहाँ गाड़ी के बहुत से निशान थे। उस विशेष लीक की पहचान न हो सकती थी। घोड़े के टाप भी एक झाड़ी की तरफ जाकर गायब हो गये। आशा का सहारा टूट गया। दोपहर हो गयी थी। दोनों धूप के मारे बेचैन और निराशा से पागल हो रहे थे। वहीं एक वृक्ष की छाया में बैठ गये। देवकी विलाप करने लगी। जादोराय ने उसे समझाना शुरू किया।

जब जरा धूप की तेजी कम हुई तो दोनों फिर आगे चले। किन्तु अब आशा की जगह निराशा साथ थी। घोड़े के टापों के साथ उम्मेद का धुँधला निशान गायब हो गया था।

शाम हो गयी। इधर-उधर गायों, बैलों के झुण्ड निर्जीव-से पड़े दिखायी देते थे। यह दोनों दुखिया हिम्मत हारकर एक पेड़ के नीचे टिक रहे। उसी वृक्ष पर मैने का एक जोड़ा बसेरा लिये था। उनका नन्हा-सा शावक आज ही एक शिकरे के चगुल में फँस गया था। दोनों दिन भर उसे खोजते फिरे। इस समय निराश होकर बैठे रहे। देवकी और जादो को अभी तक आशा की झलक दिखायी देती थी, इसी लिए वे बेचैन थे।

तीन दिन तक ये दोनों अपने खोये हुए लाल की तलाश करते रहे। दाने से भेंट नहीं, प्यास से बेचैन होते तो दो-चार घूँट पानी गले के नीचे उतार लेते।

आशा की जगह निराशा का सहारा था। दुःख और करुणा के सिवाय और कोई वस्तु नहीं। किसी बच्चे के पैरों के निशान देखते तो उनके दिलों में आशा तथा भय की लहरें उठने लगती थीं।

लेकिन प्रत्येक पग उन्हें अभीष्ट स्थान से दूर लिये जाता था।

(६)

इस घटना को हुए चौदह वर्ष बीत गये। इन चौदह वर्षों में सारी काया पलट गयी। चारों ओर रामराज्य दिखायी देने लगा। इन्द्रदेव ने कभी उस तरह अपनी निर्दयता न दिखायी और न जमीन ने ही। उमड़ी हुई नदियों की तरह अनाज से ढेकियाँ भर चलीं। उजड़े हुए गाँव बस गये। मजदूर किसान बन बैठे और किसान जायदाद की तलाश में नजरें दौड़ाने लगे। वही चैत के दिन थे। खलिहानों में अनाज के पहाड़ खड़े थे। भाट और भिखमगे किसानों की बढ़ती के तराने गा रहे थे। सुनारों के दरवाजे पर सारे दिन और आधी रात तक गाहकों का जमघट बना रहता था। दरजी को सिर उठाने की फुरसत न थी। इधर-उधर दरवाजों पर घोड़े हिनहिना रहे थे। देवी के पुजारियों को अजीर्ण हो रहा था। जादोराय के दिन भी फिरे। उसके घर पर छप्पर की जगह खपरैल हो गया है। दरवाजे पर अच्छे बैलों की जोड़ी बँधी हुई है। वह अब अपनी बहली पर सवार होकर बाजार जाया करता है। उसका बदन अब उतना सुडौल नहीं है। पेट पर इस सुदशा का विशेष प्रभाव पड़ा है और बाल भी सफेद हो चले हैं। देवकी की गिनती भी गाँव की बूढ़ी औरतों में होने लगी है। व्यावहारिक बातों में उसकी बड़ी पूछ हुआ करती है। जब वह किसी पड़ोसिन के घर जाती है तो वहाँ की बहुएँ भय के मारे थरथराने लगती हैं। उसके कटु-वाक्य और तीव्र आलोचना की सारे गाँव में धाक बँधी हुई है। महीन कपड़े अब उसे अच्छे नहीं लगते, लेकिन गहनों के बारे में वह इतनी उदासीन नहीं है।

उनके जीवन का दूसरा भाग इससे कम उज्ज्वल नहीं है। उनकी दो सन्तानें हैं। लड़का माधोसिंह अब खेती-बारी के काम में बाप की मदद करता है। लड़की का नाम शिवगौरी है। वह भी माँ को चक्की पीसने में सहायता दिया करती है और खूब गाती है। बर्त्तन धोना उसे पसन्द नहीं, लेकिन चौका लगाने में निपुण है। गुड़ियों के ब्याह करने से उसका जी कभी नहीं भरता। आये दिन गुड़ियों के विवाह होते रहते हैं। हाँ, इनमें किफायत का पूरा ध्यान रहता है। खोये हुए साधो की याद अभी तक बाकी है। उसकी चर्चा नित्य हुआ करती है और कभी बिना रुलाये नहीं रहती। देवकी कभी-कभी सारे दिन उस लाडले बेटे की सुध में अधीर रहा करती है।

साँझ हो गयी थी। बैल दिन भर के थके-माँदे सिर झुकाये चले आ थे। पुजारी ने ठाकुरद्वारे में घंटा बजाना शुरू किया। आजकल फसल दिन हैं। रोज़ पूजा होती है। जादोराय खाट पर बैठे नारियल पी रहे थे शिवगौरी रास्ते में खड़ी उन बैलों को कोस रही थी, जो उसके भूमिस्थ विशाल भवन का निरादर करके उसे रौंदते चले जाते थे। घड़ियाल और घंटे आवाज सुनते ही जादोराय भगवान् का चरणामृत लेने के लिए उठे ही कि उन्हें अकस्मात् एक नवयुवक दिखायी पड़ा, जो भूँकते हुए कुत्तों दुतकारता, बाईसिकल को आगे बढ़ाता हुआ चला आ रहा था। उसने उन चरणों पर अपना सिर रख दिया। जादोराय ने गौर से देखा और तब दो एक दूसरे मे लिपट गये। माधो भौचक होकर बाईसिकल को देखने लग शिवगौरी रोती हुई घर में भागी और देवकी से बोली—दादा को साहब पकड़ लिया है। देवकी घबरायी हुई बाहर आयी। साधो उसे देखते ही उस पैरों पर गिर पड़ा। देवकी लड़के को छाती से लगाकर रोने लगी। गाँव मर्द, औरतें और बच्चे सब जमा हो गये। मेला-सा लग गया।

(७)

साधो ने अपने माता-पिता से कहा—मुझ अभागे से जो कुछ अपराध हु हो, उसे क्षमा कीजिये। मैंने अपनी नादानी से स्वयं बहुत कष्ट उठाये और आ लोगों को भी दु ख दिया, लेकिन अब मुझे अपनी गोद में लीजिए। देवकी रोकर कहा—जब तुम हम को छोड़कर भागे थे तो हम लोग तुम्हें तीन दिन बेदाना-पानी के ढूँढते रहे, पर जब निराश हो गये तब अपने भाग्य को रो बैठ रहे। तब से आज तक कोई ऐसा दिन न गया होगा कि तुम्हारी सुधि आयी हो। रोते-रोते एक युग बीत गया, अब तुमने खबर ली है। बताओ बे उस दिन तुम कैसे भागे और कहाँ जाकर रहे? साधो ने लज्जित होकर उ दिया, माताजी, अपना हाल क्या कहूँ? मैं पहर रात रहे आपके पास से उठ भागा। पादरी साहब के पड़ाव का पता शाम ही को पूछ लिया था। बस, पूछ हुआ दोपहर को उनके पास पहुँच गया। साहब ने मुझे पहिले समझाया अपने घर लौट जाओ, लेकिन जब मैं किसी तरह राजी न हुआ तो उन मुझे पूना भेज दिया। मेरी तरह वहाँ सैकड़ों लड़के थे। वहाँ बिस्कुट

नारगियों का भला क्या जिक्र! जब मुझे आप लोगों की याद आती, मैं अक्सर रोया करता। मगर बचपन की उम्र थी, धीरे-धीरे उन्हीं लोगों से हिल-मिल गया। हाँ, जब से कुछ होश हुआ है और अपना-पराया समझने लगा हूँ तब से अपनी नादानी पर हाथ मलता रहा हूँ। रात-दिन आप लोगों की रट लगी हुई थी। आज आप लोगों के आशीर्वाद से यह शुभ-दिन देखने को मिला। दूसरों में बहुत दिन काटे, बहुत दिनों तक अनाथ रहा। अब मुझे अपनी सेवा में रखिए। मुझे अपनी गोद में लीजिए। मैं प्रेम का भूखा हूँ। बरसों से मुझे जो सौभाग्य नहीं मिला, वह अब दीजिए।

गाँव के बहुत से बूढ़े जमा थे। उनमें से जगतसिंह बोले—तो क्यों बेटा, तुम इतने दिनों तक पादरियों के साथ रहे! उन्होंने तुमको भी पादरी बना लिया होगा?

साधो ने सिर झुकाकर कहा—जी हाँ, यह तो उनका दस्तूर ही है।

जगतसिंह ने जादोराय की तरफ देखकर कहा—यह बड़ी कठिन बात है।

साधो बोला—बिरादरी मुझे जो प्रायश्चित बतलावेगी, मैं उसे करूँगा। मुझसे जो कुछ बिरादरी का अपराध हुआ है, नादानी से हुआ है; लेकिन मैं उसका दण्ड भोगने के लिए तैयार हूँ।

जगतसिंह ने फिर जादोराय की तरफ कनखियों से देखा और गम्भीरता से बोले—हिन्दू धर्म में ऐसा कभी नहीं हुआ है। यों तुम्हारे माँ-बाप तुम्हें अपने घर मे रख लें, तुम उनके लड़के हो, मगर बिरादरी कभी इस काम में शरीक न होगी। बोलो जादोराय, क्या कहते हो, कुछ तुम्हारे मन की भी तो सुन लें।

जादोराय बडी द्विविधा मे था। एक ओर तो अपने प्यारे बेटे की प्रीति थी, दूसरी ओर बिरादरी का भय मारे डालता था। जिस लड़के के लिए रोते-रोते आँखें फूट गयीं, आज वही सामने खडा आँखों में आँसू भरे कहता है, पिताजी! मुझे अपनी गोद में लीजिए और मैं पत्थर की तरह अचल खड़ा हूँ। शोक! इन निर्दयी भाइयों को किस तरह समझाऊँ, क्या करूँ, क्या न करूँ।

लेकिन माँ की ममता उमड आयी, देवकी से न रहा गया। उसने अधीर होकर कहा—मैं अपने लाल को अपने घर में रखूँगी और कलेजे से लगाऊँगी। इतने दिनों के बाद मैंने उसे पाया है, अब उसे नहीं छोड़ सकती।

जगतसिंह रुष्ट होकर बोले—चाहे बिरादरी छूट ही क्यों न जाय ?

देवकी ने भी गरम होकर जवाब दिया—हाँ, चाहे बिरादरी छूट ही जाय। लडके-बालों ही के लिए आदमी आड़ पकड़ता है। जब लड़का ही न रहा तो भला बिरादरी किस काम आवेगी ?

इस पर कई ठाकुर लाल-लाल आँखे निकालकर बोले—ठकुराइन! बिरादरी की तो तुम खूब मर्याद करती हो। लडका चाहे किसी रास्ते पर जाय, लेकिन बिरादरी चूँ तक न करे! ऐसी बिरादरी कहीं और होगी! हम साफ-साफ कहे देते हैं कि अगर यह लड़का तुम्हारे घर में रहा तो बिरादरी भी बता देगी कि वह क्या कर सकती है ?

जगतसिंह कभी-कभी जादोराय से रुपये उधार लिया करते थे। मधुर स्वर से बोले—भाभी! बिरादरी थोडे ही कहती है कि तुम लड़के को घर से निकाल दो। लडका इतने दिनों के बाद घर आया है, हमारे सिर आँखों पर रहे। बस, जरा खाने-पीने और छूत-छात का बचाव बना रहना चाहिए। बोलो, जादो भई! अब बिरादरी को कहाँ तक दबाना चाहते हो ?

जादोराय ने साधो की तरफ करुणा-भरे नेत्रों से देखकर कहा—बेटा! जहाँ तुमने हमारे साथ इतना सलूक किया है, वहाँ जगत भाई की इतनी कही और मान लो ?

साधो ने कुछ तीक्ष्ण शब्दों में कहा—क्या मान लूँ ? यही कि अपनों में गैर बनकर रहूँ, अपमान सहूँ, मिट्टी का घड़ा भी मेरे छूने से अशुद्ध हो जाय! न, यह न मेरा किया होगा, मैं इतना निर्लज्ज नहीं हूँ।

जादोराय को पुत्र की यह कठोरता अप्रिय मालूम हुई। वे चाहते थे कि इस वक्त बिरादरी के लोग जमा हैं, उनके सामने किसी तरह समझौता हो जाय, फिर कौन देखता है कि हम उसे किस तरह रखते हैं ? चिढकर बोले—इतनी बात तो तुम्हें माननी ही पडेगी।

साधोराय इस रहस्य को न समझ सका। बाप की इस बात में उसे निष्ठुरता की झलक दिखायी पड़ी। बोला—मैं आपका लडका हूँ। आपके लड़के की तरह रहूँगा। आपके प्रेम और भक्ति की प्रेरणा मुझे यहाँ तक लायी है। मैं अपने घर में रहने आया हूँ। अगर यह नहीं है तो मेरे लिए इसके सिवा और कोई

उपाय नहीं है कि जितनी जल्दी हो सके, यहाँ से भाग जाऊँ। जिनका—
खून सफेद
है, उनके बीच में रहना व्यर्थ है।

देवकी ने रोकर कहा—लल्लू, मैं तुम्हें अब न जाने दूँगी। साधो की आँखें भर आयीं, पर मुस्कुराकर बोला—मैं तो तेरी थाली में खाऊँगा।

देवकी ने उसे ममता और प्रेम की दृष्टि से देखकर कहा—मैंने तो तुझे छाती से दूध पिलाया है, तू मेरी थाली में खायगा तो क्या? मेरा बेटा ही तो है, कोई और तो नहीं हो गया!

साधो इन बातों को सुनकर मतवाला हो गया। इनमें कितना स्नेह, कितना अपनापन था। बोला—माँ, आया तो मैं इसी इरादे से था कि अब कहीं न जाऊँगा, लेकिन बिरादरी ने मेरे कारण यदि तुम्हे जाति-च्युत कर दिया तो मुझसे न सहा जायगा। मुझसे इन गँवारों का कोरा अभिमान न देखा जायगा, इसलिए इस वक्त मुझे जाने दो। जब मुझे अवसर मिला करेगा, तुम्हें देख जाया करूँगा। तुम्हारा प्रेम मेरे चित्त से नहीं जा सकता। लेकिन यह असम्भव है कि मैं इस घर मे रहूँ और अलग खाना खाऊँ, अलग बैठूँ। इसके लिए मुझे क्षमा करना।

देवकी घर में से पानी लायी। साधो हाथ-मुँह धोने लगा। शिवगौरी ने माँ का इशारा पाया तो डरते-डरते साधो के पास गयी। साधो को आदरपूर्वक दण्डवत की। साधो ने पहिले उन दोनों को आश्चर्य से देखा, फिर अपनी माँ को मुस्कराते देखकर समझ गया। दोनों लड़कों को छाती से लगा लिया और तीनों भाई-बहिन प्रेम से हँसने-खेलने लगे। माँ खडी यह दृश्य देखती थी और उमग से फूली न समाती थी।

जलपान करके साधो ने बाईसिकल सँभाली और माँ-बाप के सामने सिर झुकाकर चल खड़ा हुआ। वहीं, जहाँ से तंग होकर आया था, उसी क्षेत्र में जहाँ कोई अपना न था! देवकी फूट-फूटकर रो रही थी और जादोराय आँखों में आँसू भरे, हृदय में एक ऐंठन-सी अनुभव करता हुआ सोचता था, हाय! मेरे लाल, तू मुझसे अलग हुआ जाता है। ऐसा योग्य और होनहार लड़का हाथ से निकला जाता है और केवल इसलिए कि अब हमारा खून सफेद हो गया है।

—०—

गरीब की हाय

(१)

मुशी रामसेवक भौहें चढ़ाये हुए घर से निकले और बोले—इस जीने से तो मरना भला है। मृत्यु को प्रायः इस तरह के जितने निमन्त्रण दिये जाते हैं, यदि वह सबको स्वीकार करती तो आज सारा ससार उजाड़ दिखायी देता।

मुशी रामसेवक चाँदपुर गाँव के एक बड़े रईस थे। रईसों के सभी गुण इनमें भरपूर थे। मानव चरित्र की दुर्बलताएँ उनके जीवन की आधार थीं। वह नित्य मुन्सफी कचहरी के हाते में एक नीम के पेड़ के नीचे कागजों का बस्ता खोले एक टूटी-सी चौकी पर बैठे दिखायी देते थे। किसी ने कभी उन्हें किसी इजलास पर कानूनी बहस या मुकद्दमे की पैरवी करते नहीं देखा। परन्तु उन्हें सब लोग मुख्तार साहब कहकर पुकारते थे। चाहे तूफान आवे, पानी बरसे, ओले गिरें, पर मुख्तार साहब वहाँ से टस-से-मस न होते। जब वह कचहरी चलते तो देहातियों के झुंड-के-झुंड उनके साथ हो लेते। चारों ओर से उन पर विश्वास और आदर की दृष्टि पड़ती। सबमें प्रसिद्ध था कि उनकी जीभ पर 'सरस्वती' बिराजती हैं। इसे वकालत कहो, या मुख्तारी, परन्तु यह केवल कुल-मर्याद की प्रतिष्ठा का पालन था। आमदनी अधिक न होती थी। चाँदी के सिक्कों की तो चर्चा ही क्या, कभी-कभी ताँबे के सिक्के भी निर्भय उनके पास आने में हिचकते थे। मुशीजी की कानूनदानी में कोई सन्देह न था। परन्तु 'पास' के बखेड़े ने उन्हें विवश कर दिया था। खैर जो हो, उनका यह पेशा केवल प्रतिष्ठा-पालन के निमित्त था। नहीं तो उनके निर्वाह का मुख्य साधन आस-पास की अनाथ, पर खाने-पीने में सुखी विधवाओं और भोले-भाले, किन्तु धनी वृद्धों की श्रद्धा थी। विधवाएँ अपना रुपया उनके यहाँ अमानत रखतीं। बूढ़े अपने कपूतों के डर से अपना धन उन्हें सौंप देते। पर रुपया एक बार उनकी मुट्ठी में जाकर फिर निकलना भूल जाता था। वह जरूरत पड़ने पर कभी-कभी कर्ज ले लेते थे। भला बिना कर्ज लिये किसी का काम चल सकता

है ? भोर को साँझ के करार पर रुपया लेते, पर वह साँझ कभी नहीं आती थी। सारांश, मुंशीजी कर्ज लेकर देना सीखे नहीं थे। यह उनकी कुल-प्रथा थी। यही सब मामले बहुधा मुंशीजी के सुख-चैन में विघ्न डालते थे। कानून और अदालत का तो उन्हें कोई डर न था। इस मैदान में उनका सामना करना पानी में मगर से लड़ना था। परन्तु जब कोई दुष्ट उनसे भिड़ जाता, उनकी ईमानदारी पर संदेह करता और उनके मुँह पर बुरा-भला कहने पर उतारू हो जाता, तब मुंशीजी के हृदय पर बड़ी चोट लगती। इस प्रकार की दुर्घटनाएँ प्रायः होती रहती थीं। हर जगह ऐसे ओछे लोग रहते हैं, जिन्हे दूसरों को नीचा दिखाने में ही आनन्द आता है। ऐसे ही लोगों का सहारा पाकर कभी-कभी छोटे आदमी मुंशीजी के मुँह लग जाते थे। नहीं तो, एक कुँजड़िन की इतनी मजाल नहीं थी कि उनके आँगन में जाकर उन्हे बुरा-भला कहे। मुंशीजी उसके पुराने गाहक थे, बरसों तक उससे साग-भाजी ली थी। यदि दाम न दिया तो कुँजड़िन को संतोष करना चाहिए था। दाम जल्दी या देर से मिल ही जाता। परन्तु वह मुँहफट कुँजड़िन दो ही बरसों में घबरा गयी, और उसने कुछ आने पैसों के लिए एक प्रतिष्ठित आदमी का पानी उतार लिया। झुँझलाकर मुंशीजी अपने को मृत्यु का कलेवा बनाने पर उतारू हो गये तो इसमें उनका कुछ दोष न था।

(२)

इसी गाँव में मूँगा नाम की एक विधवा ब्राह्मणी रहती थी। उसका पति ब्रह्मा की काली पल्टन में हवलदार था और लड़ाई में वहीं मारा गया। सरकार की ओर से उसके अच्छे कामों के बदले मूँगा को पाँच सौ रुपये मिले थे। विधवा स्त्री, जमाना नाजुक था, बेचारी ने ये सब रुपये मुंशी रामसेवक को सौंप दिये, और महीने-महीने थोड़ा-थोड़ा उसमें से माँगकर अपना निर्वाह करती रही।

मुंशीजी ने यह कर्त्तव्य कई वर्ष तक तो बड़ी ईमानदारी के साथ पूरा किया। पर जब बूढ़ी होने पर भी मूँगा नहीं मरी और मुंशीजी को यह चिन्ता हुई कि शायद उसमें से आधी रकम भी स्वर्गयात्रा के लिए नहीं छोड़ना चाहती, तो एक दिन उन्होंने कहा—मूँगा! तुम्हें मरना है या नहीं? साफ-

साफ कह दो कि मैं ही अपने मरने की फ़िक्र करूँ। उस दिन मूँगा की आँखें खुलीं, उसकी नींद टूटी, बोली—मेरा हिसाब कर दो। हिसाब का चिट्ठा तैयार था। 'अमानत' में अब एक कौड़ी बाकी न थी। मूँगा ने बड़ी कड़ाई से मुंशीजी का हाथ पकड़ लिया और कहा—अभी मेरे ढाई सौ रुपये तुमने दबा रखे हैं। मैं एक कौड़ी भी न छोड़ूँगी।

परन्तु अनाथों का क्रोध पटाखे की आवाज़ है, जिससे बच्चे डर जाते हैं और असर कुछ नहीं होता। अदालत में उसका कुछ ज़ोर न था। न लिखा-पढ़ी थी, न हिसाब-किताब। हाँ, पचायत से कुछ आसरा था। पचायत बैठी; कई गाँव के लोग इकट्ठे हुए। मुशीजी नीयत और मामले के साफ थे। सभा में खड़े होकर पचों से कहा—

'भाइयो! आप सब लोग सत्यपरायण और कुलीन हैं। मैं आप सब साहबों का दास हूँ। आप सब साहबों की उदारता और कृपा से, दया और प्रेम से, मेरा रोम-रोम कृतज्ञ है। क्या आप लोग सोचते हैं कि मैं इस अनाथिनी और विधवा स्त्री के रुपये हड़प कर गया हूँ।'

पचों ने एक स्वर से कहा—नहीं, नहीं! आपसे ऐसा नहीं हो सकता।

रामसेवक—यदि आप सब सज्जनों का विचार हो कि मैंने रुपये दबा लिये, तो मेरे लिए डूब मरने के सिवा और कोई उपाय नहीं। मैं धनाढ्य नहीं हूँ, न मुझे उदार होने का घमण्ड है। पर अपनी कलम की कृपा से, आप लोगों की कृपा से किसी का मुहताज नहीं हूँ। क्या मैं ऐसा ओछा हो जाऊँगा कि एक अनाथिनी के रुपये पचा लूँ?

पचों ने एक स्वर से फिर कहा—नहीं नहीं, आप से ऐसा नही हो सकता।

मुँह देखकर टीका काढा जाता है। पचों ने मुंशीजी को छोड़ दिया। पंचायत उठ गयी। मूँगा ने आह भरकर सन्तोष किया और मन में कहा—अच्छा! यहाँ न मिला तो न सही, वहाँ कहाँ जायगा।

(३)

अब कोई मूँगा का दुःख सुननेवाला और सहायक न था। दरिद्रता से जो कुछ दुःख भोगने पड़ते हैं, वह सब उसे झेलने पड़े। वह शरीर से पुष्ट थी, चाहती तो परिश्रम कर सकती थी। पर जिस दिन पंचायत पूरी हुई, उसी दिन से उसने

काम करने की कसम खा ली। अब उसे रात दिन रुपयों की रट लगी रहती। उठते-बैठते, सोते-जागते उसे केवल एक काम था, और वह मुंशी रामसेवक का भला मनाना। झोंपड़े के दरवाजे पर बैठी हुई रात-दिन, उन्हें सच्चे मन से असीसा करती। बहुधा अपनी असीस के वाक्यों में ऐसे कविता के भाव और उपमाओं का व्यवहार करती कि लोग सुनकर अचम्भे में आ जाते। धीरे-धीरे मूँगा पगली हो चली। नगे सिर, नंगे शरीर, हाथ में एक कुल्हाड़ी लिये हुए सुनसान स्थानों में जा बैठती। झोंपड़े के बदले अब वह मरघट पर, नदी के किनारे खण्डहरों में घूमती दिखायी देती। बिखरी हुई लटें, लाल-लाल आँखें, पागलों-सा चेहरा, सूखे हुए हाथ-पाँव। उसका यह स्वरूप देखकर लोग डर जाते थे। अब कोई उसे हँसी में भी नहीं छेड़ता। यदि वह कभी गाँव में निकल आती तो स्त्रियाँ घरों के किवाड़ बन्द कर लेतीं। पुरुष कतराकर इधर-उधर से निकल जाते और बच्चे चीख मारकर भागते। यदि कोई लड़का भागता न था तो वह मुंशी रामसेवक का सुपुत्र रामगुलाम था। बाप में जो कुछ कोर-कसर रह गयी थी, वह बेटे में पूरी हो गयी थी। लड़कों का उसके मारे नाक में दम था। गाँव के काने और लँगड़े आदमी उसकी सूरत से चिढ़ते थे। और गालियाँ खाने में तो शायद ससुराल में आनेवाले दामाद को भी इतना आनन्द न आता हो। वह मूँगा के पीछे तालियाँ बजाता, कुत्तों को साथ लिये हुए उस समय तक रहता जब तक वह बेचारी तग आकर गाँव से निकल न जाती। रुपया-पैसा, होश-हवाश खोकर उसे पगली की पदवी मिली। और अब वह सचमुच पगली थी। अकेली बैठी अपने आप घंटों बातें किया करती। जिसमें राम-सेवक के मांस, हड्डी, चमड़े, आँखें, कलेजा आदि को खाने, मसलने, नोचने-खसोटने की बड़ी उत्कट इच्छा प्रकट की जाती थी और जब उसकी यह इच्छा सीमा तक पहुँच जाती तो वह रामसेवक के घर की ओर मुँह करके खूब चिल्लाकर और डरावने शब्दों में हाँक लगाती—तेरा लहू पीऊँगी।

प्रायः रात के सन्नाटे में यह गरजती हुई आवाज सुनकर स्त्रियाँ चौंक पड़तीं थीं। परन्तु इस आवाज़ से भयानक उसका ठठाकर हँसना था। मुंशीजी के लहू पीने की कल्पित खुशी में वह जोर से हँसा करती थी। इस ठठाने से ऐसी आसुरिक उद्दण्डता, ऐसी पाशविक उग्रता टपकती थी कि रात को सुनकर लोगों

का खून ठंडा हो जाता था। मालूम होता, मानों सैकड़ों उल्लू एक साथ हँस रहे हैं। मुंशी रामसेवक बड़े हौसले और कलेजे के आदमी थे। न उन्हें दीवानी का डर था, न फौजदारी का, परन्तु मूँगा के इन डरावने शब्दों को सुन वह भी सहम जाते। हमें मनुष्य के न्याय का डर न हो, परन्तु ईश्वर के न्याय का डर प्रत्येक मनुष्य के मन में स्वभाव से रहता है। मूँगा का भयानक रात का घूमना, रामसेवक के मन में कभी-कभी ऐसी ही भावना उत्पन्न कर देता—उनसे अधिक उनकी स्त्री के मन में। उनकी स्त्री बड़ी ही चतुर थी। वह उनको इन सब बातों में प्रायः सलाह दिया करती थी। उन लोगों की भूल थी, जो लोग कहते थे कि मुंशीजी की जीभ पर सरस्वती विराजती हैं। यह गुण तो उनकी स्त्री को प्राप्त था। बोलने में वह इतनी ही तेज थी, जितना मुंशीजी लिखने में थे। और यह दोनों स्त्री-पुरुष प्रायः अपनी अवश दशा में सलाह करते कि, अब क्या करना चाहिए।

(४)

आधी रात का समय था। मुंशीजी नित्य नियम के अनुसार अपनी चिन्ता दूर करने के लिए शराब के दो-चार घूँट पीकर सो गये थे। यकायक मूँगा ने उनके दरवाजे पर आकर ज़ोर से हाँक लगायी, 'तेरा लहू पीऊँगी' और खूब खिलखिलाकर हँसी।

मुंशीजी यह भयावना ठहाका सुनकर चौंक पड़े। डर के मारे पैर थर-थर काँपने लगे। कलेजा धक-धक करने लगा। दिल पर बहुत जोर डालकर उन्होंने दरवाजा खोला, जाकर नागिन को जगाया। नागिन ने झुँझलाकर कहा—क्या है, क्या कहते हो?

मुंशीजी ने दबी आवाज से कहा—वह दरवाजे पर आकर खड़ी है।

नागिन उठ बैठी—क्या कहती है?

'तुम्हारा सिर।'

'क्या दरवाजे पर आ गयी?'

'हाँ, आवाज़ नहीं सुनती हो।'

नागिन मूँगा से नहीं, परन्तु उसके ध्यान से बहुत डरती थी, तो भी उसे

विश्वास था कि मैं बोलने में उसे जरूर नीचा दिखा सकती हूँ। सँभलकर बोली—कहो तो मैं उससे दो-दो बातें कर लूँ; परन्तु मुंशीजी ने मना किया।

दोनों आदमी पैर दबाए हुए ड्योढ़ी में गये और दरवाजे से झाँक कर देखा, मूँगा की धुँधली मूरत धरती पर पड़ी थी और उसकी साँस तेजी से चलती सुनायी देती थी। रामसेवक के लहू और मास की भूख में वह अपना लहू और मास सुखा चुकी थी। एक बच्चा भी उसे गिरा सकता था; परन्तु उससे सारा गाँव थर-थर काँपता। हम जीते मनुष्य से नहीं डरते, पर मुर्दे से डरते हैं। रात गुजरी। दरवाजा बन्द था; पर मुंशीजी और नागिन ने बैठकर रात काटी। मूँगा भीतर नहीं घुस सकती थी, पर उसकी आवाज को कौन रोक सकता था। मूँगा से अधिक डरावनी उसकी आवाज थी।

भोर को मुंशीजी बाहर निकले और मूँगा से बोले—यहाँ क्यों पड़ी है?

मूँगा बोली—तेरा लहू पीऊँगी।

नागिन ने बल खाकर कहा—तेरा मुँह झुलस दूँगी।

पर नागिन के विष ने मूँगा पर कुछ असर न किया। उसने जोर से ठहाका लगाया, नागिन खिसियानी-सी हो गयी। हँसी के सामने मुँह बन्द हो जाता है। मुंशीजी फिर बोले—यहाँ से उठ जा।

'न उठूँगी।'

'कब तक पड़ी रहेगी?'

'तेरा लहू पीकर जाऊँगी।'

मुंशीजी की प्रखर लेखनी का यहाँ कुछ जोर न चला और नागिन की आग-भरी बातें यहाँ सर्द हो गयीं। दोनों घर में जाकर सलाह करने लगे, यह बला कैसे टलेगी। इस आपत्ति से कैसे छुटकारा होगा।

देवी आती है तो बकरे का खून पीकर चली जाती है; पर यह डाइन मनुष्य का खून पीने आयी है। वह खून, जिसकी अगर एक बूँद भी कलम बनाने के समय निकल पड़ती थी, तो अठवारों और महीनों सारे कुनबे को अफसोस रहता, और यह घटना गाँव में घर-घर फैल जाती थी। क्या यही लहू पीकर मूँगा का सूखा शरीर हरा हो जायगा?

गाँव में यह चर्चा फैल गयी, मूँगा मुंशीजी के दरवाजे पर धरना दिये बैठी

है। मुशीजी के अपमान में गाँववालों को बड़ा मजा आता था। देखते-देखते सैकडों आदमियों की भीड लग गयी। इस दरवाजे पर कभी-कभी भीड़ लगी रहती थी। यह भीड़ रामगुलाम को पसन्द न थी। मूँगा पर उसे ऐसा क्रोध आ रहा था कि यदि उसका बस चलता तो वह उसे कुएँ में ढकेल देता। इस तरह का विचार उठते ही रामगुलाम के मन में गुदगुदी समा गयी, और वह बड़ी कठिनता से अपनी हँसी रोक सका! अहा! वह कुएँ में गिरती तो क्या मजे की बात होती। परन्तु यह चुड़ैल यहाँ से टलती ही नहीं, क्या करूँ! मुशीजी के घर में एक गाय थी, जिसे खली, दाना और भूसा तो खूब खिलाया जाता, पर वह सब उसकी हड्डियों में मिल जाता, उसका ढाँचा पुष्ट होता जाता था। रामगुलाम ने उसी गाय का गोबर एक हाँड़ी में घोला और सब-का-सब बेचारी मूँगा पर उड़ेल दिया। उसके थोड़े बहुत छींटे दर्शकों पर भी डाल दिये। बेचारी मूँगा लदफद हो गयी और लोग भाग खडे हुए। कहने लगे, यह मुंशी रामगुलाम का दरवाजा है। यहाँ इसी प्रकार का शिष्टाचार किया जाता है। जल्द भाग चलो। नहीं तो अबके इससे भी बढकर खातिर की जायगी। इधर भीड़ कम हुई, उधर रामगुलाम घर में जाकर खूब हँसा और खूब तालियाँ बजायीं। मुंशीजी ने इस व्यर्थ की भीड को ऐसे सहज में और ऐसे सुन्दर रूप से हटा देने के उपाय पर अपने सुशील लडके की पीठ ठोंकी। सब लोग तो चम्पत हो गये। पर बेचारी मूँगा ज्यों-की-त्यों बैठी रह गयी।

दोपहर हुई। मूँगा ने कुछ नहीं खाया। साँझ हुई। हजार कहने-सुनने से भी उसने खाना नहीं खाया। गाँव के चौधरी ने बड़ी खुशामद की। यहाँ तक कि मुंशीजी ने हाथ तक जोड़े, पर देवी प्रसन्न न हुई। निदान मुंशीजी उठकर भीतर चले गये। वह कहते थे कि रूठनेवाले को भूख आप ही मना लिया करती है। मूँगा ने यह रात भी बिना दाना-पानी के काट दी। लालाजी और ललाइन ने आज फिर जाग-जागकर भोर किया। आज मूँगा की गरज और हँसी बहुत कम सुनायी पड़ती थी। घरवालों ने समझा, बला टली। सवेरा होते ही जो दरवाजा खोलकर देखा, तो वह अचेत पड़ी थी, मुँह पर मक्खियाँ भिनभिना रही हैं और उसके प्राणपखेरू उड चुके हैं। वह इस दरवाजे पर मरने ही आयी थी। जिसने उसके जीवन की जमापूँजी हर ली थी, उसी को

अपनी जान भी सौंप दी। अपने शरीर की मिट्टी तक उसकी भेंट कर दी। धन से मनुष्य को कितना प्रेम होता है। धन अपनी जान से भी ज्यादा प्यारा होता है, विशेषकर बुढापे में। ऋण चुकाने के दिन ज्यों-ज्यों पास आते जाते हैं, त्यों-त्यों उसका ब्याज बढ़ता जाता है।

यह कहना यहाँ व्यर्थ है कि गाँव में इस घटना से कैसी हलचल मची और मुंशी रामसेवक कैसे अपमानित हुए। एक छोटे से गाँव में ऐसी असाधारण घटना होने पर जितनी हलचल हो सकती, उससे अधिक ही हुई। मुंशीजी का अपमान जितना होना चाहिए था, उससे बाल बराबर भी कम न हुआ। उनका बचा-खुचा पानी भी इस घटना से चला गया। अब गाँव का चमार भी उनके हाथ का पानी पीने का, उन्हें छूने का रवादार न था। यदि किसी घर में कोई गाय खूँटे पर मर जाती है तो वह आदमी महीनों द्वार-द्वार भीख माँगता फिरता है। न नाई उसकी हजामत बनावे, न कहार उसका पानी भरे, न कोई उसे छूए। यह गोहत्या का प्रायश्चित्त! ब्रह्महत्या का दण्ड तो इससे भी कड़ा है और इसमे अपमान भी बहुत है। मूँगा यह जानती थी और इसी लिए इस दरवाजे पर आकर मरी थी। वह जानती थी कि मैं जीते-जी जो कुछ नहीं कर सकती, मरकर उससे बहुत कुछ कर सकती हूँ। गोबर का उपला जब जलकर खाक हो जाता है, तब साधु-सन्त उसे माथे पर चढ़ाते हैं। पत्थर का ढेला आग मे जलकर आग से अधिक तीखा और मारक हो जाता है।

(५)

मुंशी रामसेवक कानूनदाँ थे। कानून ने उन पर कोई दोष नहीं लगाया था। मूँगा किसी कानूनी दफा के अनुसार नहीं मरी थी। ताजिरात हिन्द मे उसका कोई उदाहरण नहीं मिलता था। इसलिए जो लोग उनसे प्रायश्चित्त करवाना चाहते थे, उनकी भारी भूल थी। कुछ हर्ज नहीं, कहार पानी न भरे, न सही, वह आप पानी भर लेंगे। अपना काम आप करने में भला लाज ही क्या? बला से नाई बाल न बनावेगा। हजामत बनाने का काम ही क्या है? दाढ़ी बहुत सुन्दर वस्तु है। दाढ़ी मर्द की शोभा और सिङ्गार है। और जो फिर बालों से ऐसी घिन होगी तो एक-एक आने में तो अस्तूरे मिलते हैं। धोबी कपड़े न धोवेगा, इसको भी कुछ परवा नहीं। साबुन तो गली-गली कौड़ियों

के मोल आता है। एक बट्टी साबुन में दरजनों कपड़े ऐसे साफ हो जाते हैं जैसे बगुले के पर। धोबी क्या खाकर ऐसा साफ कपड़ा धोवेगा ! पत्थर पर पटक-पटककर कपड़ों का लत्ता निकाल लेता है। आप पहने, दूसरे को भाड़े पर पहनावे, भट्ठी में चढ़ावे, रेह में भिगावे, कपड़ों की तो दुर्गति कर डालता है। जभी तो कुरते दो-तीन साल से अधिक नहीं चलते। नहीं तो दादा हर पाँचवें बरस दो अचकन और दो कुरते बनवाया करते थे। मुंशी रामसेवक और उनकी स्त्री ने दिन भर तो यों ही कहकर अपने मन का समझाया। साँझ होते ही उनकी तर्कनाएँ शिथिल हो गयीं।

अब उनके मन पर भय ने चढ़ाई की। जैसे-जैसे रात बीतती थी, भय भी बढ़ता जाता था। बाहर का दरवाजा भूल से खुला रह गया था, पर किसी की हिम्मत न पड़ती थी कि जाकर बन्द तो कर आवे। निदान नागिन ने हाथ में दीया लिया। मुंशीजी ने कुल्हाड़ा, रामगुलाम ने गड़ासा, इस ढङ्ग से तीनों चौंकते-हिचकते दरवाजे पर आये। यहाँ मुंशीजी ने बड़ी बहादुरी से काम लिया। उन्होंने निधड़क दरवाजे से बाहर निकलने की कोशिश की। काँपते हुए, पर ऊँची आवाज से नागिन से बोले—तुम व्यर्थ डरती हो, वह क्या यहाँ बैठी है ? पर उनकी प्यारी नागिन ने उन्हें अन्दर खींच लिया और झुँझला-कर बोली—तुम्हारा यही लड़कपन तो अच्छा नहीं। यह दङ्गल जीतकर तीनों आदमी रसोई के कमरे में आये और खाना पकने लगा।

परन्तु मूँगा उनकी आँखों में घुसी हुई थी। अपनी परछाहीं को देखकर मूँगा का भय होता था। अन्धेरे कोनों में मूँगा बैठी मालूम होती थी। वही हड्डियों का ढाँचा, वही बिखरे हुए बाल, वही पागलपन, वही डरावनी आँखें, मूँगा का नख-सिख दिखायी देता था। इसी कोठरी में आटे-दाल के कई मटके रखे हुए थे, वहीं कुछ पुराने चिथड़े भी पड़े हुए थे। एक चूहे को भूख ने बेचैन किया (मटकों ने कभी अनाज की सूरत नहीं देखी थी, पर सारे गाँव में मशहूर था कि इस घर के चूहे गजब के डाकू हैं) तो वह उन दानों की खोज में जो मटकों से कभी नहीं गिरे थे, रेंगता हुआ इस चिथड़े के नीचे आ निकला। कपड़े में खड़खड़ाहट हुई। फैले हुए चिथड़े मूँगा की पतली टाँगें बन गयीं, नागिन देखकर झिझकी और चीख उठी। मुंशीजी बदहवास होकर दरवाजे

की ओर लपके, रामगुलाम दौड़कर इनकी टाँगों से लिपट गया। चूहा बाहर निकल आया। उसे देखकर इन लोगों के होश ठिकाने हुए। अब मुंशीजी साहस करके मटके की ओर चले। नागिन ने कहा—रहने भी दो, देख ली तुम्हारी मरदानगी।

मुंशीजी अपनी प्रिया नागिन के इस अनादर पर बहुत बिगड़े। क्या तुम समझती हो, मैं डर गया? भला डर की क्या बात थी! मूँगा मर गयी। क्या वह बैठी है? मैं कल नहीं दरवाजे के बाहर निकल गया था—तुम रोकती रही, मैं न माना।

मुंशीजी की इस दलील ने नागिन को निरुत्तर कर दिया। कल दरवाजे के बाहर निकल जाना या निकलने की कोशिश करना साधारण काम न था। जिसके साहस का ऐसा प्रमाण मिल चुका है, उसे डरपोक कौन कह सकता है? यह नागिन की हठधर्मी थी।

खाना खाकर तीनों आदमी सोने के कमरे में आये; परन्तु मूँगा ने यहाँ भी पीछा न छोड़ा। बातें करते थे, दिल को बहलाते थे। नागिन ने राजा हरदौल और रानी सारन्धा की कहानियाँ कहीं। मुंशीजी ने फौजदारी के कई मुकद्दमों का हाल कह सुनाया। परन्तु तो भी इन उपायों से भी मूँगा की मूर्त्ति उनकी आँखों के सामने से न हटती थी। जरा भी खटखटाहट होती कि तीनों चौंक पड़ते। इधर पत्तियों में सनसनाहट हुई कि उधर तीनों के रोंगटे खड़े हो गये। रह-रहकर एक धीमी आवाज धरती के भीतर से उनके कानों में आती थी—'तेरा लहू पीऊँगी।'

आधी रात को नागिन नींद से चौंक पड़ी। वह इन दिनों गर्भवती थी। लाल-लाल आँखोंवाली तेज और नोकीले दाँतोंवाली मूँगा उसकी छाती पर बैठी हुई जान पड़ती थी। नागिन चीख उठी। बावली की तरह आँगन में भाग आयी और यकायक धरती पर चित गिर पड़ी। सारा शरीर पसीने-पसीने हो गया। मुंशीजी भी उसकी चीख सुनकर चौंके, पर डर के मारे आँखें न खुलीं। अन्धों की तरह दरवाजा टटोलते रहे। बहुत देर के बाद उन्हें दरवाजा मिला। आँगन में आये। नागिन ज़मीन पर पड़ी हाथ-पाँव पटक रही थी। उसे उठाकर भीतर लाये, पर रात भर उसने आँखें न खोलीं। भोर को अक-बक

बकने लगी। थोडी देर में ज्वर हो आया। बदन लाल तवा-सा हो गया। साँझ होते-होते उसे सन्निपात हो गया और आधी रात के समय जब ससार में सन्नाटा छाया हुआ था, नागिन इस संसार से चल बसी। मूँगा के डर ने उसकी जान ली। जब तक मूँगा जीती रही, वह नागिन की फुफकार से सदा डरती रही। पगली होने पर भी उसने कभी नागिन का सामना नहीं किया; पर अपनी जान देकर उसने आज नागिन की जान ली। भय में बड़ी शक्ति है। मनुष्य हवा में एक गिरह भी नहीं लगा सकता, पर इसने हवा में एक ससार रच डाला है।

रात बीत गयी। दिन चढता आता था, पर गाँव का कोई आदमी नागिन की लाश उठाने को आता न दिखायी दिया। मुशीजी घर-घर घूमे, पर कोई न निकला। भला हत्यारे के दरवाजे पर कौन जाय? हत्यारे की लाश कौन उठावे? इस समय मुंशीजी का रोब-दाब, उनकी प्रबल लेखनी का भय और उनकी कानूनी प्रतिभा एक भी काम न आयी। चारों ओर से हारकर मुशीजी फिर अपने घर आये। यहाँ उन्हें अन्धकार-ही-अन्धकार दीखता था। दरवाजे तक तो आये, पर भीतर पैर नहीं रखा जाता था। न बाहर ही खडे रह सकते थे। बाहर मूँगा थी, भीतर नागिन। जी को कडा करके 'हनुमानचालीसा' का पाठ करते हुए घर में घुसे। उस समय उनके मन पर जो बीतती थी, वही जानते थे। उसका अनुमान करना कठिन है। घर में लाश पडी हुई; न कोई आगे, न पीछे। दूसरा ब्याह तो हो सकता था। अभी इसी फागुन में तो पचासवाँ लगा है, पर ऐसी सुयोग्य और मीठी बोलीवाली स्त्री कहाँ मिलेगी? अफसोस! अब तगादा करनेवालों से बहस कौन करेगा, कौन उन्हें निरुत्तर करेगा? लेन-देन का हिसाब-किताब कौन इतनी खूबी से करेगा? किसकी कडी आवाज तीर की तरह तगादेदारों की छाती में चुभेगी? यह नुकसान अब पूरा नहीं हो सकता। दूसरे दिन मुशीजी लाश को एक ठेलेगाडी पर लादकर गगाजी की तरफ चले।

(६)

शव के साथ जानेवालों की सख्या कुछ भी न थी। एक स्वय मुशीजी, दूसरे उनके पुत्ररत्न रामगुलामजी! इस बेइज्ज़ती से मूँगा की लाश भी नहीं उठी थी।

मूँगा ने नागिन की जान लेकर भी मुंशीजी का पिण्ड न छोड़ा। उनके मन में हर घड़ी मूँगा की मूर्ति विराजमान रहती थी। कहीं रहते, उनका ध्यान इसी ओर रहा करता था। यदि दिल-बहलाव का कोई उपाय होता तो शायद वह इतने बेचैन न होते, पर गाँव का एक पुतला भी उनके दरवाजे की ओर न झाँकता था। बेचारे अपने हाथों पानी भरते, आप ही बरतन धोते। सोच और क्रोध, चिन्ता और भय, इतने शत्रुओं के सामने एक दिमाग कब तक ठहर सकता था। विशेषकर वह दिमाग जो रोज कानून की बहसों में खर्च हो जाता था।

अकेले कैदी की तरह उनके दस-बारह दिन तो ज्यों-त्यों कर कटे। चौदहवें दिन मुंशीजी ने कपड़े बदले और बोरिया-बस्ता लिये हुए कचहरी चले। आज उनका चेहरा कुछ खिला हुआ था। जाते ही मेरे मुवक्किल मुझे घेर लेंगे। मेरी मातमपुर्सी करेंगे। मैं आँसुओं की दो-चार बूँदें गिरा दूँगा। फिर बैनामों, रेहननामों और सुलहनामों की भरमार हो जायगी। मुट्ठी गरम होगी। शाम को ज़रा नशेपानी का रंग जम जायगा, जिसके छूट जाने से जी और भी उचाट हो रहा था। इन्हीं विचारों में मग्न मुंशीजी कचहरी पहुँचे।

पर वहाँ रेहननामों की भरमार और बैनामों की बाढ़ और मुवक्किलों की चहल-पहल के बदले निराशा की रेतीली भूमि नज़र आयी। बस्ता खोले घटों बैठे रहे, पर कोई नजदीक भी न आया। किसी ने इतना भी न पूछा कि आप कैसे हैं! नये मुवक्किल तो खैर, बडे-बड़े पुराने मुवक्किल, जिनका मुंशीजी से कई पीढ़ियों से सरोकार था, आज उनसे मुँह छिपाने लगे। वह नालायक और अनाड़ी रमजान, जिसकी मुंशीजी हँसी उड़ाते थे और जिसे शुद्ध लिखना भी न आता था, आज गोपियों में कन्हैया बना हुआ था। वाहरे भाग्य! मुवक्किल यों मुँह फेरे चले जाते हैं मानों कभी की जान-पहचान ही नहीं। दिन भर कचहरी की खाक छानने के बाद मुंशीजी घर चले। निराशा और चिन्ता में डूबे हुए ज्यों-ज्यों घर के निकट आते थे, मूँगा का चित्र सामने आता जाता था। यहाँ तक कि जब घर का द्वार खोला और दो कुत्ते, जिन्हें रामगुलाम ने बन्द कर रखा था, झपटकर बाहर निकले तो मुशीजी के होश उड़ गये, एक चीख मारकर जमीन पर गिर पडे।

मनुष्य के मन और मस्तिष्क पर भय का जितना प्रभाव होता है उतना और किसी शक्ति का नहीं। प्रेम, चिन्ता, निराशा, हानि, यह सब मन को अवश्य दुःखित करते हैं, पर यह हवा के हलके झोंके हैं और भय प्रचण्ड आँधी है। मुशीजी पर इसके बाद क्या बीती, मालूम नहीं। कई दिनों तक लोगों ने उन्हें कचहरी जाते और वहाँ से मुरझाये हुए लौटते देखा। कचहरी जाना उनका कर्त्तव्य था, और यद्यपि वहाँ मुवक्किलों का अकाल था, तो भी तगादेवालों से गला छुड़ाने और उनको भरोसा दिलाने के लिए अब यही एक लटका रह गया था। इसके बाद वह कई महीने तक देख न पड़े। बद्री-नाथ चले गये। एक दिन गाँव में एक साधु आया। भभूत रमाये, लम्बी जटायें, हाथ में कमण्डल। उसका चेहरा मुशी रामसेवक से बहुत मिलता-जुलता था। बोल-चाल में भी अधिक भेद न था। वह एक पेड़ के नीचे धूनी रमाये बैठा रहा। उसी रात को मुंशो रामसेवक के घर से धुआँ उठा, फिर आग की ज्वाला दीखने लगी और आग भड़क उठी। गाँव के सैकड़ों आदमी दौड़े। आग बुझाने के लिए नहीं, तमाशा देखने के लिये। एक—

गरीब की हाय

में कितना प्रभाव है। रामगुलाम मुंशीजी के गायब हो जाने पर अपने मामा के यहाँ चला गया और वहाँ कुछ दिनों रहा। पर वहाँ उसकी चाल-ढाल किसी को पसन्द न आयी।

एक दिन उसने किसी के खेत में मूली नोची। उसने दो चार धौल लगाये। उस पर वह इस कदर बिगड़ा कि जब उसके चने खलिहान में आये तो उसने आग लगा दी। सारा-का-सारा खलिहान जलकर खाक हो गया। हजारों रुपयों का नुकसान हुआ। पुलिस ने तहक़ीकात की, रामगुलाम पकड़ा गया। इसी अपराध मे वह चुनार के रिफार्मेटरी स्कूल में मौजूद है।

—०—

बेटी का धन

(१)

बेतवा नदी दो ऊँचे करारों के बीच इस तरह मुँह छिपाये हुए थी जैसे निर्मल हृदयों में साहस और उत्साह की मध्यम ज्योति छिपी रहती है। इसके एक करार पर एक छोटा-सा गाँव बसा है जो अपने भग्न जातीय चिह्नों के लिए बहुत ही प्रसिद्ध है। जातीय गाथाओं और चिह्नों पर मर मिटनेवाले लोग इस भग्न स्थान पर बड़े प्रेम और श्रद्धा के साथ आते और गाँव का बूढ़ा केवट सुक्खू चौधरी उन्हें उसकी परिक्रमा कराता और रानी के महल, राजा का दरबार और कुँअर के बैठक के मिटे हुए चिह्नों को दिखाता। वह एक उच्छ्वास लेकर रुँधे हुए गले से कहता—महाशय! एक वह समय था कि केवटों को मछलियों के इनाम में अशर्फियाँ मिलती थीं। कहार महल में झाड़ू देते हुए अशर्फियाँ बटोर ले जाते थे। बेतवा नदी रोज बढ़कर महाराज के चरण छूने आती थी। यह प्रताप और यह तेज था, परन्तु आज इसकी यह दशा है। इन सुन्दर उक्तियों पर किसी का विश्वास जमाना चौधरी के वश की बात न थी, पर सुननेवाले उसकी सहृदयता तथा अनुराग के जरूर कायल हो जाते थे।

सुक्खू चौधरी उदार पुरुष थे, परन्तु जितना बड़ा मुँह था उतना बड़ा ग्रास न था। तीन लड़के, तीन बहुएँ और कई पौत्र-पौत्रियाँ थीं। लड़की केवल एक गंगाजली थी, जिसका अभी तक गौना नहीं हुआ था। चौधरी की यह सबसे पिछली सन्तान थी। स्त्री के मर जाने पर उसने इसको बकरी का दूध पिला-पिलाकर पाला था। परिवार में खानेवाले तो इतने थे, पर खेती सिर्फ एक हल की होती थी। ज्यों-त्योंकर निर्वाह होता था, परन्तु सुक्खू की वृद्धावस्था और पुरातत्व-ज्ञान ने उसे गाँव में यह मान और प्रतिष्ठा प्रदान कर रक्खी थी, जिसे देखकर झगड़ू साहु भीतर-ही-भीतर जलते थे। सुक्खू जब गाँववालों के समक्ष, हाकिमों से हाथ फैला-फैलाकर बातें करने लगता और खँडहरों को घुमा-फिराकर दिखाने लगता था तो झगड़ू साहु—जो चपरासियों के धक्के खाने के

डर से क़रीब नहीं फटकते थे—तड़प-तड़पकर रह जाते थे। अतः वे सदा उस शुभ अवसर की प्रतीक्षा करते रहते थे, जब सुक्खू पर अपने धन द्वारा प्रभुत्व जमा सकें।

(२)

इस गाँव के जमींदार ठाकुर जीतनसिंह थे, जिनकी बेगार के मारे गाँववालों का नाकों दम था। उस साल जब जिला मजिस्ट्रेट का दौरा हुआ और वह यहाँ के पुरातन चिह्नों की सैर करने के लिए पधारे, तो सुक्खू चौधरी ने दबी जबान से अपने गाँववालों की दुःख-कहानी उन्हें सुनायी। हाकिमों से वार्त्तालाप करने में उसे तनिक भी भय न होता था। सुक्खू चौधरी को खूब मालूम था कि जीतनसिंह से रार मचाना सिंह के मुँह में सिर देना है। किन्तु जब गाँववाले कहते थे कि चौधरी तुम्हारी ऐसे-ऐसे हाकिमों से मिताई है और हम लोगों को रात-दिन रोते कटता है तो फिर तुम्हारी यह मित्रता किस दिन काम आवेगी। 'परोपकाराय सताम् विभूतयः।' तब सुक्खू का मिज़ाज आसमान पर चढ़ जाता था। घड़ी भर के लिए वह जीतनसिंह को भूल जाता था। मजिस्ट्रेट ने जीतनसिंह से इसका उत्तर माँगा। उधर झगड़ू साहु ने चौधरी के इस साहस-पूर्ण स्वामीद्रोह की रिपोर्ट जीतनसिंह को दी। ठाकुर साहब जलकर आग हो गये। अपने कारिन्दे से बक़ाया लगान की वही माँगी। सयोगवश चौधरी के जिम्मे इस साल का कुछ लगान बाकी था। कुछ तो पैदावार कम हुई, उस पर गंगाजली का ब्याह करना पड़ा। छोटी बहू नथ की रट लगाये हुए थी, वह बनवानी पड़ी। इन सब खर्चों ने हाथ बिलकुल खाली कर दिया था। लगान के लिए कुछ अधिक चिन्ता नहीं थी। वह इस अभिमान में भूला हुआ था कि जिस जबान में हाकिमों के प्रसन्न करने की शक्ति है, क्या वह ठाकुर साहब को अपना लक्ष्य न बना सकेगी? बूढे चौधरी इधर तो अपने गर्व में निश्चिन्त थे और उधर उन पर बक़ाया लगान की नालिश ठुक गयी। सम्मन आ पहुँचा। दूसरे दिन पेशी की तारीख पड़ गयी। चौधरी को अपना जादू चलाने का अवसर न मिला।

जिन लोगों के बढावे में आकर सुक्खू ने ठाकुर से छेड़छाड़ की थी, उनका दर्शन मिलना दुर्लभ हो गया। ठाकुर साहब के सहने और प्यादे गाँव में चील

की तरह मँडराने लगे। उनके भय से किसी को चौधरी की परछाहीं काटने का साहस न होता था। कचहरी यहाँ से तीन मील पर थी। बरसात के दिन, रास्ते में ठौर-ठौर पानी, उमड़ी हुई नदियाँ, रास्ता कच्चा, बैलगाड़ी का निवाह नहीं, पैरों में बल नहीं, अतः अदमपैरवी में मुकदमा एक तरफा फैसल हो गया।

(३)

कुर्की का नोटिस पहुँचा तो चौधरी के हाथ-पाँव फूल गये। सारी चतुराई भूल गयी। चुपचाप अपनी खाट पर पड़ा-पड़ा नदी की ओर ताकता और अपने मन में कहता, क्या मेरे जीते-ही-जी घर मिट्टी में मिल जायगा। मेरे इन बैलों की सुन्दर जोड़ी के गले में आह! क्या दूसरों का जुआ पड़ेगा? यह सोचते-सोचते उसकी आँखें भर आतीं। वह बैलों से लिपटकर रोने लगता, परन्तु बैलों की आँखों से क्यों आँसू जारी था? वे नाँद में मुँह क्यों नहीं डालते थे। क्या उनके हृदय पर भी अपने स्वामी के दुःख की चोट पहुँच रही थी!

फिर वह अपने झोंपड़े को विकल नयनों से निहार कर देखता। और मन में सोचता, क्या हमको इस घर से निकलना पड़ेगा? यह पूर्वजों की निशानी क्या हमारे जीते-जी छिन जायगी?

कुछ लोग परीक्षा में दृढ़ रहते हैं और कुछ लोग इसकी हल्की आँच भी नहीं सह सकते। चौधरी अपनी खाट पर उदास पड़े घण्टों अपने कुलदेव महावीर और महादेव को मनाया और उनका गुण गाया करता। उसकी चिन्तादग्ध आत्मा को और कोई सहारा न था।

इसमें कोई सन्देह न था कि चौधरी की तीनों बहुओं के पास गहने थे, पर स्त्री का गहना ऊख का रस है, जो पेरने ही से निकलता है। चौधरी जाति का ओछा, पर स्वभाव का ऊँचा था। उसे ऐसी नीच बात बहुओं से कहते सङ्कोच होता था। कदाचित् यह नीच विचार उसके हृदय में उत्पन्न ही नहीं हुआ था, किन्तु तीनों बेटे यदि ज़रा भी बुद्धि से काम लेते तो बूढ़े को देवताओं की शरण लेने की आवश्यकता न होती। परन्तु यहाँ तो बात ही निराली थी। बड़े लड़के को घाट के काम से फ़ुरसत न थी। बाकी दो लड़के इस जटिल प्रश्न को विचित्र रूप से हल करने के मन्सूबे बाँध रहे थे।

डर से क़रीब नहीं फटकते थे—तड़प-तड़पकर रह जाते थे। अतः वे सदा उस शुभ अवसर की प्रतीक्षा करते रहते थे, जब सुक्खू पर अपने धन द्वारा प्रभुत्व जमा सकें।

(२)

इस गाँव के जमींदार ठाकुर जीतनसिंह थे, जिनकी बेगार के मारे गाँववालों का नाकों दम था। उस साल जब जिला मजिस्ट्रेट का दौरा हुआ और वह यहाँ के पुरातन चिह्नों की सैर करने के लिए पधारे, तो सुक्खू चौधरी ने दबी जबान से अपने गाँववालों की दुःख-कहानी उन्हें सुनायी। हाकिमों से वार्त्तालाप करने में उसे तनिक भी भय न होता था। सुक्खू चौधरी को खूब मालूम था कि जीतनसिंह से रार मचाना सिंह के मुँह में सिर देना है। किन्तु जब गाँववाले कहते थे कि चौधरी तुम्हारी ऐसे-ऐसे हाकिमों से मिताई है और हम लोगों को रात-दिन रोते कटता है तो फिर तुम्हारी यह मित्रता किस दिन काम आवेगी। 'परोपकाराय सताम् विभूतयः।' तब सुक्खू का मिज़ाज आसमान पर चढ़ जाता था। घड़ी भर के लिए वह जीतनसिंह को भूल जाता था। मजिस्ट्रेट ने जीतनसिंह से इसका उत्तर माँगा। उधर झगड़ू साहु ने चौधरी के इस साहस-पूर्ण स्वामीद्रोह की रिपोर्ट जीतनसिंह को दी। ठाकुर साहब जलकर आग हो गये। अपने कारिन्दे से बक़ाया लगान की बही माँगी। संयोगवश चौधरी के जिम्मे इस साल का कुछ लगान बाकी था। कुछ तो पैदावार कम हुई, उस पर गंगाजली का ब्याह करना पड़ा। छोटी बहू नथ की रट लगाये हुए थी, वह बनवानी पड़ी। इन सब खर्चों ने हाथ बिलकुल खाली कर दिया था। लगान के लिए कुछ अधिक चिन्ता नहीं थी। वह इस अभिमान में भूला हुआ था कि जिस जबान में हाकिमों के प्रसन्न करने की शक्ति है, क्या वह ठाकुर साहब को अपना लक्ष्य न बना सकेगी? बूढ़े चौधरी इधर तो अपने गर्व में निश्चिन्त थे और उधर उन पर बक़ाया लगान की नालिश ठुक गयी। सम्मन आ पहुँचा। दूसरे दिन पेशी की तारीख पड़ गयी। चौधरी को अपना जादू चलाने का अवसर न मिला।

जिन लोगों के बढ़ावे में आकर सुक्खू ने ठाकुर से छेड़छाड़ की थी, उनका दर्शन मिलना दुर्लभ हो गया। ठाकुर साहब के सहने और प्यादे गाँव में चील

की तरह मँडराने लगे। उनके भय से किसी को चौधरी की परछाहीं काटने का साहस न होता था। कचहरी यहाँ से तीन मील पर थी। बरसात के दिन, रास्ते में ठौर-ठौर पानी, उमड़ी हुई नदियाँ, रास्ता कच्चा, बैलगाड़ी का निबाह नहीं, पैरों में बल नहीं, अतः अदमपैरवी में मुकदमा एक तरफा फैसल हो गया।

(३)

कुर्की का नोटिस पहुँचा तो चौधरी के हाथ-पाँव फूल गये। सारी चतुराई भूल गयी। चुपचाप अपनी खाट पर पड़ा-पड़ा नदी की ओर ताकता और अपने मन में कहता, क्या मेरे जीते-ही-जी घर मिट्टी में मिल जायगा। मेरे इन बैलों की सुन्दर जोड़ी के गले में आह! क्या दूसरों का जुआ पड़ेगा? यह सोचते-सोचते उसकी आँखें भर आतीं। वह बैलों से लिपटकर रोने लगता, परंतु बैलों की आँखों से क्यों आँसू जारी था? वे नाँद में मुँह क्यों नहीं डालते थे। क्या उनके हृदय पर भी अपने स्वामी के दुःख की चोट पहुँच रही थी!

फिर वह अपने झोंपड़े को विकल नयनों से निहार कर देखता। और मन में सोचता, क्या हमको इस घर से निकलना पड़ेगा? यह पूर्वजों की निशानी क्या हमारे जीते-जी छिन जायगी?

कुछ लोग परीक्षा में दृढ़ रहते हैं और कुछ लोग इसकी हल्की आँच भी नहीं सह सकते। चौधरी अपनी खाट पर उदास पड़े घण्टों अपने कुलदेव महावीर और महादेव को मनाया और उनका गुण गाया करता। उसकी चिन्तादग्ध आत्मा को और कोई सहारा न था।

इसमें कोई सन्देह न था कि चौधरी की तीनों बहुओं के पास गहने थे, पर स्त्री का गहना ऊख का रस है, जो पेरने ही से निकलता है। चौधरी जाति का ओछा, पर स्वभाव का ऊँचा था। उसे ऐसी नीच बात बहुओं से कहते सङ्कोच होता था। कदाचित् यह नीच विचार उसके हृदय में उत्पन्न ही नहीं हुआ था, किन्तु तीनों बेटे यदि ज़रा भी बुद्धि से काम लेते तो बूढ़े को देवताओं की शरण लेने की आवश्यकता न होती। परन्तु यहाँ तो बात ही निराली थी। बड़े लड़के को घाट के काम से फ़ुरसत न थी। बाकी दो लड़के इस जटिल प्रश्न को विचित्र रूप से हल करने के मन्सूबे बाँध रहे थे।

मँझले झींगुर ने मुँह बनाकर कहा—उँह! इस गाँव में क्या धरा है। जहाँ ही कमाऊँगा, वहीं खाऊँगा! पर जीतनसिंह की मूँछें एक-एक करके चुन लूँगा।

छोटे फक्कड़ ऐंठकर बोले—मूँछें तुम चुन लेना। नाक मैं उड़ा दूँगा। नककटा बना घूमेगा।

इस पर दोनों खूब हँसे और मछली मारने चल दिये।

इस गाँव में बूढ़े ब्राह्मण भी रहते थे। मन्दिर में पूजा करते और नित्य अपने यजमानों को दर्शन देने नदी पार जाते, पर खेवे के पैसे न देते। तीसरे दिन वह जमींदार के गुप्तचरों की आँख बचाकर सुक्खू के पास आये और सहानुभूति के स्वर में बोले—चौधरी! कल ही तक मियाद है और तुम अभी तक पड़े-पड़े सो रहे हो। क्यों नहीं घर की चीज-वस्तु ढूँढ-ढाँढकर किसी और जगह भेज देते? न हो समधियाने पठवा दो। जो कुछ बच रहे, वही सही। घर की मिट्टी खोदकर थोड़े ही कोई ले जायगा।

चौधरी लेटा था, उठ बैठा। और आकाश की ओर निहारकर बोला—जो कुछ उसकी इच्छा है, वह होगा। मुझसे यह जाल न होगा।

इधर कई दिन की निरन्तर भक्ति और उपासना के कारण चौधरी का मन शुद्ध और पवित्र हो गया था। उसे छल-प्रपच से घृणा उत्पन्न हो गयी थी। पण्डितजी, जो इस काम के सिद्धहस्त थे, लज्जित हो गये।

परन्तु चौधरी के घर के अन्य लोगों को ईश्वरेच्छा पर इतना भरोसा न था। धीरे-धीरे घर के बर्तन-भाँड़े खिसकाये जाते थे। अनाज का एक दाना भी घर में न रहने पाया। रात को नाव लदी हुई जाती और उधर से खाली लौटती थी। तीन दिन तक घर में चूल्हा न जला। बूढे चौधरी के मुँह में अन्न की कौन कहे पानी का एक बूँद भी न पड़ा। स्त्रियाँ भाड से चने भुनाकर चबातीं, और लडके मछलियाँ भून-भूनकर उडाते। परन्तु बूढे की इस एकादशी में यदि कोई शरीक था तो वह उसकी बेटी गङ्गाजली थी। वह बेचारी अपने बूढे बाप को चारपाई पर निर्जल छटपटाते देख बिलख-बिलखकर रोती।

लडकों को अपने माता-पिता से वह प्रेम नहीं होता जो लड़कियों को होता है। गगाजली इस सोच-विचार मे मग्न रहती कि दादा की किस भाँति सहायता

करूँ। यदि हम सब भाई-बहन मिलकर जीतनसिंह के पास जाकर दया-भिक्षा की प्रार्थना करें तो वे अवश्य मान जायँगे, परन्तु दादा को कब यह स्वीकार होगा। वह यदि एक दिन बड़े साहब के पास चले जायँ तो सब कुछ बात-की-बात में बन जाय। किन्तु उनकी तो जैसे बुद्धि ही मारी गयी है। इसी उधेड़-बुन में उसे एक उपाय सूझ पड़ा, कुम्हलाया हुआ मुखारविन्द खिल उठा।

पुजारीजी सुक्खू चौधरी के पास से उठकर चले गये थे और चौधरी उच्च स्वर से अपने सोये हुए देवताओं को पुकार-पुकारकर बुला रहे थे। निदान गंगाजली उनके पास जाकर खड़ी हो गयी। चौधरी ने उसे देखकर विस्मित स्वर मे पूछा—क्या बेटी? इतनी रात गये क्यों बाहर आयी?

गंगाजली ने कहा—बाहर रहना तो भाग्य में लिखा है, घर में कैसे रहूँ?

सुक्खू ने जोर से हाँक लगायी, कहाँ गये तुम कृष्ण मुरारी, मेरे दुःख हरो।

गंगाजली खड़ी थी, बैठ गयी और धीरे से बोली—भजन गाते तो आज तीन दिन हो गये। घर बचाने का भी कुछ उपाय सोचा कि इसे यों ही मिट्टी में मिला दोगे? हम लोगों को क्या पेड़ तले रखोगे?

चौधरी ने व्यथित स्वर से कहा—बेटी, मुझे तो कोई उपाय नहीं सूझता। भगवान जो चाहेंगे, होगा। वेग चलो गिरधर गोपाल, काहे विलम्ब करो।

गंगाजली ने कहा—मैंने एक उपाय सोचा है, कहो तो कहूँ।

चौधरी उठकर बैठ गये और पूछा—कौन उपाय है बेटी? गंगाजली ने कहा—मेरे गहने झगड़ू साहु के यहाँ गिरों रख दो। मैंने जोड़ लिया है। देने भर के रुपये हो जायँगे।

चौधरी ने ठंढी साँस लेकर कहा—बेटी! तुमको मुझसे यह बात कहते लाज नहीं आती। वेद-शास्त्र में मुझे तुम्हारे गाँव के कुएँ का पानी पीना भी मना है। तुम्हारी ड्योढ़ी में भी पैर रखने का निषेध है। क्या तुम मुझे नरक में ढकेलना चाहती हो!

गंगाजली उत्तर के लिए पहले ही से तैयार थी। बोली—मैं अपने गहने तुम्हें दिये थोड़े ही देती हूँ। इस समय लेकर काम चलाओ, चैन में छुड़ा देना। चौधरी ने कड़ककर कहा—यह मुझसे न होगा।

मँझले झींगुर ने मुँह बनाकर कहा—उँह! इस गाँव में क्या धरा है। जहाँ ही कमाऊँगा, वहीं खाऊँगा! पर जीतनसिंह की मूँछें एक-एक करके चुन लूँगा।

छोटे फक्कड़ ऐंठकर बोले—मूँछें तुम चुन लेना। नाक मैं उड़ा दूँगा। नककटा बना घूमेगा।

इस पर दोनों खूब हँसे और मछली मारने चल दिये।

इस गाँव में बूढ़े ब्राह्मण भी रहते थे। मन्दिर में पूजा करते और नित्य अपने यजमानों को दर्शन देने नदी पार जाते, पर खेवे के पैसे न देते। तीसरे दिन वह जमींदार के गुप्तचरों की आँख बचाकर सुक्खू के पास आये और सहानुभूति के स्वर में बोले—चौधरी! कल ही तक मियाद है और तुम अभी तक पड़े-पड़े सो रहे हो। क्यों नहीं घर की चीज-वस्तु ढूँढ़-ढाँढ़कर किसी और जगह भेज देते? न हो समधियाने पठवा दो। जो कुछ बच रहे, वही सही। घर की मिट्टी खोदकर थोड़े ही कोई ले जायगा।

चौधरी लेटा था, उठ बैठा। और आकाश की ओर निहारकर बोला—जो कुछ उसकी इच्छा है, वह होगा। मुझसे यह जाल न होगा।

इधर कई दिन की निरन्तर भक्ति और उपासना के कारण चौधरी का मन शुद्ध और पवित्र हो गया था। उसे छल-प्रपंच से घृणा उत्पन्न हो गयी थी। पण्डितजी, जो इस काम के सिद्धहस्त थे, लज्जित हो गये।

परन्तु चौधरी के घर के अन्य लोगों को ईश्वरेच्छा पर इतना भरोसा न था। धीरे-धीरे घर के बर्तन-भाँड़े खिसकाये जाते थे। अनाज का एक दाना भी घर में न रहने पाया। रात को नाव लदी हुई जाती और उधर से खाली लौटती थी। तीन दिन तक घर में चूल्हा न जला। बूढ़े चौधरी के मुँह में अन्न की कौन कहे पानी का एक बूँद भी न पड़ा। स्त्रियाँ भाड़ से चने भुनाकर चबातीं, और लड़के मछलियाँ भून-भूनकर उड़ाते। परन्तु बूढ़े की इस एकादशी में यदि कोई शरीक था तो वह उसकी बेटी गङ्गाजली थी। वह बेचारी अपने बूढ़े बाप को चारपाई पर निर्जल छटपटाते देख बिलख-बिलखकर रोती।

लड़कों को अपने माता-पिता से वह प्रेम नहीं होता जो लड़कियों को होता है। गंगाजली इस सोच-विचार में मग्न रहती कि दादा की किस भाँति सहायता

ला गहनों की पोटली ।यदि लोकलाज न होती तो इसे लेकर कभी यहाँ न आता, परन्तु यह अधर्म इसी लाज निबाहने के कारण करना पड़ा है।

झगड़ू साहु ने आश्चर्य में होकर पूछा—यह गहने किसके हैं?

चौधरी ने सिर झुकाकर बड़ी कठिनता से कहा—मेरी बेटी गंगाजली के।

झगड़ू साहु स्तम्भित हो गये। बोले—अरे! राम-राम!

चौधरी ने कातर स्वर में कहा—डूब मरने को जी चाहता है।

झगड़ू ने बड़ी धार्मिकता के साथ स्थिर होकर कहा—शास्त्र में बेटी के गाँव का पेड़ देखना मना है।

चौधरी ने दीर्घ निःश्वास छोड़कर करुण स्वर में कहा—न जाने नारायण कब मौत देंगे। भाई की तीन लड़कियाँ व्याहीं।—कभी भूलकर भी उनके द्वार का मुँह नहीं देखा। परमात्मा ने अब तक तो टेक निवाही है, पर अब न जाने मिट्टी की क्या दुर्दशा होनेवाली है।

झगड़ू साहु 'लेखा जौ-जौ बखशीश सौ-सौ' के सिद्धान्त पर चलते थे। सूद की एक कौड़ी भी छोड़ना उनके लिए हराम था। यदि महीने का एक दिन भी लग जाता तो पूरे महीने का सूद वसूल कर लेते। परन्तु नवरात्र में नित्य दुर्गापाठ करवाते थे। पितृपक्ष में रोज़ ब्राह्मणों को सीधा बाँटते थे। बनियों की धर्म में बड़ी निष्ठा होती है। झगड़ू साहु के द्वार पर साल में एक बार भागवत् पाठ अवश्य होता। यदि कोई दीन ब्राह्मण लड़की व्याहने के लिए उनके सामने हाथ पसारता तो वह खाली हाथ न लौटता, भीख माँगनेवाले ब्राह्मणों को चाहे वह कितने ही सडे-मुसडे हों, उनके दरवाजे पर फटकार नहीं सुननी पडती थी। उनके धर्म शास्त्र में कन्या के गाँव के कूएँ का पानी पीने से प्यासों मर जाना अच्छा था। वह स्वयं इस सिद्धान्त के भक्त थे और इस सिद्धान्त के अन्य पक्षपाती उनके लिए महामान्य देवता थे। वे पिघल गये। मन में सोचा, यह मनुष्य तो कभी ओछे विचारों को मन में नहीं लाया। निर्दय काल की ठोकर से अधर्म मार्ग पर उतर आया है तो उसके धर्म की रक्षा करना हमारा कर्तव्य-धर्म है। यह विचार मन में आते ही झगड़ू साहु गद्दी से मसनद के सहारे उठ बैठे और दृढ़ स्वर से कहा—वही परमात्मा जिसने अब तक तुम्हारी टेक निवाही है, अब भी निबाहेंगे। लड़की के गहने लड़की को दे दो।

चौधरी ने कहा—सौ रुपये की डिगरी है। खर्च-बर्च मिलाकर दो सौ के लगभग समझो।

झगड़ू अब अपने दाँव खेलने लगे। पूछा—तुम्हारे लड़कों ने तुम्हारी कुछ भी मदद न की। यह सब भी तो कुछ-न-कुछ कमाते ही हैं?

साहुजी का यह निशाना ठीक पड़ा—लड़कों की लापरवाही से चौधरी के मन में जो कुत्सित भाव भरे थे, वह सजीव हो गये। बोला—भाई, लड़के किसी काम के होते तो यह दिन क्यों देखना पड़ता। उन्हें तो अपने भोग-विलास से मतलब। घर-गृहस्ती का बोझ तो मेरे सिर पर है। मैं इसे जैसे चाहूँ, सँभालूँ। उनसे कुछ सरोकार नहीं, मरते दम भी गला नहीं छूटता मरूँगा तो सब खाल में भूसा भराकर रख छोड़ेंगे। 'गृह कारज नाना जजाला।

झगड़ू ने दूसरा तीर मारा—क्या बहुओं से भी कुछ न बन पड़ा?

चौधरी ने उत्तर दिया—बहू-बेटे सब अपनी-अपनी मौज में मस्त हैं मैं तीन दिन तक द्वार पर बिना अन्न-जल के पड़ा था, किसी ने बात भी नहीं पूछी। कहाँ की सलाह, कहाँ की बातचीत। बहुओं के पास रुपये न हों, पर गहने तो हैं और वे भी मेरे बनाये हुए। इस दुर्दिन के समय यदि दो-दो थान उतार देतीं तो क्या मैं छुड़ा न देता? सदा यही दिन थोड़ ही रहेंगे।

झगड़ू समझ गये कि यह महज़ ज़बान का सौदा है और वह ज़बान का सौदा भूलकर भी न करते थे। बोले—तुम्हारे घर के लोग भी अनूठे हैं। क्या इतना भी नहीं जानते कि बूढ़ा रुपये कहाँ से लावेगा? अब समय बदल गया। या तो कुछ जायदाद लिखो या गहने गिरों रक्खो तब जाकर रुपया मिले। इसके बिना रुपये कहाँ। इसमें भी जायदाद में सैकड़ों बखेड़े पड़े हैं। सुभीता गिरों रखने में ही है। हाँ, तो जब घरवालों को कोई इसकी फिक्र नहीं तो तुम क्यों व्यर्थ जान देते हो। यही न होगा कि लोग हँसेंगे, सो यह लाज कहाँ तक निबाहोगे?

चौधरी ने अत्यन्त विनीत होकर कहा—साहुजी यही लाज तो मारे डालती है। तुमसे क्या छिपा है। एक वह दिन था कि हमारे दादा-बाबा महाराज की सवारी के साथ चलते थे और अब एक दिन यह है कि घर की दीवार तक बिकने की नौबत आ गयी है। कहीं मुँह दिखाने को भी जी नहीं चाहता। यह

ला गहनों की पोटली । यदि लोकलाज न होती तो इसे लेकर कभी यहाँ न आता, परन्तु यह अधर्म इसी लाज निबाहने के कारण करना पड़ा है।

झगड़ू साहु ने आश्चर्य में होकर पूछा—यह गहने किसके हैं?

चौधरी ने सिर झुकाकर बड़ी कठिनता से कहा—मेरी बेटी गंगाजली के।

झगड़ू साहु स्तम्भित हो गये। बोले—अरे! राम-राम!

चौधरी ने कातर स्वर में कहा—डूब मरने को जी चाहता है।

झगड़ू ने बड़ी धार्मिकता के साथ स्थिर होकर कहा—शास्त्र में बेटी के गाँव का पेड़ देखना मना है।

चौधरी ने दीर्घ निःश्वास छोड़कर करुण स्वर में कहा—न जाने नारायण कब मौत देंगे। भाई की तीन लड़कियाँ ब्याहीं।—कभी भूलकर भी उनके द्वार का मुँह नहीं देखा। परमात्मा ने अब तक तो टेक निबाही है, पर अब न जाने मिट्टी की क्या दुर्दशा होनेवाली है।

झगड़ू साहु 'लेखा जौ-जौ बखशीश सौ-सौ' के सिद्धान्त पर चलते थे। सूद की एक कौड़ी भी छोड़ना उनके लिए हराम था। यदि महीने का एक दिन भी लग जाता तो पूरे महीने का सूद वसूल कर लेते। परन्तु नवरात्र में नित्य दुर्गापाठ करवाते थे। पितृपक्ष में रोज ब्राह्मणों को सीधा बाँटते थे। बनियों की धर्म में बड़ी निष्ठा होती है। झगड़ू साहु के द्वार पर साल में एक बार भागवत् पाठ अवश्य होता। यदि कोई दीन ब्राह्मण लड़की ब्याहने के लिए उनके सामने हाथ पसारता तो वह खाली हाथ न लौटता, भीख माँगनेवाले ब्राह्मणों को चाहे वह कितने ही सण्डे-मुसण्डे हों, उनके दरवाजे पर फटकार नहीं सुननी पड़ती थी। उनके धर्म शास्त्र में कन्या के गाँव के कूएँ का पानी पीने से प्यासों मर जाना अच्छा था। वह स्वयं इस सिद्धान्त के भक्त थे और इस सिद्धान्त के अन्य पक्षपाती उनके लिए महामान्य देवता थे। वे पिघल गये। मन में सोचा, यह मनुष्य तो कभी ओछे विचारों को मन में नहीं लाया। निर्दय काल की ठोकर से अधर्म मार्ग पर उतर आया है तो उसके धर्म की रक्षा करना हमारा कर्तव्य-धर्म है। यह विचार मन में आते ही झगड़ू साहु गद्दी से मसनद के सहारे उठ बैठे और दृढ स्वर से कहा—वही परमात्मा जिसने अब तक तुम्हारी टेक निबाही है, अब भी निबाहेंगे। लड़की के गहने लड़की को दे दो।

लड़की जैसी तुम्हारी है वैसी ही मेरी भी है। यह लो रुपये। आज काम चलाओ। जब हाथ में रुपये आ जायँ, दे देना।

चौधरी पर इस सहानुभूति का गहरा असर पड़ा। वह जोर-जोर से रोने लगा। उसे अपने भावों की धुन में कृष्ण भगवान की मोहिनी मूर्त्ति सामने विराजमान दिखायी दी। वही झगड़ू जो सारे गाँव में बदनाम था, जिसकी उसने खुद कई बार हाकिमों से शिकायत की थी, आज साक्षात् देवता जान पड़ता था। रुँधे हुए कण्ठ से गद्‌गद हो बोला—

'झगड़ू! तुमने इस समय मेरी बात, मेरी लाज, मेरा धर्म, कहाँ तक कहूँ मेरा सब कुछ रख लिया। मेरी डूबती नाव पार लगा दी। कृष्ण मुरारी तुम्हारे इस उपकार का फल देंगे और मैं तो तुम्हारा गुण जब तक जीऊँगा, गाता रहूँगा।'

धर्म-संकट

(१)

'पुरुष और स्त्रियों में बड़ा अन्तर है। तुम लोगों का हृदय शीशे की तरह कठोर होता है और हमारा हृदय नरम। वह विरह की आँच नहीं सह सकता।'

'शीशा ठेस लगते ही टूट जाता है। नरम वस्तुओं मे लचक होती है।'

'चलो बातें न बनाओ। दिन-भर तुम्हारी राह देखूँ, रात-भर घड़ी की सुइयाँ, तब कहीं आपके दर्शन होते हैं।'

'मैं तो सदैव तुम्हें अपने हृदय-मन्दिर में छिपाए रखता हूँ।'

'ठीक बतलाओ ; कब आओगे ?'

'ग्यारह बजे ; परन्तु पिछला दरवाजा खुला रखना।'

'उसे मेरे नयन समझो।'

'अच्छा तो अब विदा।'

(२)

पण्डित कैलाशनाथ लखनऊ के प्रतिष्ठित बैरिस्टरों में से थे। कई सभाओं के मन्त्री, कई समितियों के सभापति, पत्रों में अच्छे-अच्छे लेख लिखते, प्लेट-फार्म पर सारगर्भित व्याख्यान देते। पहले-पहल जब वह यूरप से लौटे थे तो यह उत्साह अपनी पूरी उमङ्ग पर था, परन्तु ज्यों-ज्यों बैरिस्टरी चमकने लगी, इस उत्साह में कमी आने लगी। और वह ठीक भी था, क्योंकि अब बेकार न थे जो बेगार करते। हाँ, क्रिकेट का शौक़ अब तक ज्यों-का-त्यों बना था। वह कैसरक्लब के संस्थापक और क्रिकेट के प्रसिद्ध खिलाड़ी थे।

यदि मि० कैलाश को क्रिकेट की धुन थी तो उनकी बहन कामिनी को टेनिस का शौक था। इन्हें नित-नवीन आमोद-प्रमोद की चाह रहती थी। शहर में कहीं नाटक हो, कोई थियेटर आवे, कोई सरकस, कोई बायसकोप हो, कामिनी उसमें न सम्मिलित हो, यह असम्भव बात थी। मनोविनोद की कोई भी सामग्री उसके लिए उतनी ही आवश्यक थी जितनी वायु और प्रकाश।

मि० कैलाश पश्चिमीय सभ्यता के प्रवाह में बहनेवाले अपने अन्य सहयोगियों की भाँति हिन्दू जाति, हिन्दू सभ्यता, हिन्दी भाषा और हिन्दुस्तान के कट्टर विरोधी थे। हिन्दू सभ्यता उन्हें दोषपूर्ण दिखायी देती थी। अपने इन विचारों को वे अपने ही तक परिमित न रखते थे, बल्कि बड़ी ही ओजस्विनी भाषा में इन विषयों पर लिखते और बोलते थे। हिन्दू सभ्यता के विवेकी भक्त उनके इन विवेकशून्य विचारों पर हँसते थे, परन्तु उपहास और विरोध तो सुधारक के पुरस्कार हैं। मि० कैलाश उनकी कुछ परवा न करते थे। कोरे वाक्यवीर ही न थे, कर्मवीर भी पूरे थे। कामिनी की स्वतन्त्रता उनके विचारों का प्रत्यक्ष स्वरूप थी। सौभाग्यवश कामिनी के पति <u>गोपालनारायण</u> भी इन्हीं विचारों में रँगे हुए थे। वे साल भर से अमेरिका में विद्याध्ययन करते थे। कामिनी भाई और पति के उपदेशों से पूरा-पूरा लाभ उठाने में कमी न करती थी।

(२)

लखनऊ में अलफ्रेड थियेटर कम्पनी आयी हुई थी, शहर में जहाँ देखिए उसी के तमाशे की चर्चा थी। कामिनी की रातें बड़े आनन्द से कटती थीं। रात भर थियेटर देखती। दिन को कुछ सोती और कुछ देर वही थियेटर के गीत अलापती। सौन्दर्य और प्रीति के नव रमणीय संसार में रमण करती थी, जहाँ का दुःख और क्लेश भी इस संसार के सुख और आनन्द से बढ़कर मोददायी है। यहाँ तक कि तीन महीने बीत गये। प्रणय की नित्य नयी मनोहर शिक्षा और प्रेम के आनन्दमय आलाप-विलाप का हृदय पर कुछ-न-कुछ असर होना ही चाहिए था। सो भी इस चढ़ती जवानी में। वह असर हुआ। इसका श्रीगणेश उसी तरह हुआ जैसा कि बहुधा हुआ करता है।

थियेटर-हाल में एक सुघर सजीले युवक की आँखें कामिनी की ओर उठने लगीं। वह रूपवती और चञ्चला थी, अतएव पहिले उसे इस चितवन में किसी रहस्य का ज्ञान न हुआ। नेत्रों का सुन्दरता से बड़ा घना सम्बन्ध है। घूरना पुरुषों का और लजाना स्त्रियों का स्वभाव है। कुछ दिनों के बाद कामिनी को इस चितवन में कुछ गुप्त भाव झलकने लगे। मन्त्र अपना काम करने लगा। फिर नयनों में परस्पर बातें होने लगीं। नयन मिल गये। प्रीति गाढ़ी हो गयी।

कामिनी, एक दिन के लिए भी यदि किसी दूसरे उत्सव में चली जाती तो वहाँ उसका मन न लगता। जी उचटने लगता। आँखें किसी को ढूँढा करतीं।

अन्त मे लज्जा का बाँध टूट गया। हृदय के विचार स्वरूपवान हुए। मौन का ताला टूटा। प्रेमालाप होने लगा। पद्य के बाद गद्य की बारी आयी और फिर दोनों मिलन-मन्दिर के द्वार पर आ पहुँचे। इसके पश्चात् जो कुछ हुआ, उसकी झलक हम पहिले ही देख चुके हैं।

(४)

इस नवयुवक का नाम रूपचन्द था। पजाब का रहनेवाला, संस्कृत का शास्त्री, हिन्दी-साहित्य का पूर्ण पण्डित, अगरेजी का एम० ए०, लखनऊ के एक बड़े लोहे के कारखाने का मैनेजर था। घर मे रूपवती स्त्री, दो प्यारे बच्चे थे। अपने साथियों मे सदाचरण के लिए प्रसिद्ध था। न जवानी की उमग, न स्वभाव का छिछोरापन। घर-गृहस्थी में जकड़ा हुआ था। मालूम नही वह कौन-सा आकर्षण था, जिसने उसे इस तिलिस्म मे फँसा लिया, जहाँ की भूमि अग्नि, और आकाश-ज्वाला है, जहाँ घृणा और पाप हैं। और अभागी कामिनी को क्या कहा जाय, जिसकी प्रीति की बाढ ने धीरता और विवेक का बाँध तोड़कर अपनी तरल तरग मे नीति और मर्यादा की टूटी-फूटी झोपड़ी को डुबो दिया। यह पूर्व जन्म के सस्कार थे।

रात के दस बज गये थे। कामिनी लैम्प के सामने बैठी हुई चिट्ठियाँ लिख रही थी। पहला पत्र रूपचन्द के नाम था।

कैलाश भवन,
लखनऊ।

प्राणाधार!

तुम्हारे पत्र को पढकर प्राण निकल गये। उफ! अभी एक महीना लगेगा। इतने दिनों मे कदाचित् तुम्हें यहाँ मेरी राख भी न मिलेगी। तुमसे अपने दुःख क्या रोऊँ। बनावट के दोषारोपण से डरती हूँ। जो कुछ बीत रही है, वह मैं ही जानती हूँ। लेकिन बिना विरह-कथा सुनाए दिल की जलन कैसे जायगी? यह आग कैसे ठण्ढी होगी? अब मुझे मालूम हुआ कि यदि प्रेम दहकती हुई आग है तो वियोग उसके लिए घृत है। थियेटर अब भी जाती हूँ, पर विनोद

के लिए नहीं, रोने और विसूरने के लिए। रोने में ही चित्त को कुछ शान्ति मिलती है। आँसू उमड़े चले आते हैं। मेरा जीवन शुष्क और नीरस हो गया है। न किसी से मिलने को जी चाहता है, न आमोद-प्रमोद में मन लगता है। परसों डाक्टर केलकर का व्याख्यान था, भाई साहब ने बहुत आग्रह किया, पर मैं न जा सकी। प्यारे, मौत से पहले मत मारो। आनन्द के इन गिने-गिनाये क्षणों में वियोग का दुःख मत दो। आओ, यथासाध्य शीघ्र आओ, और गले से लगकर मेरे हृदय की ताप बुझाओ। अन्यथा आश्चर्य नहीं कि विरह का यह अथाह सागर मुझे निगल जाय।

तुम्हारी—
कामिनी

इसके बाद कामिनी ने दूसरा पत्र पति को लिखा

कैलाश भवन,
लखनऊ।

माई डियर गोपाल!

अब तक तुम्हारे दो पत्र आये; परन्तु खेद कि मैं उनका उत्तर न दे सकी। दो सप्ताह से सिर की पीड़ा से असह्य वेदना सह रही हूँ। किसी भाँति चित्त को शान्ति नहीं मिलती; पर अब कुछ स्वस्थ हूँ। कुछ चिन्ता मत करना। तुमने जो नाटक भेजे, उनके लिए मैं हार्दिक धन्यवाद देती हूँ। स्वस्थ हो जाने पर पढ़ना आरम्भ करूँगी। तुम वहाँ के मनोहर दृश्यों का वर्णन मत किया करो। मुझे तुम पर ईर्ष्या होती है। यदि मैं आग्रह करूँ तो भाई साहब वहाँ तक पहुँचा तो देंगे, परन्तु इनके खर्च इतने अधिक हैं कि इनसे नियमित रूप से साहाय्य मिलना कठिन है और इस समय तुम पर भार देना भी ठीक नहीं है। ईश्वर चाहेगा तो वह दिन शीघ्र देखने में आवेगा, जब मैं तुम्हारे साथ आनन्द-पूर्वक वहाँ की सैर करूँगी। मैं इस समय तुम्हें कोई कष्ट तो नहीं देना चाहती, पर अपनी आवश्यकताएँ किससे कहूँ। मेरे पास अब कोई अच्छा गाउन नहीं रहा। किसी उत्सव में जाते लजाती हूँ। यदि तुमसे हो सके तो मेरे लिए एक अपने पसन्द का गाउन बनवाकर भेज दो। आवश्यकता तो

और भी कई चीजों की है, परन्तु इस समय तुम्हे अधिक कष्ट देना नहीं चाहती। आशा है, तुम सकुशल होगे।

तुम्हारी—
कामिनी

(५)

लखनऊ के सेशन जज के इजलास में बड़ी भीड़ थी। अदालत के कमरे ठसाठस भर गये थे। तिल रखने की जगह न थी। सबकी दृष्टि बड़ी उत्सुकता के साथ जज के सम्मुख खड़ी एक सुन्दर लावण्यमयी मूर्त्ति पर लगी हुई थी। यह कामिनी थी। उसका मुँह धूमिल हो रहा था। ललाट पर स्वेद-बिन्दु झलक रहे थे। कमरे मे घोर निस्तब्धता थी। केवल वकीलों की कानाफूसी और सैन कभी-कभी इस निःशब्दता को भङ्ग कर देती थी। अदालत का हाता आदमियों से इस तरह भर गया था कि जान पड़ता था मानों सारा शहर सिमटकर यहीं आ गया है। था भी ऐसा ही। शहर की प्रायः दूकानें बन्द थीं और जो एक आध खुली भी थीं उनपर लड़के बैठे ताश खेल रहे थे। क्योंकि कोई गाहक न था। शहर से कचहरी तक आदमियों का ताँता लगा हुआ था। कामिनी को निमिष-मात्र देखने के लिए, उसके मुँह से एक बात सुनने के लिए, इस समय प्रत्येक आदमी अपना सर्वस्व निछावर करने पर तैयार था। वे लोग जो कभी पं० दातादयाल शर्मा जैसे प्रभावशाली वक्ता की वक्तृता सुनने के लिए घर से बाहर नहीं निकले, वे जिन्होंने नवजवान मनचले बेटों को अलफ्रेड थियेटर में जाने की आज्ञा नहीं दी, वे एकान्त-प्रिय जिन्हे वायसराय के शुभागमन तक की खबर न हुई थी, वे शान्ति के उपासक जो मुहर्रम की चहल-पहल देखने को अपनी कुटिया से बाहर न निकलते थे, वे सभी आज गिरते-पड़ते, उठते-बैठते कचहरी की ओर दौड़े चले जा रहे थे। बेचारी स्त्रियाँ अपने भाग्य को कोसती हुई अपनी-अपनी अटारियों पर चढ़कर विवशतापूर्ण उत्सुक दृष्टि से उस तरफ ताक रही थीं जिधर उनके विचार में कचहरी थी। पर उनकी गरीब आँखें निर्दय अट्टालिकाओं की दीवारों से टकराकर लौट आती थीं। यह सब कुछ इसलिए हो रहा था कि आज अदालत में एक बड़ा मनोहर, अद्भुत अभिनय होनेवाला था, जिस पर अलफ्रेड थियेटर के हजारों अभिनय बलिदान थे। आज

एक गुप्त रहस्य खुलनेवाला था, जो अन्धेरे मे राई है पर प्रकाश में पर्वताकार हो जाता है। इस घटना के सम्बन्ध मे लोग टीका-टिप्पणी कर रहे थे। कोई कहता था, यह असम्भव है कि रूपचन्द जैसा शिक्षित व्यक्ति ऐसा दूषित कर्म करे। पुलिस का यह बयान है तो हुआ करे। गवाह पुलिस के बयान का समर्थन करते हैं तो किया करें। यह पुलिस का अत्याचार ह, अन्याय है। कोई कहता था, भाई सत्य तो यह है कि यह रूप लावण्य, यह 'खञ्जन गञ्जन नयन' और यह हृदयहारिणी सुन्दर सलोनी छवि जो कुछ न करे वह थोड़ा है। श्रोता इन बातों को बडे चाव से इस तरह आश्चर्यान्वित हो मुँह बाकर सुनते थे मानों देववाणी हो रही है। सबकी जीभ पर यही चर्चा थी। खूब नमक-मिरच लपेटा जाता था। परन्तु इनमें सहानुभूति या समवेदना के लिए जरा भी स्थान न था।

(६)

पण्डित कैलाशनाथ का बयान खतम हो गया। और कामिनी इजलास पर पधारी। इसका बयान बहुत सक्षिप्त था, 'मै अपने कमरे में रात को सो रही थी। कोई एक बजे के करीब चोर-चोर का हल्ला सुनकर मैं चौंक पड़ी और अपनी चारपाई के पास चार आदमियों को हाथापाई करते देखा। मेरे भाई साहब अपने दो चौकीदारों के साथ अभियुक्तों को पकड़ते थे और वे जान छुडाकर भागना चाहते थे। मै शीघ्रता से उठकर बरामदे में निकल आयी। इसके बाद मैंने चौकीदारों को अपराधी के साथ पुलिस स्टेशन की ओर जाते देखा।

रूपचन्द ने कामिनी का बयान सुना और एक ठण्डी साँस ली। नेत्रों के आगे से परदा हट गया। कामिनी, तू ऐसी कृतघ्न, ऐसी अन्यायी, ऐसी पिशाचिनी, ऐसी दुरात्मा है! क्या तेरी वह प्रीति, वह विरह-वेदना, वह प्रेमोद्गार, सब धोखे की टट्टी थी? तूने कितनी बार कहा है कि दृढता प्रेम मन्दिर की पहिली सीढी है। तूने कितनी बार नयनों में आँसू भरकर इसी गोद में मुँह छिपाकर मुझसे कहा है कि मैं तुम्हारी हो गयी। मेरी लाज अब तुम्हारे हाथ है। परन्तु हाय! आज प्रेम-परीक्षा के समय तेरी वह सब बातें खोटी उतरीं। आह! तूने दगा किया और मेरा जीवन मिट्टी मे मिला दिया।

रूपचन्द तो विचार-तरङ्गों मे निमग्न था। उसके वकील ने कामिनी से जिरह करना प्रारम्भ किया।

वकील—क्या तुम सत्यनिष्ठा के साथ कह सकती हो कि रूपचन्द तुम्हारे मकान पर अक्सर नहीं जाया करता था ?

कामिनी—मैंने कभी उसे अपने घर पर नहीं देखा।

वकील—क्या तुम शपथ-पूर्वक कह सकती हो कि तुम उसके साथ कभी थियेटर देखने नहीं गयीं ?

कामिनी—मैंने उसे कभी नहीं देखा।

वकील—क्या तुम शपथ लेकर कह सकती हो कि तुमने उसे प्रेम-पत्र नहीं लिखे ?

शिकरे के चंगुल में फँसे हुए पक्षी की तरह पत्र का नाम सुनते ही कामिनी के होश-हवास उड़ गये, हाथ-पैर फूल गये। मुँह न खुल सका। जज ने, वकील ने और दो सहस्र आँखों ने उसकी तरफ उत्सुकता से देखा।

रूपचन्द का मुँह खिल गया। उसके हृदय में आकाश का उदय हुआ। जहाँ फूल था वहाँ काँटा पैदा हुआ। मन में कहने लगा, कुलटा कामिनी! अपने सुख और अपने कपट-मान-प्रतिष्ठा पर मेरे और मेरे परिवार की हत्या करने वाली कामिनी!! तू अब भी मेरे हाथ में है। मैं अब भी तुझे इस कृतघ्नता और कपट का दण्ड दे सकता हूँ। तेरे पत्र, जिन्हें तूने सत्य हृदय से लिखा है या नहीं, मालूम नहीं, परन्तु जो मेरे हृदय के ताप को शीतल करने के लिए मोहिनी मन्त्र थे, वह सब मेरे पास हैं। और वह इसी समय तेरा सब भेद खोलेंगे। इस क्रोध से उन्मत्त होकर रूपचन्द ने अपने कोट के पाकेट में हाथ डाला। जज ने, वकीलों ने, और दो सहस्र नेत्रों ने उसकी तरफ चातक की भाँति देखा।

तब कामिनी की विकल आखें चारों ओर से हताश होकर रूपचन्द की ओर पहुँचीं। उनमें इस समय लज्जा थी, दया-भिक्षा की प्रार्थना थी और व्याकुलता थी, वह मन-ही-मन कहती थी, मैं स्त्री हूँ, अबला हूँ, ओछी हूँ। तुम पुरुष हो, बलवान हो, साहसी हो ; यह तुम्हारे स्वभाव के विपरीत है। मैं कभी तुम्हारी थी और यद्यपि समय मुझे तुमसे अलग किये देता है, किन्तु मेरी लाज तुम्हारे हाथ में है। तुम मेरी रक्षा करो। आँखें मिलते ही रूपचन्द उसके मन की बात ताड़ गये। उनके नेत्रों ने उत्तर दिया—यदि तुम्हारी लाज मेरे

हाथों में है तो इस पर कोई आँच नहीं आने पावेगी। तुम्हारी लाज पर आज मेरा सर्वस्व निछावर है।

अभियुक्त के वकील ने कामिनी से पुनः वही प्रश्न किया—क्या तुम शपथ-पूर्वक कह सकती हो कि तुमने रूपचन्द को प्रेम-पत्र नहीं लिखे ?

कामिनी ने कातर स्वर में उत्तर दिया—मैं शपथपूर्वक कहती हूँ कि मैंने उसे कभी कोई पत्र नहीं लिखा और अदालत से अपील करती हूँ कि वह मुझे इन घृणास्पद अश्लील आक्रमणों से बचावे।

अभियोग की कार्रवाई समाप्त हो गयी। अब अपराधी के बयान की बारी आयी। इसकी तरफ सफाई के कोई गवाह न थे। परन्तु वकीलों को, जज को, और अधीर जनता को पूरा-पूरा विश्वास था कि अभियुक्त का बयान पुलिस के मायावी महल को क्षण-मात्र मे छिन्न-भिन्न कर देगा। रूपचन्द इजलास के सम्मुख आया। उसके मुखारविन्द पर आत्म-बल का तेज झलक रहा था और नेत्रों में साहस और शान्ति। दर्शक-मण्डली उतावली होकर अदालत के कमरे में घुस पडी। रूपचन्द इस समय का चाँद था या देवलोक का दूत, सहस्रों नयन उसकी ओर लगे थे। किन्तु हृदय को कितना कौतूहल हुआ जब रूपचन्द ने अत्यन्त शान्त चित्त से अपना अपराध स्वीकार कर लिया। लोग एक दूसरे का मुँह ताकने लगे।

अभियुक्त का बयान समाप्त होते ही कोलाहल मच गया। सभी इसकी आलोचना-प्रत्यालोचना करने लगे। सबके मुँह पर आश्चर्य था, सन्देह था, और निराशा थी। कामिनी की कृतघ्नता और निठुरता पर धिक्कार हो रही थी। प्रत्येक मनुष्य शपथ खाने पर तैयार था कि रूपचन्द सर्वथा निर्दोष है। प्रेम ने उसके मुँह पर ताला लगा दिया है। पर कुछ ऐसे भी दूसरे के दुःख में प्रसन्न होनेवाले स्वभाव के लोग थे जो उसके इस साहस पर हँसते और मजाक उड़ाते थे।

दो घंटे बीत गये। अदालत में पुनः एक बार शान्ति का राज्य हुआ। जज साहब फैसला सुनाने के लिए खडे हुए। फैसला बहुत सक्षिप्त था। अभियुक्त जवान है। शिक्षित है और सभ्य है। अतएव आँखोंवाला अन्धा है। इसे

शिक्षा-प्रद दण्ड देना आवश्यक है। अपराध स्वीकार करने से उसका दण्ड कम नहीं होता। अतः मैं उसे ५ वर्ष के सपरिश्रम कारावास की सजा देता हूँ।।

दो हजार मनुष्यों ने हृदय थामकर फैसला सुना। मालूम होता था कि कलेजे में भाले चुभ गये हैं। सभी का मुँह निराशा-जनक क्रोध से रक्त-वर्ण हो रहा था। यह अन्याय है, कठोरता है और बेरहमी है। परन्तु रूपचन्द के मुँह पर शान्ति विराज रही थी।

सेवा-मार्ग

(१)

तारा ने १२ वर्ष तक दुर्गा की तपस्या की। न पलंग पर सोयी, न केशों को सँवारा और न नेत्रों में सुर्मा लगाया। पृथ्वी पर सोती, गेरुआ वस्त्र पहनती और रूखी रोटियाँ खाती, उसका मुख मुरझाई कली की भाँति था, नेत्र ज्योति-हीन, और हृदय एक शून्य बीहड मैदान। उसे केवल यही लौ लगी थी कि दुर्गा के दर्शन पाऊँ। शरीर मोमबत्ती की तरह घुलता था। पर, यह लौ दिल से न जाती थी। यही उसकी इच्छा थी, यही उसका जीवनोद्देश। घर के लोग उसे पागल कहते। माता समझाती—बेटी, तुझे क्या हो गया है? क्या तू सारा जीवन रो-रोकर काटेगी? इस समय के देवता पत्थर के होते हैं। पत्थर को भी कभी किसी ने पिघलते देखा है? देख तेरी सखियाँ पुष्प की भाँति विकसित हो रही हैं, नदी की तरह बढ रही हैं, क्या तुझे मुझ पर दया नहीं आती? तारा कहती—माता, अब तो जो लगन लगी, वह लगी। या तो देवी के दर्शन पाऊँगी, या यही इच्छा लिये हुए संसार से पयान कर जाऊँगी। तुम समझ लो मैं मर गयी।

इस प्रकार पूरे १२ वर्ष व्यतीत हो गये और तब देवी प्रसन्न हुई। रात्रि का समय था। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। मन्दिर में एक धुँधला-सा घी का दीपक जल रहा था। तारा दुर्गा के पैरों पर माथा नवाये सच्ची भक्ति का परिचय दे रही थी। यकायक उस पाषाणमूर्त्ति देवी के तन में स्फूर्ति प्रकट हुई। तारा के रोंगटे खडे हो गये। वह धुँधला दीपक देदीप्यमान हो गया, मन्दिर में चित्ताकर्षक सुगन्ध फैल गयी और वायु में सजीवता प्रतीत होने लगी। देवी का उज्ज्वल रूप पूर्ण चन्द्रमा की भाँति चमकने लगा। ज्योतिहीन नेत्र जग-मगा उठे। होंठ खुल गये। आवाज आयी—तारा, मैं तुझसे प्रसन्न हूँ, माँग, क्या वर माँगती है?

तारा खडी हो गयी। उसका शरीर इस भाँति काँप रहा था जैसे प्रात काल

के समय कम्पित स्वर में किसी कृषक के गाने की ध्वनि। उसे मालूम हो रहा था मानों वह वायु में उड़ी जा रही है। उसे अपने हृदय में उच्च विचारपूर्ण प्रकाश का आभास हो रहा था। उसने दोनों हाथ जोड़कर भक्ति-भाव से कहा—भगवती, तुमने मेरी १२ वर्ष की तपस्या पूरी की; किस मुख से तुम्हारा गुणानुवाद गाऊँ। मुझे संसार की वे अलभ्य वस्तुएँ प्रदान हों, जो इच्छाओं की सीमा और मेरी अभिलाषाओं का अन्त हैं। मैं वह ऐश्वर्य चाहती हूँ जो सूर्य को भी मात कर दे।

देवी ने मुस्कुराकर कहा—स्वीकृत है।

तारा—वह धन जो कालचक्र को भी लज्जित करे।

देवी ने मुस्कुराकर कहा—स्वीकृत है।

तारा—वह सौन्दर्य जो अद्वितीय हो।

देवी ने मुस्कुराकर कहा—यह भी स्वीकृत है।

(२)

तारा कुँवरि ने शेष रात्रि जागकर व्यतीत की। प्रभातकाल के समय उसकी आँखें, क्षण भर के लिए, झपक गयी। जागी तो देखा कि मैं सिर से पाँव तक हीरे व जवाहिरों से लदी हूँ। उसके विशाल भवन के कलश आकाश से बातें कर रहे थे—सारा भवन संगमरमर से बना हुआ, अमूल्य पत्थरों से जड़ा हुआ। द्वार पर नौबत बज रही थी। उसके आनन्ददायक सुहावने शब्द आकाश में गूँज रहे थे। द्वार पर मीलों तक हरियाली छाई थी। दासियाँ स्वर्णाभूषणों से लदी हुई, सुनहरे कपड़े पहने हुए चारों ओर दौड़ती थीं। तारा को देखते ही वे स्वर्ण के लोटे और कटोरे लेकर दौड़ीं। तारा ने देखा, कि मेरा पलंग हाथी-दाँत का है। भूमि पर बड़े कोमल बिछौने बिछे हुए हैं। सिरहाने की ओर एक बड़ा सुन्दर ऊँचा शीशा रखा हुआ है। तारा ने उसमें अपना रूप देखा, चकित रह गयी। उसका सुन्दर रूप चन्द्रमा को भी लज्जित करता था। दीवार पर अनेकानेक सुप्रसिद्ध चित्रकारों के मनोमोहक चित्र टँगे थे। पर, ये सब-के-सब तारा की सुन्दरता के आगे तुच्छ थे। तारा को अपनी सुन्दरता का गर्व हुआ। वह कई दासियों को लेकर वाटिका में गयी। वहाँ की छटा देखकर वह मुग्ध हो गयी। वायु में गुलाब और केसर घुले हुए थे, रंग-

बिरंग के पुष्प, वायु के मन्द-मन्द झोंको से, मतवालों की तरह झूम रहे थे। तारा ने एक गुलाब का फूल तोड लिया और उसके रंग और कोमलता की अपने अधर-पल्लव से समानता करने लगी। गुलाब में वह कोमलता न थी। वाटिका के मध्य में एक बिल्लौर जटित हौज था। इसमें हंस और बत्तख किलोलें कर रहे थे। यकायक तारा को ध्यान आया, मेरे घर के लोग कहाँ हैं। दासियों से पूछा। उन्होंने कहा, श्रीमती, वे लोग पुराने घर में हैं। तारा ने अपनी अटारी पर जाकर देखा। उसे अपना पहला घर एक साधारण झोंपडे की तरह दृष्टिगोचर हुआ। उसकी बहिनें उसकी साधारण दासियों के समान भी न थीं। माँ को देखा, वह आँगन में बैठी चरखा कात रही थी। तारा पहले सोचा करती थी कि जब मेरे दिन चमकेंगे तब मैं इन लोगों को भी अपने साथ रक्खूँगी और उनकी भलीभाँति सेवा करूँगी। पर, इस समय धन के गर्व ने उसकी पवित्र हार्दिक इच्छा को निर्बल बना दिया था। उसने घरवालों को स्नेह-रहित दृष्टि से देखा और तब वह उस मनोहर गान को सुनने चली गयी जिसकी प्रतिध्वनि उसके कानों में आ रही थी।

एक बारगी जोर से एक धड़ाका हुआ, बिजली चमकी और बिजली की छटाओं में से एक ज्योतिस्वरूप नवयुवक निकलकर तारा के सामने नम्रता से खडा हो गया। तारा ने पूछा, तुम कौन हो? नवयुवक ने कहा—श्रीमती, मुझे विद्युतसिंह कहते हैं। मैं श्रीमती का आज्ञाकारी सेवक हूँ।

उसके विदा होते ही वायु के उष्ण झोंके चलने लगे। आकाश में एक प्रकाश दृष्टिगोचर हुआ। वह क्षणमात्र में उतरकर तारा कुँवरि के समीप ठहर गया। उसमें से एक ज्वालारूपी मनुष्य ने निकलकर तारा के पदों को चूमा। तारा ने पूछा, तुम कौन हो? उस मनुष्य ने उत्तर दिया, श्रीमती, मेरा नाम अग्निसिंह है। मैं श्रीमती का आज्ञाकारी सेवक हूँ।

वह अभी जाने भी न पाया था कि एकबारगी सारा महल ज्योति से प्रकाशमान हो गया। जान पड़ता था, सैकड़ों बिजलियाँ मिलकर चमक रही हैं। वायु सवेग हो गयी। एक जगमगाता हुआ सिंहासन आकाश पर दीख पडा। वह शीघ्रता से पृथ्वी की ओर चला और तारा कुँवरि के पास आकर ठहर गया। उससे एक प्रकाशमय रूप का बालक, जिसके रूप से गम्भीरता प्रकट होती

थी, निकलकर तारा के सामने शिष्टभाव से खड़ा हो गया। तारा ने पूछा, तुम कौन हो ? बालक ने उत्तर दिया, श्रीमती, मुझे मिस्टर रेडियम कहते हैं। मैं श्रीमती का आज्ञापालक हूँ।

(३)

धनी लोग तारा के भय से थर्राने लगे। उसके आश्चर्य-जनक सौन्दर्य ने संसार को चकित कर दिया। बड़े-बड़े महीपति उसकी चौखट पर माथा रगड़ने लगे। जिसकी ओर उसकी कृपा-दृष्टि हो जाती, वह अपना अहोभाग्य समझता— सदैव के लिए उसका बेदाम,का गुलाम बन जाता।

एक दिन तारा अपनी आनन्द-वाटिका में टहल रही थी। अचानक किसी के गाने का मनोहर शब्द सुनायी दिया। तारा विक्षिप्त हो गयी। उसके दरबार में संसार के अच्छे-अच्छे गवैये मौजूद थे, पर वह चित्ताकर्षकता, जो इन सुरों में थी, कभी अवगत न हुई थी। तारा ने गायक को बुला भेजा।

एक क्षण के अनन्तर वाटिका में एक साधु आया, सिर पर जटाएँ, शरीर में भस्म रमाये। उसके साथ एक टूटा हुआ बीन था। उसी से वह प्रभावशाली स्वर निकलता जो हृदय के अनुरक्त स्वरों से कहीं प्रिय था। साधु आकर हौज के किनारे बैठ गया। उसने तारा के सामने शिष्ट-भाव नहीं दिखाया। आश्चर्य से इधर-उधर दृष्टि नहीं डाली। उस रमणीय स्थान पर वह अपना सुर अलापने लगा। तारा का चित्त विचलित हो उठा। दिल में अपार अनुराग का संचार हुआ। मदमत्त होकर टहलने लगी। साधु के सुमनोहर मधुर अलाप से पक्षी मग्न हो गये। पानी में लहरें उठने लगीं। वृक्ष झूमने लगे। तारा ने उन चित्ता-कर्षक सुरों से एक चित्र खिंचते हुए देखा। धीरे-धीरे चित्र प्रकट होने लगा। उसमें स्फूर्ति आयी। और तब, वह खड़ी होकर नृत्य करने लगी। तारा चौंक पड़ी। उसने देखा कि यह मेरा ही चित्र है। नहीं, मैं ही हूँ। मैं ही बीन की तान पर नृत्य कर रही हूँ। उसे आश्चर्य हुआ कि मे संसार की अलभ्य वस्तुओं की रानी हूँ अथवा एक स्वर-चित्र! वह सिर धुनने लगी और मतवाली होकर साधु के पैरों से जा लगी। उसकी दृष्टि में एक आश्चर्य-जनक परिवर्तन हो गया। सामने के फले-फूले वृक्ष और तरंगें मारता हुआ हौज, और मनोहर कुंज सब लोप हो गये। केवल वही साधु बैठा बीन बजा रहा था, और वह

स्वय उसकी तालों पर थिरक रही थी। वह साधु अब प्रकाशमय तारा और अलौकिक सौन्दर्य की मूर्ति बन गया था। जब मधुर अलाप बन्द हुआ तब तारा होश में आयी। उसका चित्त हाथ से जा चुका था। वह उस विलक्षण साधु के हाथों बिक चुकी थी।

तारा बोली—स्वामी जी! यह महल, यह धन, यह सुख और सौंदर्य सब आपके चरण-कमल पर निछावर है। इस अंधेरे महल को अपने कोमल चरणों से प्रकाशमान कीजिए।

साधु—साधुओं को महल और धन का क्या काम? मैं इस घर में नहीं ठहर सकता।

तारा—ससार के सारे सुख आपके लिए उपस्थित हैं।

साधु—मुझे सुखों की कामना नहीं।

तारा—मैं आजीवन आपकी दासी रहूँगी। यह कहकर तारा ने आइने में अपने अलौकिक सौंदर्य की छटा देखी और उसके नेत्रों में चंचलता आ गयी।

साधु—नहीं तारा कुँवरि, मैं इस योग्य नहीं हूँ। यह कहकर साधु ने बीन उठाया और द्वार की ओर चला। तारा का गर्व टूक-टूक हो गया। लज्जा से सिर झुक गया। वह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ी। मन में सोचा, मैं धन में, ऐश्वर्य में, सौन्दर्य मे, जो अपनी समता नहीं रखती, एक साधु की दृष्टि में इतनी तुच्छ!!

(४)

तारा को अब किसी प्रकार चैन नही था। उसे अपना भवन और ऐश्वर्य भयानक मालूम होने लगा। बस, साधु का एक चन्द्रस्वरूप उसकी आँखों में नाच रहा था और उसका स्वर्गीय गान कानों में गूँज रहा था। उसने अपने गुप्तचरों को बुलाया और साधु का पता लगाने की आज्ञा दी। बहुत छानबीन के पश्चात् उसकी कुटी का पता लगा। तारा नित्यप्रति, वायुयान पर बैठकर, साधु के पास जाती। कभी उस पर लाल, जवाहिर लुटाती, कभी रत्न और आभूषण की छटा दिखाती। पर, साधु इससे तनिक भी विचलित न हुआ। तारा के मायाजाल का उस पर कुछ भी असर न हुआ।

तब, तारा कुँवरि फिर दुर्गा के मन्दिर में गयी और देवी के चरणों पर सिर

रखकर बोली—माता, तुमने मुझे संसार के सारे दुर्लभ पदार्थ प्रदान किये। मैंने समझा था कि ऐश्वर्य में संसार को दास बना लेने की शक्ति है। पर मुझे अब ज्ञान हुआ कि प्रेम पर ऐश्वर्य, सौन्दर्य और वैभव का कुछ भी अधिकार नहीं। अब एक बार मुझ पर फिर वही कृपादृष्टि हो। कुछ ऐसा कीजिए कि जिस निष्ठुर के प्रेम में मैं मरी जा रही हूँ, उसे भी मुझे देखे बिना चैन न आवे—उसकी आँखों में भी नींद हराम हो जाय, वह भी मेरे प्रेम-मद में चूर हो जाय।

देवी के होंठ खुले। वह मुस्कुराई, उसके अधर-पल्लव विकसित हुए। बोली सुनायी दी—तारा मैं संसार के सारे पदार्थ प्रदान कर सकती हूँ, पर स्वर्ग-सुख मेरी शक्ति से बाहर है। 'प्रेम' स्वर्ग-सुख का मूल है।

तारा—माता, संसार के सारे ऐश्वर्य मुझे जंजाल जान पड़ते हैं। बताइए, मैं अपने प्रीतम को कैसे पाऊँगी?

देवी—उसका एक ही मार्ग है। पर है वह बहुत कठिन। भला, तुम उस पर चल सकोगी?

तारा—वह कितना ही कठिन हो, मैं उस मार्ग का अवलम्बन अवश्य करूँगी।

देवी—अच्छा, तो सुनो वह सेवा-मार्ग है। सेवा करो, प्रेम सेवा ही से मिल सकता है।

(५)

तारा ने अपने बहुमूल्य आभूषणों और रंगीन वस्त्रों को उतार दिया। दासियों से विदा हुई। राजभवन को त्याग दिया, अकेले, नंगे पैर साधु की कुटी में चली आयी और सेवा-मार्ग का अवलम्बन किया।

वह कुछ रात रहे उठती। कुटी मे झाड़ू देती। साधु के लिए गंगा से जल लाती। जगलों से पुष्प चुनती। साधु नींद मे होते तो वह उन्हे पखा झलती। जङ्गली फल तोड़ लाती और केले के पत्तल बनाकर साधु के सम्मुख रखती। साधु नदी में स्नान करने जाया करते थे। तारा रास्ते से ककर चुनती। उसने कुटी के चारों ओर पुष्प लगाये। गगा से पानी लाकर सींचती। उन्हें हरा-भरा देखकर प्रसन्न होती। उसने मदार की रुई बटोरी, साधु के लिए नर्म

गद्दे तैयार किये। अब और कोई कामना न थी। सेवा स्वयं अपना पुरस्कार और फल थी।

तारा को कई-कई दिन उपवास करना पड़ता था। हाथों में घट्ठे पड़ गये। पैर काँटों से चलनी हो गये। धूप से कोमल गात मुरझा गया, पर उसके हृदय में अब स्वार्थ और गर्व का शासन न था। वहाँ अब प्रेम का राज था, वहाँ अब उस सेवा की लगन थी—जिससे कलुषता की जगह आनन्द का स्रोत बहता है और काँटे पुष्प बन जाते हैं; जहाँ अश्रु-धारा की जगह नेत्रों से अमृत-जल की वर्षा होती और दुःख विलाप की जगह आनन्द के राग निकलते हैं, जहाँ के पत्थर रुई से ज्यादा कोमल हैं और शीतल वायु से भी मनोहर। तारा भूल गयी कि मैं सौंदर्य में अद्वितीय हूँ। धन-विलासिनी तारा अब केवल प्रेम की दासी थी।

साधु को वन के खगों और मृगों से प्रेम था। वे कुटी के पास एकत्रित हो जाते। तारा उन्हें पानी पिलाती, दाने चुगाती, गोद में लेकर उनका दुलार करती। विषधर साँप और भयानक जन्तु उसके प्रेम के प्रभाव से उसके सेवक हो गये।

बहुधा रोगी मनुष्य साधु के पास आशीर्वाद लेने आते थे। तारा रोगियों की सेवा-शुश्रूषा करती, जंगल से जड़ी-बूटियाँ ढूँढ लाती, उनके लिए औषधि बनाती, उनके घाव धोती, घावों पर मरहम रखती, रातभर बैठी उन्हें पंखा झलती। साधु के आशीर्वाद को उसकी सेवा प्रभावयुक्त बना देती थी।

इस प्रकार कितने ही वर्ष बीत गये। गर्मी के दिन थे, पृथ्वी तवे की तरह जल रही थी। हरे-भरे वृक्ष सूख जाते थे। गंगा गर्मी से सिमट गयी थी। तारा को पानी लेने के लिए बहुत दूर रेत में चलना पड़ता। उसका कोमल अंग चूर-चूर हो जाता। जलती हुई रेत में तलवे भुन जाते। इसी दशा में एक दिन वह हताश होकर एक वृक्ष के नीचे क्षणभर दम लेने के लिए बैठ गयी। उसके नेत्र बन्द हो गये। उसने देखा, देवी मेरे सम्मुख खड़ी, कृपादृष्टि से मुझे देख रही है। तारा ने दौड़कर उनके पदों को चूमा।

देवी ने पूछा—तारा, तेरी अभिलाषा पूरी हुई?

तारा—हाँ माता, मेरी अभिलाषा पूरी हुई।

देवी—तुझे प्रेम मिल गया ?

तारा—नहीं माता, मुझे उससे भी उत्तम पदार्थ मिल गया। मुझे प्रेम के हीरे के बदले सेवा का पारस मिल गया। मुझे ज्ञात हुआ कि प्रेम सेवा का चाकर है। सेवा के सामने सिर झुकाकर अब मैं प्रेम-भिक्षा नहीं चाहती। अब मुझे किसी दूसरे सुख की अभिलाषा नहीं। सेवा ने मुझे प्रेम, आदर, सुख सबसे निवृत्त कर दिया।

देवी इस बार मुस्कुरायी नहीं। उसने तारा को हृदय से लगाया और दृष्टि से ओझल हो गयी।

(६)

सन्ध्या समय था! आकाश में तारे ऐसे चमकते थे जैसे कमल पर पानी की बूँदें। वायु में चित्ताकर्षक शीतलता आ गयी थी। तारा एक वृक्ष के नीचे खड़ी चिड़ियों को दाना चुगाती थी कि यकायक साधु ने आकर उसके चरणों पर सिर झुकाया और बोला—तारा, तुमने मुझे जीत लिया। तुम्हारा ऐश्वर्य धन और सौन्दर्य जो कुछ न कर सका, वह तुम्हारी सेवा ने कर दिखाया। तुमने मुझे अपने प्रेम में आसक्त कर लिया। अब मैं तुम्हारा दास हूँ। बोलो, तुम मुझसे क्या चाहती हो ? तुम्हारे संकेत पर अब मैं अपना योग और वैराग्य सब कुछ न्योछावर कर देने के लिए प्रस्तुत हूँ!

तारा—स्वामीजी, मुझे अब कोई इच्छा नहीं। मैं केवल सेवा की आज्ञा चाहती हूँ।

साधु—मैं दिखा दूँगा कि योग-साधकर भी मनुष्य का हृदय निर्जीव नहीं होता। मैं भँवरे के सदृश तुम्हारे सौन्दर्य पर मँडराऊँगा। पपीहे की तरह तुम्हारे प्रेम की रट लगाऊँगा। हम दोनों प्रेम की नौका पर ऐश्वर्य और वैभव-नदी की सैर करेंगे, प्रेम-कुञ्जों में बैठकर प्रेम-चर्चा करेंगे और आनन्द के मनोहर राग गावेंगे।

तारा ने कहा—स्वामीजी, सेवा-मार्ग पर चलकर मैं अब अभिलाषाओं से पूरी हो गयी। अब हृदय में और कोई इच्छा शेष नहीं है।

साधु ने इन शब्दों को सुना, तारा के चरणों पर माथा नवाया और गङ्गा की ओर चल दिया।

—:-०-:—

शिकारी राजकुमार

(१)

मई का महीना और मध्यान्ह का समय था। सूर्य की आँखे सामने से हट-कर सिर पर जा पहुँची थीं, इसलिए उनमें शील न था। ऐसा विदित होता था मानों पृथ्वी उसके भय से थर-थर काँप रही थी। ठीक ऐसे ही समय एक मनुष्य एक हिरन के पीछे उन्मत्त भाव से घोडा फेंके चला आता था। उसका मुँह लाल हो रहा था और घोडा पसीने से लथ-पथ। किन्तु मृग भी ऐसे भागता था मानों वायुवेग से जा रहा था। ऐसा प्रतीत होता था कि उसके पद भूमि को स्पर्श नहीं करते। इसी दौड़ की जीत-हार पर उसका जीवन निर्भर था।

पछुआ हवा बडे जोर से चल रही थी। ऐसा जान पडता था मानों अग्नि और धूल की वर्षा हो रही हो। घोडे के नेत्र रक्तवर्ण हो रहे थे और अश्वारोही के सारे शरीर का रुधिर उबल-सा रहा था। किन्तु मृग का भागना उसे इस बात का अवसर न देता था कि वह अपनी बन्दूक को सम्हाले। कितने ही ऊख के खेत, ढाक के वन और पहाड सामने पडे और तुरन्त ही 'सपने की सम्पत्ति' की भाँति अदृश्य हो गये।

क्रमशः मृग और अश्वारोही के बीच अधिक अन्तर होता जाता था कि अचानक मृग पीछे की ओर मुडा। सामने एक नदी का बड़ा ही ऊँचा करार, दीवार की भाँति खडा था। आगे भागने की राह बन्द थी, और उस पर से कूदना मानों मृत्यु के मुख में कूदना था। हिरन का शरीर शिथिल पड गया। उसने एक करुणा-भरी दृष्टि चारों ओर फेरी। किन्तु उसे हर तरफ मृत्यु-ही-मृत्यु दृष्टिगोचर होती थी। अश्वारोही के लिए इतना समय बहुत था। उसकी बन्दूक से गोली क्या छूटी मानों मृत्यु ने एक महा भयकर जयध्वनि के साथ अग्नि की एक प्रचण्ड ज्वाला उगल दी। हिरन भूमि पर लोट गया।

(२)

मृग पृथ्वी पर पडा तडप रहा था और अश्वारोही की भयङ्कर और हिंसा-प्रिय आँखों से प्रसन्नता की ज्योति निकल रही थी। ऐसा जान पडता था कि

उसने असाध्य साधन कर लिया। उसने उस पशु के शव को नापने के बाद उसके सींगों को बड़े ध्यान से देखा और मन-ही-मन प्रसन्न हो रहा था कि इससे कमरे की सजावट दूनी हो जायगी और नेत्र सर्वदा उस सजावट का आनन्द सुख से भोगेंगे।

जब तक वह इस ध्यान में मग्न था, उसको सूर्य की प्रचण्ड किरणों का लेश-मात्र भी ध्यान न था, किन्तु ज्योंही उसका ध्यान उधर से फिरा, वह उष्णता मे विह्वल हो उठा और करुणापूर्ण आँखें नदी की ओर डालीं; लेकिन वहाँ तक पहुँचने का कोई भी मार्ग न देख पड़ा और न कोई वृक्ष ही देख पडा, जिसकी छाँह में वह जरा विश्राम करता।

इसी चिन्तावस्था मे एक अति दीर्घकाय पुरुष नीचे से उछलकर कगारे के ऊपर आया और अश्वारोही के सम्मुख खड़ा हो गया। अश्वारोही उसको देख बहुत ही अचंभित हुआ। नवागन्तुक एक बहुत ही सुन्दर और हृष्ट-पुष्ट मनुष्य था। मुख के भाव उस हृदय की स्वच्छता और चरित्र की निर्मलता का पता देते थे। वह बहुत ही दृढ़प्रतिज्ञ, आशा-निराशा तथा भय से बिलकुल बेपरवाह-सा जान पडता था।

मृग को देखकर उस सन्यासी ने बडे स्वाधीन-भाव से कहा—राजकुमार, तुम्हें आज बहुत ही अच्छा शिकार हाथ लगा। इतना बड़ा मृग इस सीमा में कदाचित् ही दिखाई पड़ता है।

राजकुमार के अचम्भे की सीमा न रही। उसने देखा कि साधु उसे पहचानता है।

राजकुमार बोला—जी हाँ, मैं भी यही खयाल करता हूँ। मैंने भी आज तक इतना बड़ा हिरन नहीं देखा। लेकिन इसके पीछे मुझे आज बहुत हैरान होना पड़ा।

सन्यासी ने दयापूर्वक कहा—निःसन्देह तुम्हें दुःख उठाना पड़ा होगा। तुम्हारा मुख लाल हो रहा है और घोड़ा भी बेदम हो गया है। क्या तुम्हारे संगी बहुत पीछे रह गये?

इसका उत्तर राजकुमार ने बिलकुल बेपरवाही मे दिया, मानो उसे इसकी कुछ भी चिन्ता न थी।

सन्यासी ने कहा—यहाँ ऐसी कड़ी धूप और आँधी में खड़े तुम कब तक उनकी राह देखोगे? मेरी कुटी में चलकर जरा विश्राम कर लो। तुम्हें परमात्मा ने ऐश्वर्य दिया है, लेकिन कुछ देर के लिए संन्यासाश्रम का रंग भी देखो और वनस्पतियों और नदी के शीतल जल का स्वाद लो।

यह कहकर सन्यासी ने उस मृग के रक्तमय मृत शरीर को ऐसी सुगमता से उठाकर कन्धे पर धर लिया मानों वह एक घास का गट्ठा था, और राजकुमार से कहा—मैं तो प्रायः करार से ही नीचे उतर जाया करता हूँ, किन्तु तुम्हारा घोड़ा सम्भव है, न उतर सके। अतएव एक दिन की राह छोड़कर ६ मास की राह चलेंगे। घाट यहाँ से थोड़ी ही दूर है और वहीं मेरी कुटी है।

राजकुमार सन्यासी के पीछे चला। उसे सन्यासी के शारीरिक बल पर अचम्भा हो रहा था। आध घंटे तक दोनों चुपचाप चलते रहे। इसके बाद ढालू भूमि मिलनी शुरू हुई और थोड़ी ही देर में घाट आ पहुँचा। वहीं कदम्ब-कुञ्ज की घनी छाया में, जहाँ सर्वदा मृगों की सभा सुशोभित रहती, नदी की तरङ्गों का मधुर स्वर सर्वदा सुनायी दिया करता है, जहाँ हरियाली पर मयूर थिरकता, कपोतादि पक्षी मस्त होकर झूमते, लता-द्रुमादि से सुशोभित सन्यासी की एक छोटी-सी कुटी थी।

(३)

सन्यासी की कुटी हरे-भरे वृक्षों के नीचे सरलता और सन्तोष का चित्र बन रही थी। राजकुमार की अवस्था वहाँ पहुँचते ही बदल गयी। वहाँ की शीतल वायु का प्रभाव उस पर ऐसा पड़ा जैसा मुरझाते हुए वृक्ष पर वर्षा का। उसे आज विदित हुआ कि तृप्ति कुछ स्वादिष्ट व्यञ्जनों ही पर निर्भर नहीं है और न निद्रा सुनहरे तकियों की ही आवश्यकता रखती है।

शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु चल रही थी। सूर्य भगवान् अस्ताचल को पयान करते हुए इस लोक को तृषित नेत्रों से देखते जाते थे और सन्यासी एक वृक्ष के नीचे बैठा हुआ गा रहा था—

"ऊधो कर्मन की गति न्यारी"

राजकुमार के कानों में स्वर की भनक पड़ी, उठ बैठा और सुनने लगा। उसने बड़े-बड़े कलावतों के गाने सुने थे, किन्तु आज जैसा आनन्द उसे कभी

प्राप्त नहीं हुआ था। इस पद ने उसके ऊपर मानों मोहनी-मन्त्र का जाल बिछा दिया। वह बिल्कुल बेसुध हो गया। सन्यासी की ध्वनि में कोयल की कूक सरीखी मधुरता थी।

सम्मुख नदी का जल गुलाबी चादर की भाँति प्रतीत होता था। कूलद्वय की रेत चन्दन की चौकी-सी दीखती थी। राजकुमार को यह दृश्य स्वर्गीय-सा जान पड़ने लगा। उस पर तैरनेवाले जल-जन्तु ज्योतिर्मय आत्मा के सदृश देख पड़ते थे, जो गाने का आनन्द उठाकर मस्त-से हो गये थे।

जब गाना समाप्त हो गया, राजकुमार जाकर संन्यासी से सामने बैठ गया और भक्तिपूर्वक बोला—महात्मन्! आपका प्रेम और वैराग्य सराहनीय है। मेरे हृदय पर इसका जो प्रभाव पड़ा है, वह चिरस्थायी रहेगा। यद्यपि सम्मुख प्रशंसा करना सर्वथा अनुचित है, किन्तु इतना मैं अवश्य कहूँगा कि आपके प्रेम की गम्भीरता सराहनीय है। यदि मैं गृहस्थी के बन्धन में न पड़ा होता तो आपके चरणों से पृथक् होने का ध्यान स्वप्न में भी न करता।

इसी अनुरागावस्था में राजकुमार कितनी ही ऐसी बातें कह गया जो कि स्पष्ट रूप से उसके आन्तरिक भावों का विरोध करती थीं। सन्यासी मुस्कुराकर बोला—तुम्हारी बातों से मैं बहुत प्रसन्न हूँ और मेरी उत्कट इच्छा है कि तुमको कुछ ठहराऊँ, किन्तु यदि मैं जाने भी दूँ तो इस सूर्यास्त के समय तुम जा नहीं सकते। तुम्हारा रीवाँ पहुँचना दुष्कर हो जायगा। तुम जैसे आखेट-प्रिय हो वैसा ही मैं भी हूँ। हम दोनों को अपने-अपने गुण दिखाने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ है। कदाचित् तुम भय से न रुकते, किन्तु शिकार के लालच से अवश्य रहोगे।

राजकुमार को तुरन्त ही मालूम हो गया कि जो बातें उन्होंने अभी-अभी संन्यासी से कही थीं, वे बिलकुल ऊपरी और दिखावे की थीं और हार्दिक भाव उनसे प्रकट नहीं हुए थे। आजन्म सन्यासी के समीप रहना तो दूर, वहाँ एक रात बिताना उसको कठिन जान पड़ने लगा। घरवाले उद्विग्न हो जायँगे और मालूम नहीं क्या सोचेंगे। साथियों की जान संकट में होगी। घोड़ा बेदम हो रहा है। उस पर ४० मील जाना बहुत ही कठिन और बड़े साहस का काम है। लेकिन यह महात्मा शिकार खेलते हैं—यह बड़ी अजीब बात

है। कदाचित् यह वेदान्ती हैं, ऐसे वेदान्ती जो जीवन और मृत्यु मनुष्य के हाथ नहीं मानते। इनके साथ शिकार में बड़ा आनन्द आवेगा।

यह सब सोच-विचारकर उन्होंने सन्यासी का आतिथ्य स्वीकार किया, उन्हें धन्यवाद दिया और अपने भाग्य की प्रशसा की, जिसने उन्हें कुछ काल तक और साधु-सग से लाभ उठाने का अवसर दिया।

(४)

रात दस बजे का समय था। घनी अँधियारी छायी हुई थी। सन्यासी ने कहा—अब हमारे चलने का समय हो गया है।

राजकुमार पहले ही से प्रस्तुत था। बन्दूक कन्धे पर रखकर बोला—इस अन्धकार में शूकर अधिकता से मिलेंगे; किन्तु ये पशु बड़े भयानक हैं।

सन्यासी ने एक मोटा सोटा हाथ में लिया और कहा—कदाचित् इससे भी अच्छे शिकार हाथ आवें। मैं जब अकेला जाता हूँ, कभी खाली नहीं लौटता। आज तो हम दो हैं।

दोनों शिकारी नदी के तट पर नालों और रेत के टीलों को पार करते और झाड़ियों से अटकते चुपचाप चले जा रहे थे। एक ओर श्यमावर्ण नदी थी, जिसमें नक्षत्रों का प्रतिबिम्ब नाचता दिखायी देता था और लहरें गान कर रही थीं। दूसरी ओर घनघोर अन्धकार, जिसमें कभी-कभी केवल खद्योतों के चमकने से एक क्षण-स्थायी प्रकाश फैल जाता था। मालूम होता था कि वे भी अन्धेरे में निकलने से डरते हैं।

ऐसी अवस्था में कोई एक घण्टा चलने के बाद वह एक ऐसे स्थान पर पहुँचे, जहाँ एक ऊँचे टीले पर घने वृक्षों के नीचे आग जलती दिखायी पड़ी। उस समय इन लोगों को मालूम हुआ कि ससार के अतिरिक्त और भी कई वस्तुएँ हैं।

सन्यासी ने ठहरने का सकेत किया। दोनों एक पेड़ की ओट में खड़े होकर ध्यानपूर्वक देखने लगे। राजकुमार ने बन्दूक भर ली। टीले पर एक बड़ा छायादार वट-वृक्ष था। उसी के नीचे अन्धकार में १०-१२ मनुष्य अस्त्र-शस्त्रों मे सुसज्जित मिर्जई पहिने चरस का दम लगा रहे थे। इनमें से प्रायः सभी

लम्बे थे। सभी के सीने चौड़े और सभी हृष्ट-पुष्ट। मालूम होता था कि सैनिकों का एक दल विश्राम कर रहा है।

राजकुमार ने पूछा—यह लोग शिकारी हैं? सन्यासी ने धीरे से कहा—बड़े शिकारी हैं। ये राह चलते यात्रियों का शिकार करते हैं। ये बड़े भयानक हिंस्र पशु हैं। इनके अत्याचार से गाँव-के-गाँव बर्बाद हो गये और जितनों को इन्होंने मारा है, उनका हिसाब परमात्मा ही जानता है। यदि आपको शिकार करना हो तो इनका शिकार कीजिए। ऐसा शिकार आप बहुत प्रयत्न करने पर भी नहीं पा सकते। यही पशु हैं, जिन पर आपको शस्त्रों का प्रहार करना उचित है। राजाओं और अधिकारियों के शिकार यही हैं। इससे आपका नाम और यश फैलेगा।

(५)

राजकुमार के जी में आया कि दो-एक को मार डालें; किन्तु संन्यासी ने रोका और कहा—इन्हें छेड़ना ठीक नहीं। अगर यह कुछ उपद्रव न करें, तो भी बचकर निकल जायँगे। आगे चलो, सम्भव है कि इससे भी अच्छे शिकार हाथ आवें।

तिथि सप्तमी थी। चन्द्रमा भी उदय हो आया। इन लोगों ने नदी का किनारा छोड़ दिया था। जंगल भी पीछे रह गया था। सामने एक कच्ची सड़क दिखायी पड़ी और थोड़ी देर में कुछ बस्ती भी देख पड़ने लगी। संन्यासी एक विशाल प्रासाद के सामने आकर रुक गये और राजकुमार से बोले—आओ इस मौलसरी के वृक्ष पर बैठें। परन्तु देखो, बोलना मत। नहीं तो दोनों की जान के लाले पड़ जायँगे। इसमें एक बड़ा भयानक हिंस्र जीव रहता है, जिसने अनगिनत जीवधारियों का वध किया है। कदाचित् हम लोग आज इसको संसार से मुक्त कर दें।

राजकुमार बहुत प्रसन्न हुआ। सोचने लगा, चलो, रात-भर की दौड़ तो सुफल हुई। दोनों मौलसरी पर चढ़कर बैठ गये। राजकुमार ने अपनी बन्दूक सँभाल ली। और शिकार की, जिसे वह तेंदुआ समझे हुए था, बाट देखने लगा।

रात आधी से अधिक व्यतीत हो चुकी थी। यकायक महल के समीप कुछ हलचल मालूम हुई और बैठक के द्वार खुल गये। मोमबत्तियों के जलने से सारा

हाता प्रकाशमान हो गया। कमरे के हर कोने में सुख की सामग्री दिखायी दे रही थी। बीच में एक हृष्ट-पुष्ट मनुष्य गले में रेशमी चादर डाले, माथे पर केसर का अर्ध लम्बाकार तिलक लगाये, मसनद के सहारे बैठा सुनहरी मुँहनाल से लच्छेदार धुँआ फेंक रहा था। इतने ही में उन्होंने देखा कि नर्तकियों के दल-के-दल चले आ रहे हैं। उनके हाव-भाव व कटाक्ष के शर चलने लगे। समाजियों ने सुर मिलाया। गाना आरम्भ हुआ और साथ-ही-साथ मद्यपान भी चलने लगा।

राजकुमार ने अचभित होकर पूछा—यह तो कोई बहुत बड़ा रईस जान पड़ता है।

सन्यासी ने उत्तर दिया—नहीं, यह रईस नहीं हैं, एक बड़े मन्दिर के महत्व हैं, साधु हैं। ससार का त्याग कर चुके हैं। सासारिक वस्तुओं की ओर आँख नहीं उठाते, पूर्ण ब्रह्मज्ञान की बातें करते है। यह सब सामान इनकी आत्मा की प्रसन्नता के लिए हैं। इन्द्रियों को वश में किये हुए इन्हें बहुत दिन हुए। सहस्रों सीधे-सादे मनुष्य इन पर विश्वास करते हैं। इनको अपना देवता समझते हैं।—यदि आप शिकार करना चाहते हैं तो इनका कीजिए। यही राजाओं और अधिकारियों के शिकार हैं। ऐसे रँगे हुए सियारों से ससार को मुक्त करना आपका परम धर्म है। इससे आपकी प्रजा का हित होगा तथा आपका नाम और यश फैलेगा।

(६)

दोनों शिकारी नीचे उतरे। सन्यासी ने कहा—अब रात अधिक बीत चुकी है। तुम बहुत थक गये होगे। किन्तु राजकुमारों के साथ आखेट करने का अवसर मुझे बहुत कम प्राप्त होता है। अतएव एक शिकार का पता और लगाकर तब लौटेंगे।

राजकुमार को इन शिकारों में सच्चे उपदेश का सुख प्राप्त हो रहा था। बोला—स्वामीजी, थकने का नाम न लीजिए। यदि मैं वर्षों आपकी सेवा में रहता तो और न जाने कितने ऐसे आखेट करना सीख जाता।

दोनों फिर आगे बढ़े। अब रास्ता स्वच्छ और चौड़ा था। हाँ, सड़क कदाचित् कच्ची ही थी। सड़क के दोनों ओर वृक्षों की पंक्तियाँ थीं। किसी-

किसी आम्र वृक्ष के नीचे रखवाले सो रहे थे। घंटेभर बाद दोनों शिकारियों ने एक ऐसी बस्ती में प्रवेश किया, जहाँ की सड़कों, लालटेनों और अट्टालिकाओं से मालूम होता था कि कोई बड़ा नगर है। सन्यासीजी एक विशाल भवन के सामने एक वृक्ष के नीचे ठहर गये और राजकुमार से बोले—यह सरकारी कचहरी है। यहाँ राज्य का एक बड़ा कर्मचारी रहता है। उसे सूबेदार कहते हैं। इसकी कचहरी दिन को भी लगती है और रात को भी। यहाँ न्याय, सुवर्ण और रत्नादिकों के मोल बिकता है। यहाँ की न्यायप्रियता द्रव्य पर निर्भर है। धनवान दरिद्रों को पैरों तले कुचलते हैं और उनकी गोहार कोई भी नहीं सुनता।

यही बातें हो रही थीं कि यकायक कोठे पर दो आदमी दिखलायी पड़े। दोनों शिकारी वृक्ष की ओट में छिप गये। सन्यासी ने कहा—शायद सूबेदार साहब कोई मामला तय कर रहे हैं।

ऊपर से आवाज़ आयी, तुमने एक विधवा स्त्री की जायदाद ले ली है, मैं इसे भलीभाँति जानता हूँ। यह कोई छोटा मामला नहीं है। इसमें एक सहस्र से कम पर मैं बातचीत करना नहीं चाहता।

राजकुमार में इससे अधिक सुनने की शक्ति न रही। क्रोध के मारे नेत्र लाल हो गये। यही जी चाहता था कि इस निर्दयी का अभी वध कर दे; किन्तु सन्यासीजी ने रोका। बोले—आज इस शिकार का समय नहीं है। यदि आप ढूँढेंगे तो ऐसे शिकार बहुत मिलेंगे। मैंने इनके कुछ ठिकाने बतला दिये हैं। अब प्रातःकाल होने में अधिक विलम्ब नहीं है। कुटी अभी यहाँ से दस मील होगी। आइए, शीघ्र चलें।

(७)

दोनों शिकारी तीन बजते-बजते फिर कुटी में लौट आये। उस समय बड़ी सुहावनी रात थी। शीतल समीर ने हिला-हिलाकर वृक्षों और पत्तों की निद्रा भङ्ग करना आरम्भ कर दिया था।

आध घण्टे में राजकुमार तैयार हो गये। संन्यासी ने अपना विश्वास और कृतज्ञता प्रकट करते हुए उनके चरणों पर अपना मस्तक नवाया और घोड़े पर सवार हो गये।

सन्यासी ने उनकी पीठ पर कृपा-पूर्वक हाथ फेरा। आशीर्वाद देकर बोले—राजकुमार, तुमसे भेंट होने से मेरा चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। परमात्मा ने तुम्हें अपनी सृष्टि पर राज करने के हेतु जन्म दिया है। तुम्हारा धर्म है कि सदा प्रजापालक बनो। तुम्हें पशुओं का वध करना उचित नहीं। इन दीन पशुओं के वध करने में कोई बहादुरी नहीं। सच्चा साहस और सच्ची बहादुरी दीनों की रक्षा और उनकी सहायता करने में है। विश्वास मानो, जो मनुष्य केवल चित्तविनोदार्थ जीव-हिंसा करता है, वह निर्दयी घातक से भी कठोर-हृदय है। वह घातक के लिए जीविका है, किन्तु शिकारी के लिए केवल दिल बहलाने का एक सामान। तुम्हारे लिए ऐसे शिकारों की आवश्यकता है, जिससे तुम्हारी प्रजा को सुख पहुँचे। नि शब्द पशुओं का वध न करके तुमको उन हिंसकों के पीछे दौड़ना चाहिए, जो धोखा-धड़ी से दूसरों का वध करते हैं। ऐसे आखेट करो जिससे तुम्हारी आत्मा को शान्ति मिले। तुम्हारी कीर्त्ति ससार में फैले। तुम्हारा काम वध करना नहीं, जीवित रखना है। यदि वध करो तो केवल जीवित रखने के लिए। यही तुम्हारा धर्म है। जाओ, परमात्मा तुम्हारा कल्याण करें।

बलिदान

(१)

मनुष्य की आर्थिक अवस्था का सबसे ज्यादा असर उसके नाम पर पड़ता है। मौजे बेला के मँगरू ठाकुर जब से कान्सटिबिल हो गये हैं, उनका नाम मंगलसिंह हो गया है। अब उन्हें कोई मँगरू कहने का साहस नहीं कर सकता। कल्लू अहीर ने जब से हलके के थानेदार साहब से मित्रता कर ली है और गाँव का मुखिया हो गया है, उसका नाम कालिकादीन हो गया है। अब उसे कोई कल्लू कहे तो आँखें लाल-पीली करता है। इसी प्रकार हरखचन्द्र कुरमी अब हरखू हो गया है। आज से बीस साल पहले उसके यहाँ शक्कर बनती थी, कई हल की खेती होती थी और कारोबार खूब फैला हुआ था। लेकिन विदेशी शक्कर की आमद ने उसे मटियामेट कर दिया। धीरे-धीरे कारखाना टूट गया, जमीन टूट गयी, गाहक टूट गये और वह भी टूट गया। सत्तर वर्ष का बूढ़ा, जो एक तकियेदार माचे पर बैठा हुआ नारियल पिया करता था, अब सिर पर टोकरी लिये खाद फेंकने जाता है। परन्तु उसके मुख पर अब भी एक प्रकार की गंभीरता, बातचीत में अब भी एक प्रकार की अकड़, चाल-ढाल में अब भी एक प्रकार का स्वाभिमान भरा हुआ है। इन पर काल की गति का प्रभाव नहीं पड़ा। रस्सी जल गयी, पर बल नहीं टूटा। भले दिन मनुष्य के चरित्र पर, सदैव के लिए अपना चिह्न छोड़ जाते हैं। हरखू के पास अब केवल पाँच बीघा जमीन है। केवल दो बैल हैं। एक ही हल की खेती होती है।

लेकिन पंचायतों में, आपस की कलह में, उसकी सम्मति अब भी सम्मान की दृष्टि से देखी जाती है। वह जो बात कहता है, बेलाग कहता है और गाँव के अनपढ़ उसके सामने मुँह नहीं खोल सकते।

हरखू ने अपने जीवन में कभी दवा नहीं खायी। वह बीमार जरूर पड़ता, कुआर मास में मलेरिया से कभी न बचता था। लेकिन दस-पाँच दिन में वह बिना दवा खाये ही चङ्गा हो जाता था। इस वर्ष भी कार्तिक में बीमार पड़ा और यह समझकर कि अच्छा तो हो ही जाऊँगा, उसने कुछ परवा न की।

परन्तु अब की ज्वर मौत का परवाना लेकर चला था। एक सप्ताह बीता, दूसरा सप्ताह बीता, पूरा महीना बीत गया; पर हरखू चारपाई से न उठा। अब उसे दवा की ज़रूरत मालूम हुई। उसका लडका, गिरधारी कभी नीम के सीखँ पिलाता, कभी गुर्च का सत, कभी गदापूरना की जड, पर इन औषधियों से कोई फायदा न होता था। हरखू को विश्वास हो गया कि अब ससार से चलने के दिन आ गये।

एक दिन मगलसिंह उसे देखने गये, बेचारा टूटी खाट पर पड़ा राम नाम जप रहा था। मगलसिंह ने कहा—बाबा, विना दवा खाये अच्छे न होंगे, कुनैन क्यों नहीं खाते? हरखू ने उदासीन भाव से कहा—तो लेते आना।

दूसरे दिन कालिकादीन ने आकर कहा—बाबा, दो-चार दिन कोई दवा खालो। अब तुम्हारी जवानी की देह थोडे ही है कि बिना दवा-दर्पण के अच्छे हो जाओगे।

हरखू ने उसी मन्द भाव से कहा—तो लेते आना। लेकिन रोगी को देख आना एक बात है, दवा लाकर उसे देना दूसरी बात है। पहली बात शिष्टाचार से होती है, दूसरी सच्ची समवेदना से। न मगलसिंह ने खबर ली, न कालिकादीन ने, न किसी तीसरे ही ने। हरखू दालान में खाट पर पड़ा रहता। मंगलसिंह कभी नजर आ जाते तो कहता—भैया, वह दवा नहीं लाये? मगलसिंह कतराकर निकल जाते। कालिकादीन दिखायी देते तो उनसे भी यही प्रश्न करता, लेकिन यह भी नजर बचा लेता। या तो उसे यह सूझता ही नहीं था कि दवा पैसों के बिना नहीं आती, या वह पैसों को जान से भी प्रिय समझता था, अथवा वह जीवन से निराश हो गया था। उसने कभी दवा के दाम की बात नहीं की। दवा न आयी। उसकी दशा दिनों-दिन बिगड़ती गयी। यहाँ तक कि पाँच महीने कष्ट भोगने के बाद उसने ठीक होली के दिन शरीर त्याग दिया। गिरधारी ने उसका शव बड़ी धूम-धाम से निकाला। क्रिया-कर्म बड़े हौसले से किया। कई गाँव के ब्राह्मणों को निमन्त्रित किया।

बेला में होली न मनायी गयी, न अबीर और गुलाल उड़ी, न डफली बजी, न भग की नालियाँ बहीं। कुछ लोग मन में हरखू को कोसते ज़रूर थे कि इस बुड्ढे को आज ही मरना था, दो-चार दिन बाद मरता।

लेकिन इतना निर्लज्ज कोई न था कि शोक में आनन्द मनाता। वह शहर नहीं था, जहाँ कोई किसी के काम में शरीक नहीं होता, जहाँ पड़ोसी के रोने-पीटने की आवाज हमारे कानों तक नहीं पहुँचती।

(२)

हरखू के खेत गाँववालों की नजर पर चढ़े हुए थे। पाँचों बीघा ज़मीन कुएँ के निकट, खाद-पाँस से लदी हुई, मेड़-बाँध से ठीक थी। उसमें तीन-तीन फसलें पैदा होती थीं। हरखू के मरते ही उस पर चारों ओर से धावे होने लगे। गिरधारी तो क्रिया-कर्म में फँसा हुआ था। उधर गाँव के मनचले किसान लाला ओंकारनाथ को चैन न लेने देते थे, नजराने की बड़ी-बड़ी रक़में पेश हो रही थीं। कोई साल-भर का लगान पेशगी देने पर तैयार था, कोई नजराने की दूनी रकम का दस्तावेज लिखने पर तुला हुआ था; लेकिन ओंकारनाथ सबको टालते रहते थे। उनका विचार था कि गिरधारी का हक़ सबसे ज्यादा है। वह अगर दूसरों से कम भी नजराना दे तो खेत उसी को देने चाहिए। अस्तु, जब गिरधारी क्रिया-कर्म से निवृत्त हो गया और चैत का महीना भी समाप्त होने आया, तब जमींदार साहब ने गिरधारी को बुलाया और उससे पूछा—खेतों के बारे में क्या कहते हो? गिरधारी ने रोकर कहा—सरकार, उन्हीं खेतों ही का तो आसरा है, जोतूँगा नहीं तो क्या करूँगा।

ओंकारनाथ—नहीं, जरूर जोतो, खेत तुम्हारे हैं। मैं तुमसे छोड़ने को नहीं कहता हूँ। हरखू ने उन्हें बीस साल तक जोता। उन पर तुम्हारा हक है। लेकिन तुम देखते हो, अब जमीन की दर कितनी बढ़ गयी है। तुम आठ रुपये बीघे पर जोतते थे, मुझे १०) मिल रहे हैं। और नजराने के सौ अलग। तुम्हारे साथ रिआयत करके लगान वही रखता हूँ; पर नजराने के रुपये तुम्हें देने पड़ेंगे।

गिरधारी—सरकार, मेरे घर में तो इस समय रोटियों का भी ठिकाना नहीं है। इतने रुपये कहाँ से लाऊँगा? जो कुछ जमा-जथा थी, दादा के काम में उठ गयी। अनाज खलिहान में है। लेकिन दादा के बीमार हो जाने से उपज भी अच्छी नहीं हुई। रुपये कहाँ से लाऊँ?

ओंकारनाथ—यह सच है, लेकिन मैं इससे ज्यादा रिआयत नहीं कर सकता।

गिरधारी—नहीं सरकार, ऐसा न कहिए। नहीं तो हम बिना मारे मर जायँगे। आप बड़े होकर कहते हैं तो मैं बैल-बधिया बेचकर पचास रुपया ला सकता हूँ। इससे बेशी की हिम्मत नहीं पड़ती।

ओंकारनाथ चिढ़कर बोले—तुम समझते होगे कि हम ये रुपये लेकर अपने घर में रख लेते हैं। और चैन की बंसी बजाते हैं। लेकिन हमारे ऊपर जो कुछ गुजरती है, हम्हीं जानते हैं। कहीं यह चन्दा, कहीं वह इनाम। इनके मारे कचूमर निकल जाता है। बड़े दिन मे सैकड़ों रुपये डालियों में उड़ जाते हैं। जिसे डाली न दो, वही मुँह फुलाता है। जिन चीजों के लिए लड़के तरस कर रह जाते हैं, उन्हें बाहर से मँगाकर डालियों में सजाता हूँ। उस पर कभी कानूनगो आ गये, कभी तहसीलदार, कभी डिप्टी साहब का लश्कर आ गया। सब मेरे मेहमान होते हैं। अगर न करूँ तो नक्कू बनूँ और सब की आँखों में काँटा बन जाऊँ। साल में हजार-बारह सौ मोदी को इसी रसद-खुराक के मद में देने पड़ते हैं। यह सब कहाँ से आवे? बस, यही जी चाहता है कि छोड़कर निकल जाऊँ। लेकिन हमें तो परमात्मा ने इसी लिए बनाया है कि एक से रुपया सता कर लें और दूसरे को रो-रोकर दें, यही हमारा काम है। तुम्हारे साथ इतनी रिआयत कर रहा हूँ। लेकिन तुम इतनी रिआयत पर भी खुश नहीं होते तो हरि इच्छा। नजराने में एक पैसे की भी रिआयत न होगी। अगर एक हफ्ते के अन्दर रुपये दाखिल करोगे तो खेत जोतने पावोगे, नहीं तो नहीं, मैं कोई दूसरा प्रबन्ध कर दूँगा।

(३)

गिरधारी उदास और निराश होकर घर आया। १००) का प्रबन्ध करना उसके काबू के बाहर था। सोचने लगा—अगर दोनों बैल बेच दूँ तो खेत ही लेकर क्या करूँगा? घर बेचूँ तो यहाँ लेनेवाला ही कौन है? और फिर बाप-दादों का नाम डूबता है। चार-पाँच पेड़ हैं, लेकिन उन्हें बेचकर २५) या ३०) से अधिक न मिलेंगे। उधार लूँ तो देता कौन है? अभी बनिये के ५०) सिर पर चढ़े हैं। वह एक पैसा भी न देगा। घर में गहने भी तो नहीं हैं। नहीं,

उन्हीं को बेचता। ले-देकर एक हँसली बनवाई थी, वह भी बनिये के घर पड़ी हुई है। साल भर हो गया, छुड़ाने की नौबत न आयी। गिरधारी और उसकी स्त्री सुभागी दोनों ही इसी चिन्ता में पड़े रहते, लेकिन कोई उपाय न सूझता था। गिरधारी को खाना-पीना अच्छा न लगता, रात को नींद न आती। खेतों के निकलने का ध्यान आते ही उसके हृदय में हूक-सी उठने लगती। हाय! वह भूमि जिसे हमने वर्षों जोता, जिसे खाद से पाटा, जिसमें मेड़ें रक्खीं, जिसकी मेड़ें बनाईं उसका मज़ा अब दूसरा उठावेगा।

वे खेत गिरधारी के जीवन का अंश हो गये थे। उनकी एक-एक अंगुल भूमि उसके रक्त से रँगी हुई थी। उनका एक-एक परमाणु उसके पसीने से तर हो रहा था!

उनके नाम उसकी जिह्वा पर उसी तरह आते थे जिस तरह अपने तीनों बच्चों के। कोई चौबीसो था, कोई बाइसो था, कोई नालेवाला, कोई तलैयावाला। इन नामों के स्मरण होते ही खेतों का चित्र उसकी आँखों के सामने खिंच जाता था। वह इन खेतों की चर्चा इस तरह करता मानों वे सजीव हैं! मानों उसके भले-बुरे के साथी हैं। उसके जीवन की सारी आशाएँ, सारी इच्छाएँ, सारे मनसूबे, सारी मन की मिठाइयाँ, सारे हवाई किले इन्हीं खेतों पर अवलम्बित थे। इनके बिना वह जीवन की कल्पना ही नहीं कर सकता था। और वे ही अब हाथ से निकले जाते हैं, वह घबड़ाकर घर से निकल जाता और घंटों उन्हीं खेतों की मेड़ों पर बैठा हुआ रोता, मानों उनसे बिदा हो रहा है। इस तरह एक सप्ताह बीत गया और गिरधारी रुपये का कोई बन्दोबस्त न कर सका। आठवें दिन उसे मालूम हुआ कि कालिकादीन ने १००) नजराने देकर १०) बीघे पर खेत ले लिये। गिरधारी ने एक ठंडी साँस ली। एक क्षण के बाद वह अपने दादा का नाम लेकर बिलख-बिलख रोने लगा। उस दिन घर में चूल्हा नहीं जला। ऐसा मालूम होता था मानों हरखू आज ही मरा।

(४)

लेकिन सुभागी यों चुपचाप बैठनेवाली स्त्री न थी। वह क्रोध से भरी हुई कालिकादीन के घर गयी और उसकी स्त्री को खूब लथेड़ा—कल का बानी आज का सेठ, खेत जोतने चले हैं। देखें, कौन मेरे खेत में हल ले जाता है?

अपना और उसका लोहू एक कर दूँ। पड़ोसियों ने उसका पक्ष लिया, सब तो है, आपस में यह चढा-ऊपरी नहीं करना चाहिए। नारायण ने धन दिया है, तो क्या गरीबों को कुचलते फिरेंगे। सुभागी ने समझा, मैंने मैदान मार लिया। उसका चित्त शान्त हो गया। किन्तु वही वायु जो पानी में लहरें पैदा करती है, वृक्षों को जड़ से उखाड डालती है। सुभागी तो पड़ोसियों की पचायत में अपने दुखडे रोती और कालिकादीन की स्त्री से छेड-छेड़ लड़ती। इधर गिरधारी अपने द्वार पर बैठा हुआ सोचता, अब मेरा क्या हाल होगा? अब यह जीवन कैसे कटेगा? ये लडके किसके द्वार पर जायँगे? मजदूरी का विचार करते ही उसका हृदय व्याकुल हो जाता। इतने दिनों तक स्वाधीनता और सम्मान का सुख भोगने के बाद अधम चाकरी की शरण लेने के बदले वह मर जाना अच्छा समझता था। वह अब तक गृहस्थ था, उसकी गणना गाँव के भले आदमियों में थी, उसे गाँव के मामले में बोलने का अधिकार था। उसके घर में धन न था, पर मान था। नाई, बढई, कुम्हार, पुरोहित, भाट, चौकीदार, ये सब उसका मुँह ताकते थे। अब यह मर्यादा कहाँ? अब कौन उसकी बात पूछेगा? कौन उसके द्वार पर आवेगा? अब उसे किसी के बराबर बैठने का, किसी के बीच में बोलने का हक नहीं रहा। अब उसे पेट के लिए दूसरों की गुलामी करनी पडेगी। अब पहर रात रहे कौन बैलों को नाद में लगावेगा। वह दिन अब कहाँ, जब गीत गा-गाकर हल चलाता था। चोटी का पसीना एड़ी तक आता था, पर जरा भी थकावट न आती थी। अपने लहलहाते हुए खेतों को देखकर फूला न समाता था। खलिहान में अनाज का ढेर सामने रक्खे हुए अपने को राजा समझता था। अब अनाज के टोकरे भर-भरकर कौन लावेगा?

अब खत्ते कहाँ? बखार कहाँ? यही सोचते-सोचते गिरधारी की आँखों से आँसू की झडी लग जाती थी। गाँव के दो-चार सज्जन, जो कालिकादीन से जलते थे, कभी-कभी गिरधारी को तसल्ली देने आया करते थे, पर वह उनसे भी खुलकर न बोलता। उसे मालूम होता था कि मैं सबकी नजर में गिर गया हूँ।

अगर कोई समझाता कि तुमने क्रिया-कर्म में व्यर्थ इतने रुपये उड़ा दिये,

तो उसे बहुत दुःख होता। वह अपने उस काम पर ज़रा भी न पछताता। मेरे भाग्य में जो लिखा है वह होगा ; पर दादा के ऋण से तो उऋण हो गया। उन्होंने अपनी ज़िन्दगी में चार को खिलाकर खाया। क्या मरने पीछे उन्हे पिण्डे-पानी को तरसाता।

इस प्रकार तीन मास बीत गये और असाढ़ आ पहुँचा। आकाश में घटाएँ आयीं, पानी गिरा, किसान हल-जुए ठीक करने लगे। बढई हलों की मरम्मत करने लगा। गिरधारी पागल की तरह कभी घर के भीतर जाता, कभी बाहर आता, अपने हलों को निकाल-निकाल देखता, इसकी मुठिया टूट गयी है ; इसकी फाल ढीली हो गयी है, जुए में सैला नहीं है। यह देखते-देखते वह एक क्षण अपने को भूल गया। दौड़ा हुआ बढई के यहाँ गया और बोला—रज्जू, मेरे हल भी बिगड़े हुए हैं, चलो बना दो। रज्जू ने उसकी ओर करुणा-भाव से देखा और अपना काम करने लगा। गिरधारी को होश आ गया, नींद से चौंक पड़ा, ग्लानि से उसका सिर झुक गया, आँखें भर आयीं। चुप-चाप घर चला आया।

गाँव में चारों ओर हलचल मची हुई थी। कोई सन के बीज खोजता फिरता था, कोई जमींदार के चौपाल से धान के बीज लिये आता था, कहीं सलाह होती थी, किस खेत में क्या बोना चाहिए, कहीं चर्चा होती थी कि पानी बहुत बरस गया, दो-चार दिन ठहरकर बोना चाहिए। गिरधारी ये बातें सुनता और जल-हीन मछली की तरह तड़पता था।

(५)

एक दिन सन्ध्या समय गिरधारी खड़ा अपने बैलों को खुजला रहा था कि मंगलसिंह आये और इधर-उधर की बातें करके बोले—गोईं को बाँधकर कब तक खिलावोगे ? निकाल क्यों नहीं देते ? गिरधारी ने मलिन-भाव से कहा—हाँ, कोई गाहक आवे तो निकाल दूँ।

मंगलसिंह—एक गाहक तो हमीं हैं, हमीं को दे दो।

गिरधारी अभी कुछ उत्तर न देने पाया था कि तुलसी बनिया आया और गरजकर बोला—गिरधर, तुम्हें रुपये देने हैं कि नहीं, वैसा कहो। तीन महीने

से हीला-हवाला करते चले आते हो। अब कौन खेती करते हो कि तुम्हारी फसल को अगोरे बैठे रहें।

गिरधारी ने दीनता से कहा—साह, जैसे इतने दिनों माने हो आज और मान जाओ। कल तुम्हारी एक-एक कौड़ी चुका दूँगा।

मगल और तुलसी ने इशारे से बातें कीं और तुलसी भुन-भुनाता हुआ चला गया। तब गिरधारी मगलसिंह से बोला—तुम इन्हें ले लो घर-के-घर ही में रह जायँ। कभी-कभी आँख से देख तो लिया करूँगा।

मंगल—मुझे अभी तो ऐसा कोई काम नहीं, लेकिन घर पर सलाह करूँगा।

गिरधारी—मुझे तुलसी के रुपये देने हैं, नहीं तो खिलाने को तो भूसा है।

मगल—यह बड़ा बदमाश है, कहीं नालिश न कर दे।

सरल हृदय गिरधारी धमकी में आ गया। कार्य-कुशल मगलसिंह को सस्ता सौदा करने का यह अच्छा सुअवसर मिला। ८०) की जोड़ी ६०) में ठीक कर ली।

गिरधारी ने अब तक बैलों को न जाने किस आशा से बाँधकर खिलाया था। आज आशा का वह कल्पित सूत्र भी टूट गया। मगलसिंह गिरधारी की खाट पर बैठे रुपये गिन रहे थे और गिरधारी बैलों के पास विषादमय नेत्रों से उनके मुँह की ओर ताक रहा था। आह! यह मेरे खेतों के कमानेवाले, मेरे जीवन के आधार, मेरे अन्नदाता, मेरी मान-मर्यादा की रक्षा करनेवाले, जिनके लिए पहर रात से उठकर छाँटी काटता था, जिनके खली-दाने की चिन्ता अपने खाने से ज्यादा रहती थी, जिनके लिए सारा घर दिन-भर हरियाली उखाड़ा करता था। ये मेरी आशा की दो आँखें, मेरे इरादे के दो तारे, मेरे अच्छे दिनों के दो चिह्न, मेरे दो हाथ, अब मुझसे विदा हो रहे हैं।

जब मगलसिंह ने रुपये गिनकर रख दिये और बैलों को ले चले तब गिरधारी उनके कन्धों पर सिर रखकर खूब फूट-फूटकर रोया। जैसे कन्या मायके से विदा होते समय माँ-बाप के पैरों को नहीं छोड़ती, उसी तरह गिरधारी इन बैलों को न छोड़ता था। सुभागी भी दालान में खड़ी रो रही थी और छोटा लड़का मगलसिंह को एक बाँस की छड़ी से मार रहा था।

रात को गिरधारी ने कुछ नहीं खाया। चारपाई पर पड़ रहा। प्रातःकाल

सुभागी चिलम भरकर ले गयी तो वह चारपाई पर न था। उसने समझा कहीं गये होंगे। लेकिन जब दो-तीन घड़ी दिन चढ़ आया और वह न लौटा तो उसने रोना-धोना शुरू किया। गाँव के लोग जमा हो गये, चारों ओर खोज होने लगी, पर गिरधारी का पता न चला।

(६)

सन्ध्या हो गयी थी। अँधेरा छा रहा था। सुभागी ने दिया जलाकर गिरधारी के सिरहाने रख दिया था और बैठी द्वार की ओर ताक रही थी कि सहसा उसे पैरों की आहट मालूम हुई। सुभागी का हृदय धड़क उठा। वह दौड़कर बाहर आयी, और इधर-उधर ताकने लगी। उसने देखा कि गिरधारी बैलों की नाद के पास सिर झुकाये खड़ा है।

सुभागी बोल उठी—घर आओ, वहाँ खड़े क्या कर रहे हो, आज सारे दिन कहाँ रहे? यह कहते हुए वह गिरधारी की ओर चली। गिरधारी ने कुछ उत्तर न दिया। वह पीछे हटने लगा और थोड़ी दूर जाकर गायब हो गया। सुभागी चिल्लायी और मूर्च्छित होकर गिर पड़ी।

दूसरे दिन कालिकादीन हल लेकर अपने नये खेत पर पहुँचे, अभी कुछ अँधेरा था। वह बैलों को हल में लगा रहे थे कि यकायक उन्होंने देखा कि गिरधारी खेत की मेड पर खड़ा है। वही मिर्जई, वही पगड़ी, वही सोंटा।

कालिकादीन ने कहा—अरे गिरधारी! मरदे आदमी, तुम यहाँ खडे हो, और बेचारी सुभागी हैरान हो रही है। कहाँ से आ रहे हो? यह कहते हुए बैलों को छोड़कर गिरधारी की ओर चले, गिरधारी पीछे हटने लगा और पीछेवाले कुएँ मे कूद पडा। कालिकादीन ने चीख मारी और हल-बैल वहीं छोड़कर भागा। सारे गाँव में शोर मच गया, लोग नाना प्रकार की कल्पनाएँ करने लगे। कालिकादीन को गिरधारीवाले खेतों में जाने की हिम्मत न पडी।

गिरधारी को गायब हुए ६ महीने बीत चुके हैं। उसका बड़ा लडका अब एक ईंट के भट्टे पर काम करता है और २०) महीना घर आता है। अब वह कमीज और अँग्रेजी जूता पहनता है, घर मे दोनों जन तरकारी पकती है और जौ के बदले गेहूँ खाया जाता है। लेकिन गाँव मे उसका कुछ भी आदर नहीं। वह अब मजूरा है। सुभागी अब पराये गाँव मे आये हुए कुत्ते की भाँति दबकती

फिरती है। वह अब पचायत में नहीं बैठती। यह अब मजूर की माँ है। कालिकादीन ने गिरधारी के खेतों से इस्तीफा दे दिया है, क्योंकि गिरधारी अभी तक अपने खेतों के चारों तरफ मँडराया करता है। अँधेरा होते ही वह मेड़ पर आकर बैठ जाता है और कभी-कभी रात को उधर से उसके रोने की आवाज सुनाई देती है। वह किसी से बोलता नहीं, किसी को छेड़ता नहीं। उसे केवल अपने खेतों को देखकर सन्तोष होता है। दिया जलने के बाद उधर का रास्ता बन्द हो जाता है।

लाला ओंकारनाथ बहुत चाहते हैं कि ये खेत उठ जायँ, लेकिन गाँव के लोग अब उन खेतों का नाम लेते डरते हैं।

—:-०-:—

बोध

(१)

पण्डित चन्द्रधर ने एक अपर प्राइमरी मुदर्रिसी तो कर ली थी, किन्तु सदा पछताया करते कि कहाँ से इस जंजाल में आ फँसे। यदि किसी अन्य विभाग मे नौकर होते तो अब तक हाथ में चार पैसे होते, आराम से जीवन व्यतीत होता। यहाँ तो महीने भर प्रतीक्षा करने के पीछे कहीं पन्द्रह रुपये देखने को मिलते हैं। वह भी इधर आये, उधर गायब। न खाने का सुख, न पहनने का आराम। हम से तो मजूर ही भले।

पंडितजी के पड़ोस में दो महाशय और रहते थे। एक ठाकुर अतिबलसिंह, वह थाने में हेड कान्सटेबुल थे। दूसरे मुंशी बैजनाथ, वह तहसील में सियाहेनवीस थे। इन दोनों आदमियों का वेतन पण्डित से कुछ अधिक न था, तब भी उनकी चैन से गुजरती थी। सन्ध्या को वह कचहरी से आते, बच्चों को पैसे और मिठाइयाँ देते। दोनों आदमियों के पास टहलुवे थे। घर में कुरसियाँ, मेजें, फर्श आदि सामग्रियाँ मौजूद थीं। ठाकुर साहब शाम को आराम कुरसी पर लेट जाते और खुशबूदार खमीरा पीते। मुंशीजी को शराब-कबाब का व्यसन था। अपने सुसज्जित कमरे में बैठे हुए बोतल-की-बोतल साफ कर देते। जब कुछ नशा होता तो हारमोनियम बजाते। सारे मुहल्ले में उनका रोबदाब था। उन दोनों महाशयों को आते-जाते देखकर बनिये उठकर सलाम करते। उनके लिए बाजार में अलग भाव था। चार पैसे की चीज टके में लाते। लकड़ी-ईंधन मुफ्त में मिलता। पंडितजी उनके ठाठ-बाट को देखकर कुढते और अपने भाग्य को कोसते। वह लोग इतना भी न जानते थे कि पृथ्वी सूर्य का चक्कर लगाती है अथवा सूर्य पृथ्वी का। साधारण पहाड़ों का भी ज्ञान न था, तिस पर भी ईश्वर ने उन्हें इतनी प्रभुता दे रखी थी। यह लोग पंडितजी पर बड़ी कृपा रखते थे। कभी सेर-आध-सेर दूध भेज देते और कभी थोड़ी-सी तरकारियाँ। किन्तु इसके बदले में पंडितजी को ठाकुर साहब के दो और मुंशीजी के तीन लड़कों की निगरानी करनी

पड़ती। ठाकुर साहब कहते, पण्डितजी! यह लड़के हर घड़ी खेला करते हैं, ज़रा इनकी खबर लेते रहिए। मुशीजी कहते, यह लड़के आवारा हुए जाते हैं ज़रा इनका खयाल रखिए। यह बातें बड़ी अनुग्रहपूर्ण रीति से कही जाती थीं मानों पण्डितजी उनके गुलाम हैं। पण्डितजी को यह व्यवहार असह्य था, किन्तु इन लोगों को नाराज़ करने का साहस न कर सकते थे, उनकी बदौलत कभी-कभी दूध-दही के दर्शन हो जाते, कभी अचार-चटनी चख लेते। केवल इतना ही नहीं, बाजार से चीजें भी सस्ती लाते। इसलिए बेचारे इस अनीति को विष की घूँट के समान पीते। इस दुरवस्था से निकलने के लिए उन्होंने बड़े-बड़े यत्न किये थे। प्रार्थना-पत्र लिखे, अफसरों की खुशामदें कीं, पर आशा पूरी न हुई। अन्त में हारकर बैठ रहे। हाँ, इतना था कि अपने काम में त्रुटि न होने देते। ठीक समय पर जाते, देर करके आते, मन लगाकर पढाते, इससे उनके अफसर लोग खुश थे। साल में कुछ इनाम दे देते और वेतन-वृद्धि का जब कभी अवसर आता, उनका विशेष ध्यान रखते। परन्तु इस विभाग की वेतन-वृद्धि ऊसर की खेती है। बड़े भाग्य से हाथ लगती है। बस्ती के लोग उनसे सतुष्ट थे। लड़कों की सख्या बढ गयी थी और पाठशाला के लड़के तो उन पर जान देते थे। कोई उनके घर आकर पानी भर देता, कोई उनकी बकरी के लिए पत्तियाँ तोड़ लाता। पण्डितजी इसी को बहुत समझते थे।

(२)

एक बार सावन के महीने में मुशी बैजनाथ और ठाकुर अतिबलसिंह ने श्री अयोध्याजी की यात्रा की सलाह की। दूर की यात्रा थी। हफ्तों पहले से तैयारियाँ होने लगी। बरसात के दिन, सपरिवार जाने में अड़चन थी, किन्तु स्त्रियाँ किसी भाँति भी न मानती थीं। अन्त में विवश होकर दोनों महाशयों ने एक-एक सप्ताह की छुट्टी ली और अयोध्याजी चले। पण्डितजी को भी साथ चलने के लिए बाध्य किया। मेले-ठेले में एक फालतू आदमी से बड़े काम निकलते हैं। पण्डितजी असमंजस में पड़े, परन्तु जब उन लोगों ने उनका व्यय देना स्वीकार किया तो इन्कार न कर सके और अयोध्याजी की यात्रा का ऐसा सुअवसर पाकर न रुक सके।

बिल्हौर से एक बजे रात को गाडी छूटती थी। यह लोग खा-पीकर स्टेशन

पर आ बैठे। जिस समय गाड़ी आयी, चारों ओर भगदड-सी पड़ गयी—हजारों यात्री जा रहे थे। उस उतावली में मुंशीजी पहले निकल गये। पण्डितजी और ठाकुर साहब साथ थे। एक कमरे में बैठे। इस आफत में कौन किसका रास्ता देखता है।

गाड़ियों में जगह की बड़ी कमी थी, परन्तु जिस कमरे मे ठाकुर साहब थे उसमें केवल चार मनुष्य थे। वह सब लेटे हुए थे। ठाकुर साहब चाहते थे कि वह उठ जायँ तो जगह निकल आवे। उन्होंने एक मनुष्य से डाँटकर कहा—उठ बैठोजी, देखते नहीं हम लोग खडे हैं।

मुसाफिर लेटे-लेटे बोला—क्यों उठ बैठे जी? कुछ तुम्हारे बैठने का ठेका लिया है?

ठाकुर—क्या हमने किराया नहीं दिया है?

मुसाफिर—जिसे किराया दिया हो, उससे जाकर जगह माँगो।

ठाकुर—जरा होश की बातें करो। इस डब्बे में दस यात्रियों के बैठने की आज्ञा है।

मुसाफिर—यह थाना नहीं है, जरा जबान सँभालकर बातें कीजिए।

ठाकुर—तुम कौन हो जी?

मुसाफिर—हम वही हैं, जिस पर आपने खुफिया-फरोशी का अपराध लगाया था और जिसके द्वार से आप नक्द २५) लेकर टले थे।

ठाकुर—अहा! अब पहचाना। परन्तु मैंने तो तुम्हारे साथ रिआयत की थी। चालान कर देता तो तुम सजा पा जाते।

मुसाफिर—और मैंने भी तो तुम्हारे साथ रिआयत की कि गाड़ी में खड़ा रहने दिया। ढकेल देता तो तुम नीचे चले जाते और तुम्हारी हड्डी-पसली का पता न लगता।

इतने में दूसरा लेटा हुआ यात्री जोर से ठठ्ठा मारकर हँसा और बोला—और क्यों दारोगा साहब, मुझे क्यों नहीं उठाते?

ठाकुर साहब क्रोध से लाल हो रहे थे। सोचते थे अगर थाने में होता तो इनकी ज़बान खींच लेता, पर इस समय बुरे फँसे थे। वह बलवान मनुष्य थे पर यह दोनों मनुष्य भी हट्टे-कट्टे देख पडते थे।

ठाकुर—सन्दूक नीचे रख दो, बस जगह हो जाय।

दूसरा मुसाफिर बोला—और आप ही क्यों न नीचे बैठ जायँ। इसमें कौन-सी हेठी हुई जाती है। यह थाना थोड़े ही है कि आपके रोब में फर्क पड़ जायगा।

ठाकुर साहब ने उसकी ओर भी ध्यान से देखकर पूछा—क्या तुम्हें भी मुझसे कोई बैर है ?

'जी हाँ, मैं तो आपके खून का प्यासा हूँ।'

'मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, तुम्हारी तो सूरत भी नहीं देखी।'

दू० मु०—आपने मेरी सूरत न देखी होगी पर आपके डंडे ने देखी है। इसी कल के मेले में आपने मुझे कई डंडे लगाये। मैं चुपचाप तमाशा देखता था पर आपने आकर मेरा कचूमर निकाल लिया। मैं चुप रह गया, पर घाव दिल पर लगा हुआ है। आज उसकी दवा मिलेगी।

यह कहकर उसने और भी पाँव फैला दिये और क्रोध-पूर्ण नेत्रों से देखने लगा। पंडितजी अब तक चुपचाप खड़े थे। डरते थे कि कहीं मार-पीट न हो जाय। अवसर पाकर ठाकुर साहब को समझाया। ज्यों ही तीसरा स्टेशन आया, ठाकुर साहब ने बाल-बच्चों को वहाँ से निकालकर दूसरे कमरे में बैठाया। इन दोनों दुष्टों ने उनका असबाब उठा-उठाकर जमीन पर फेंक दिया। जब ठाकुर साहब गाड़ी से उतरने लगे तो उन्होंने उनको ऐसा धक्का दिया कि बेचारे प्लैटफार्म पर गिर पड़े। गार्ड से कहने दौड़े थे कि इन्जिन ने सीटी दी। जाकर गाड़ी में बैठ गये।

(३)

उधर मुंशी बैजनाथ की और भी बुरी दशा थी। सारी रात जागते गुजरी। जरा पैर फैलाने की जगह न थी। आज उन्होंने जेब में बोतल भरकर रख ली थी। प्रत्येक स्टेशन पर कोयला-पानी ले लेते थे। फल यह हुआ कि पाचन-क्रिया में विघ्न पड़ गया। एक बार उल्टी हुई और पेट में मरोड़ होने लगी। बेचारे बड़ी मुश्किल में पड़े। चाहते थे कि किसी भाँति लेट जायँ, पर वहाँ पैर हिलाने को भी जगह न थी। लखनऊ तक तो उन्होंने किसी तरह जब्त किया। आगे चलकर विवश हो गये। एक स्टेशन पर उतर पड़े। खड़े न हो सकते थे।

प्लेटफार्म पर लेट गये। पत्नी भी घबरायी। बच्चों को लेकर उतर पड़ी। असबाब उतारा, परन्तु जल्दी में ट्रंक उतारना भूल गयी। गाड़ी चल दी। दारोगाजी ने अपने मित्र को इस दशा मे देखा तो वह भी उतर पड़े। समझ गये कि हजरत आज ज्यादा चढा गये। देखा तो मुंशीजी की दशा बिगड़-गयी थी। ज्वर, पेट में दर्द, नसों में तनाव, कै और दस्त। बड़ा खटका हुआ। स्टेशन-मास्टर ने यह हाल देखा तो समझे हैजा हो गया है। हुक्म दिया, रोगी को अभी बाहर ले जाओ। विवश होकर लोग मुंशीजी को एक पेड़ के नीचे उठा लाये। उनकी पत्नी रोने लगी। हकीम-डाक्टर की तलाश हुई। पता लगा कि डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की तरफ से वहाँ एक छोटा-सा अस्पताल है। लोगों की जान-में-जान आयी। किसी से यह भी मालूम हुआ कि डाक्टर साहब बिल्हौर के रहनेवाले हैं। ढाढस बँधा। दारोगाजी अस्पताल दौड़े। डाक्टर साहब से सारा समाचार कह सुनाया और कहा—आप चलकर ज़रा उन्हें देख तो लीजिए।

डाक्टर का नाम था चोखेलाल। कम्पौंडर थे, लोग आदर से डाक्टर कहा करते थे। सब वृत्तान्त सुनकर रुखाई से बोले—सवेरे के समय मुझे बाहर जाने की आज्ञा नहीं है।

दारोगा—तो क्या मुंशीजी को यहीं लायें।

चोखेलाल—हाँ, आपका जी चाहे लाइए।

दारोगाजी ने दौड़-धूपकर एक डोली का प्रबन्ध किया। मुंशीजी को लादकर अस्पताल लाये। ज्योंही बरामदे में पैर रखा, चोखेलाल ने डाँटकर कहा—हैजे (विसूचिका) के रोगी को ऊपर लाने की आज्ञा नहीं है।

बैजनाथ अचेत तो थे नहीं, आवाज़ सुनी, पहचाना, धीरे से बोले—अरे यह तो बिल्हौर ही के हैं—भला-सा नाम है। तहसील में आया-जाया करते हैं। क्यों महाशय! मुझे पहचानते हैं?

चोखेलाल—जी हाँ, खूब पहचानता हूँ।

बैजनाथ—पहचानकर भी इतनी निठुरता। मेरी जान निकल रही है। ज़रा देखिए, मुझे क्या हो गया?

चोखे—हाँ, यह सब कर दूँगा और मेरा काम ही क्या है? फीस?

दारोगाजी—अस्पताल में कैसी फीस जनाबमन?

चोखे—वैसी ही जैसी इन मुंशीजी ने मुझसे वसूल की थी जनाब मन।

दारोगाजी—आप क्या कहते हैं, मेरी समझ में नहीं आता।

चोखे—मेरा घर बिल्हौर में है। वहाँ मेरी थोड़ी-सी जमीन है। साल में दो बार उसकी देख-भाल के लिए जाना पड़ता है। जब तहसील में लगान दाखिल करने जाता हूँ तो मुंशीजी डाँटकर अपना हक वसूल कर लेते हैं। न दूँ तो शाम तक खड़ा रहना पड़े। स्याहा न हो। फिर जनाब, कभी गाड़ी नाव पर, कभी नाव गाड़ी पर। मेरी फीस के दस रुपये निकालिए। देखूँ, दवा दूँ, नहीं तो अपनी राह लीजिए।

दारोगा—दस रुपये !!

चोखे—जी हाँ, और यहाँ ठहरना चाहें तो दस रुपये रोज।

दारोगाजी विवश हो गये। बैजनाथ की स्त्री से रुपये माँगे। तब उसे अपने बक्स की याद आयी। छाती पीट ली। दारोगाजी के पास भी अधिक रुपये नहीं थे, किसी तरह दस रुपये निकालकर चोखेलाल को दिये—उन्होंने दवा दी। दिन-भर कुछ फायदा न हुआ। रात को दशा सँभली। दूसरे दिन फिर दवा की आवश्यकता हुई। मुंशियाइन का एक गहना जो २०) से कम का न था बाजार में बेचा गया, तब काम चला। शाम तक मुंशीजी चंगे हुए। रात को गाड़ी पर बैठकर अयोध्या चले। चोखेलाल को दिल में खूब गालियाँ दीं।

श्री अयोध्याजी में पहुँचकर स्थान की खोज हुई। पण्डों के घर जगह न थी। घर-घर में आदमी भरे हुए थे। सारी बस्ती छान मारी पर कहीं ठिकाना न मिला। अन्त में यह निश्चय हुआ कि किसी पेड़ के नीचे डेरा जमाना चाहिए। किन्तु जिस पेड़ के नीचे जाते थे वहीं यात्री पड़े मिलते। सिवाय खुले मैदान में रेत पर पड़ रहने के और कोई उपाय न था। एक स्वच्छ स्थान देखकर बिस्तरे बिछाये और लेटे। इतने में बादल घिर आये। बूँदें गिरने लगीं। बिजली चमकने लगी। गरज से कान के परदे फटे जाते थे। लड़के रोते थे। स्त्रियों के कलेजे काँप रहे थे। अब यहाँ ठहरना दुस्सह था, पर जायँ कहाँ।

अकस्मात् एक मनुष्य नदी की तरफ से लालटेन लिये आता हुआ दिखायी दिया—वह निकट पहुँचा तो पण्डितजी ने उसे देखा। आकृति कुछ पहिचानी हुई मालूम हुई, किन्तु यह विचार न आया कि कहाँ देखा है। पास जाकर बोले—

क्यों भाई साहब, यहाँ यात्रियों के ठहरने के लिए जगह न मिलेगी ? वह मनुष्य रुक गया। पण्डितजी की ओर ध्यान से देखकर बोला—आप पण्डित चन्द्रधर तो नहीं हैं ?

पण्डितजी प्रसन्न होकर बोले—जी हाँ। आप मुझे कैसे जानते हैं ?

उस मनुष्य ने सादर पण्डितजी के चरण छुए और बोला—मैं आपका पुराना शिष्य हूँ। मेरा नाम कृपाशंकर है। मेरे पिता कुछ दिनों बिल्हौर में डाक-मुंशी रहे थे। उन्हीं दिनों मैं आपकी सेवा मे पढ़ता था।

पण्डितजी की स्मृति जागी, बोले—ओहो तुम्हीं हो कृपाशंकर ! तब तो तुम दुबले-पतले लड़के थे। कोई आठ नौ साल हुए होंगे।

कृपा—जी हाँ, नवाँ साल है। मैंने वहाँ से आकर इन्ट्रेन्स पास किया, अब यहाँ म्युनिसिपिल्टी में नौकर हूँ। कहिए आप तो अच्छी तरह रहे। सौभाग्य था कि आपके दर्शन हो गये।

पण्डित—मुझे भी तुमसे मिलकर बड़ा आनन्द हुआ। तुम्हारे पिता अब कहाँ हैं ?

कृपा—उनका तो देहान्त हो गया। माता साथ हैं। आप यहाँ कब आये ?

पण्डित—आज ही आया हूँ। पण्डों के घर जगह न मिली। विवश यहीं रात काटने की ठहरी।

कृपा—बाल-बच्चे भी साथ हैं ?

पण्डित—नहीं, मैं तो अकेले ही आया हूँ। पर मेरे साथ दारोगाजी और सियाहेनवीस साहब हैं—उनके बाल-बच्चे भी साथ हैं।

कृपा—कुल कितने मनुष्य होंगे ?

पण्डित—हैं तो दस किन्तु थोड़ी-सी जगह में निर्वाह कर लेंगे।

कृपा—नहीं साहब, बहुत-सी जगह लीजिए। मेरा बड़ा मकान खाली पड़ा है। चलिए आराम से एक, दो, तीन दिन रहिए। मेरा परम सौभाग्य है कि आपकी कुछ सेवा करने का अवसर मिला।

कृपाशंकर ने कई कुली बुलाये। असबाब उठवाया और सबको अपने मकान पर ले गया। साफ-सुथरा घर था। नौकर ने चटपट चारपाइयाँ बिछा दीं। घर में पूरियाँ पकने लगीं। कृपाशंकर हाथ बाँधे सेवक की भाँति दौड़ता था।

हृदयोल्लास से उसका मुख-कमल चमक रहा था। उसकी विनय और नम्रता ने सबको मुग्ध कर लिया।

और सब लोग तो खा-पीकर सोये किन्तु पण्डित चन्द्रधर को नींद नहीं आयी। उनकी विचार-शक्ति इस यात्रा की घटनाओं का उल्लेख कर रही थी। रेलगाड़ी की रगड़-झगड़ और चिकित्सालय की नोच-खसोट के सम्मुख कृपाशंकर की सहृदयता और शालीनता प्रकाशमय दिखायी देती थी।

पण्डितजी ने आज शिक्षक का गौरव समझा।

उन्हें आज इस पद की महानता ज्ञात हुई।

यह लोग तीन दिन अयोध्या रहे। किसी बात का कष्ट न हुआ। कृपा-शङ्कर ने उनके साथ जाकर प्रत्येक धाम का दर्शन कराया।

तीसरे दिन जब लोग चलने लगे तो वह स्टेशन तक पहुँचाने आया। जब गाड़ी ने सीटी दी तो उसने सजल नेत्रों से पण्डितजी के चरण छुए और बोला, कभी-कभी इस सेवक को याद करते रहिएगा।

पण्डितजी घर पहुँचे तो उनके स्वभाव में बड़ा परिवर्तन हो गया था। उन्होंने फिर किसी दूसरे विभाग में जाने की चेष्टा नहीं की।

—:०:—

सच्चाई का उपहार

(१)

तहसीली मदरसा बराँव के प्रथमाध्यापक मुंशी भवानीसहाय को बागवानी का कुछ व्यसन था। क्यारियों में भाँति-भाँति के फूल और पत्तियाँ लगा रखी थीं। दरवाजों पर लताएँ चढ़ा दी थीं। इससे मदरसे की शोभा अधिक हो गयी थी। वह मिडिल कक्षा के लड़कों से भी अपने बागीचे के सींचने और साफ करने में मदद लिया करते थे। अधिकांश लड़के इस काम को रुचि-पूर्वक करते। इससे उनका मनोरंजन होता था। किन्तु दरजे में चार-पाँच लड़के जमींदारों के थे। उनमें कुछ ऐसी दुर्जनता थी कि यह मनोरंजक कार्य भी उन्हें बेगार प्रतीत होता। उन्होंने बाल्य-काल से आलस्य में जीवन व्यतीत किया था। अमीरी का झूठा अभिमान दिल में भरा हुआ था। वह हाथ से कोई काम करना निन्दा की बात समझते थे। उन्हें इस बागीचे से घृणा थी। जब उनके काम करने की बारी आती तो कोई-न-कोई बहाना करके उड़ जाते। इतना ही नहीं, दूसरे लड़कों को भी बहकाते, और कहते—वाह! पढ़ें फारसी, बेचें तेल! यदि खुरपी-कुदाल ही करना है तो मदरसे में किताबों से सिर मारने की क्या जरूरत? यहाँ पढ़ने आते हैं, कुछ मजूरी करने नहीं आते। मुंशीजी इस अवज्ञा के लिए उन्हें कभी-कभी दण्ड दे देते थे। इससे उनका द्वेष और भी बढ़ता था। अन्त में यहाँ तक नौबत पहुँची कि एक दिन उन लड़कों ने सलाह करके उस पुष्प-वाटिका को विध्वंस करने का निश्चय किया। दस बजे मदरसा लगता था, किन्तु उस दिन वह आठ ही बजे आ गये, और बागीचे में घुसकर उसे उजाड़ने लगे। कहीं पौधे उखाड़ फेंके, कहीं क्यारियों को रौंद डाला, पानी की नालियाँ तोड़ डालीं, क्यारियों की मेंड़ें खोद डालीं। मारे भय के छाती धड़क रही थी कि कहीं कोई देखता न हो। लेकिन एक छोटी-सी फुलवारी को उजाड़ते कितनी देर लगती है। दस मिनिट में हरा-भरा बाग नष्ट हो गया। तब यह लड़के शीघ्रता से निकले, लेकिन दरवाजे तक आये थे कि उन्हें अपने एक सहपाठी

की सूरत दिखाई दी यह एक दुबला-पतला दरिद्र और चतुर लड़का था। उसका नाम बाजबहादुर था। बड़ा गम्भीर, शान्त लड़का था। ऊधम पार्टी के लड़के उससे जलते थे। उसे देखते ही उनका रक्त सूख गया। विश्वास हो गया कि इसने ज़रूर देख लिया। यह मुंशीजी से कहे बिना न रहेगा। बुरे फँसे, आज कुशल नहीं है। यह राक्षस इस समय यहाँ क्या करने आया था। आपस में इशारे हुए। यह सलाह हुई कि इसे मिला लेना चाहिए। जगतसिंह उनका मुखिया था। आगे बढकर बोला, बाजबहादुर! सवेरे कैसे आ गये? हमने तो आज तुम लोगों के गले की फाँसी छुडा दी। लाला बहुत दिक किया करते थे, यह करो, वह करो। मगर यार देखो कहीं मुंशीजी से जड़ मत देना, नहीं तो लेने के देने पड़ जायँगे।

जयराम ने कहा—कह क्या देंगे, अपने ही तो हैं, हमने जो कुछ किया है वह सबके लिए किया है केवल अपनी ही भलाई के लिए नहीं। चलो यार, तुम्हें बाजार की सैर करा दें, मुँह मीठा कर दें।

बाजबहादुर ने कहा—नहीं, मुझे आज घर पर पाठ याद करने का अवकाश नहीं मिला। यहीं बैठ कर पढ़ूँगा!

जगतसिंह—अच्छा मुंशीजी से कहोगे तो न?

बाजबहादुर—मैं स्वयम् कुछ न कहूँगा, लेकिन उन्होंने मुझसे पूछा तो?

जगतसिंह—कह देना मुझे नहीं मालूम।

बाजबहादुर—यह झूठ मुझसे न बोला जायगा।

जयराम—अगर तुमने चुगली खाई और हमारे ऊपर मार पड़ी तो हम तुम्हें पीटे विना न छोड़ेंगे।

बाजबहादुर—हमने कह दिया कि चुगली न खायँगे लेकिन मुंशीजी ने पूछा तो झूठ भी न बोलेंगे।

जयराम—तो हम तुम्हारी हड्डियाँ भी तोड देंगे।

बाजबहादुर—इसका तुम्हें अधिकार है।

(२)

दस बजे जब मदरसा लगा और मुंशी भवानीसहाय ने बाग की यह दुर्दशा देखी तो क्रोध से आग हो गये। बाग के उजडने का इतना खेद न था जितना

लड़कों की शरारत का। यदि किसी साँड ने यह दुष्कृत किया होता तो वह केवल हाथ मलकर रह जाते। किन्तु लड़कों के इस अत्याचार को सहन न कर सके। ज्यों ही लड़के दरजे में बैठ गये, वह तीवर बदले हुए आये और पूछा—यह बाग किसने उजाड़ा है?

कमरे में सन्नाटा छा गया। अपराधियों के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। मिडिल कक्षा के २५ विद्यार्थियों में कोई ऐसा न था जो इस घटना को न जानता हो किन्तु किसी में यह साहस न था कि उठकर साफ-साफ कह दे। सब-के-सब सिर झुकाये, मौन धारण किये बैठे थे।

मुंशीजी का क्रोध और भी प्रचण्ड हुआ। चिल्लाकर बोले—मुझे विश्वास है कि यह तुम्हीं लोगों में किसी की शरारत है। जिसे मालूम हो स्पष्ट कह दे, नहीं तो मैं एक सिरे से पीटना शुरू करूँगा। फिर कोई यह न कहे कि हम निरपराध मारे गये।

एक लड़का भी न बोला। वही सन्नाटा!

मुंशी—देवीप्रसाद तुम जानते हो?

देवी—जी नहीं, मुझे कुछ नहीं मालूम!

'शिवदास, तुम जानते हो?'

'जी नहीं, मुझे कुछ नहीं मालूम।'

'बाजबहादुर, तुम कभी झूठ नहीं बोलते, तुम्हें मालूम है?'

बाजबहादुर खड़ा हो गया, उसके मुख-मंडल पर वीरत्व का प्रकाश था। नेत्रों में साहस झलक रहा था। बोला—जी हाँ! मुंशीजी ने कहा—शाबाश!

अपराधियों ने बाजबहादुर की ओर रक्त-वर्ण आँखों से देखा और मन में कहा—अच्छा!

(३)

भवानीसहाय बड़े धैर्यवान् मनुष्य थे। यथाशक्ति लड़कों को यातना नहीं देते थे। किन्तु ऐसी दुष्टता का दण्ड देने में वह लेशमात्र भी दया न दिखाते थे। छड़ी मँगाकर पाँचों अपराधियों को दस-दस छड़ियाँ लगायीं, सारे दिन बेंच पर खड़ा रखा और चाल-चलन के रजिस्टर में उनके नाम के सामने काले चिह्न बना दिये।

बाजबहादुर से शरारत पार्टीवाले लड़के यों ही जला करते थे, आज उसकी सचाई के कारण उसके खून के प्यासे हो गये। यन्त्रणा में सहानुभूति पैदा करने की शक्ति होती है। इस समय दरजे के अधिकांश लडके अपराधियों के मित्र हो रहे थे। उनमें षड्यन्त्र रचा जाने लगा कि आज बाजबहादुर की खबर ली जाय। ऐसा मारो कि फिर मदरसे में मुँह न दिखावे। यह हमारे घर का भेदी है। दगाबाज ! बडा सच्चे की दुम बना है ! आज इस सचाई का हाल मालूम हो जायगा। बेचारे बाजबहादुर को इस गुप्त-लीला की जरा भी खबर न थी। विद्रोहियों ने उसे अंधकार में रखने का पूरा यत्न किया था।

छुट्टी होने के बाद बाजबहादुर घर की तरफ चला। रास्ते में एक अमरूद का बाग था। वहाँ जगतसिंह और जयराम कई लडकों के साथ खड़े थे। बाजबहादुर चौंका, समझ गया कि यह लोग मुझे छेडने पर उतारू हैं। किन्तु बचने का कोई उपाय न था। कुछ हिचकता हुआ आगे बढा। जगतसिंह बोला—आओ लाला ! बहुत राह दिखायी। आओ सचाई का इनाम लेते जाओ।

बाजबहादुर—रास्ते से हट जाओ, मुझे जाने दो।

जयराम—ज़रा सचाई का मजा तो चखते जाइए।

बाजबहादुर—मैंने तुमसे कह दिया था कि जब मेरा नाम लेकर पूछेंगे तो मैं बता दूँगा।

जयराम—हमने भी तो कह दिया था कि तुम्हें इस काम का इनाम दिये बिना न छोडेंगे।

यह कहते ही वह बाजबहादुर की तरफ घूँसा तानकर बढा। जगतसिंह ने उसके दोनों हाथ पकड़ने चाहे। जयराम का छोटा भाई शिवराम अमरूद की एक टहनी लेकर झपटा। शेष लडके चारों तरफ खड़े होकर तमाशा देखने लगे। यह "रिजर्व" सेना थी जो आवश्यकता पडने पर मित्र-दल की सहायता के लिए तैयार थी। बाजबहादुर दुर्बल लड़का था। उसकी मरम्मत करने को वह तीन मजबूत लडके काफी थे। सब लोग यही समझ रहे थे कि क्षण-भर में यह तीनों उसे गिरा लेंगे। बाजबहादुर ने जब देखा कि शत्रुओं ने शस्त्र-प्रहार करना शुरू कर दिया तो उसने कनखियों से इधर-उधर देखा, तब तेजी से झपटकर शिवराम के हाथ से अमरूद की टहनी छीन ली, और दो कदम पीछे

हटकर टहनी ताने हुए बोला—तुम मुझे सचाई का इनाम या सज़ा देनेवाले कौन होते हो !

दोनों ओर से दाँव-पेंच होने लगे। बाजबहादुर था तो कमजोर, पर अत्यन्त चपल और सतर्क, उस पर सत्य का विश्वास हृदय को और भी बलवान बनाये हुए था। सत्य चाहे सिर कटा दे, लेकिन कदम पीछे नहीं हटाता। कई मिनिट तक बाजबहादुर उछल-उछलकर वार करता और हटता रहा। लेकिन अमरूद की टहनी कहाँ तक थाम सकती। जरा देर में उसकी धज्जियाँ उड़ गयीं। जब तक उसके हाथ में वह हरी तलवार रही कोई उसके निकट आने की हिम्मत न करता था। निहत्था होने पर भी वह ठोकरों और घूँसों से जवाब देता रहा। मगर अन्त में अधिक संख्या ने विजय पायी। बाजबहादुर की पसली में शिवराम का एक घूँसा ऐसा पड़ा कि वह बेदम होकर गिर पड़ा। आँखें पथरा गयीं; और मूर्च्छा-सी आ गयी। शत्रुओं ने यह दशा देखी तो उनके हाथों के तोते उड़ गये। समझे इसकी जान निकल गयी। बेतहाशा भागे।

कोई दस मिनिट के पीछे बाजबहादुर सचेत हुआ। कलेजे पर चोट लग गयी थी। घाव ओछा पड़ा था, तिस पर भी खड़े होने की शक्ति न थी। साहस करके उठा और लँगड़ाता हुआ घर की ओर चला !

(४)

उधर यह विजयी दल भागते-भागते जयराम के मकान पर पहुँचा। रास्ते ही में सारा दल तितर-बितर हो गया। कोई इधर से निकल भागा, कोई उधर से, कठिन समस्या आ पड़ी थी। जयराम के घर तक केवल तीन सुदृढ़ लड़के पहुँचे। वहाँ पहुँचकर उनकी जान-में-जान आयी।

जयराम—कहीं मर न गया हो। मेरा घूँसा बैठ गया था।

जगतसिंह—तुम्हें पसली में नहीं मारना चाहिए था। मगर तिल्ली फट गयी होगी तो न बचेगा !

जयराम—यार मैंने जान के थोड़े ही मारा था। संयोग ही था। अब बताओ क्या किया जाय ?

जगत—करना क्या है चुपचाप बैठे रहो।

जयराम—कहीं मैं अकेला तो न फँसूँगा !

जगत—अकेले कौन फँसेगा, सबके साथ-साथ चलेंगे।

जयराम—अगर बाजबहादुर मरा नहीं है तो उठकर सीधे मुशीजी के पास जायगा।

जगत—और मुशीजी कल हम लोगों की खाल अवश्य उधेड़ेंगे।

जयराम—इसलिए मेरी सलाह है कि कल से मदरसे जाओ ही नहीं। नाम कटा के दूसरी जगह चले चलें। नहीं तो बीमारी का बहाना करके बैठ रहें। महीने दो महीने के बाद जब मामला ठढा पड जायगा तो देखा जायगा।

शिवराम—और जो परीक्षा होने वाली है!

जयराम—ओ हो! इसका तो खयाल ही न था। एक ही महीना तो और रह गया है।

जगत—तुम्हें अबकी ज़रूर वज़ीफा मिलता।

जयराम—हाँ मैंने बहुत परिश्रम किया था। तो फिर?

जगत—कुछ नहीं तरक्की तो हो ही जायगी। वजीफे से हाथ धोना पड़ेगा।

जयराम—बाजबहादुर के हाथ लग जायगा।

जगत—बहुत अच्छा होगा। बेचारे ने मार भी तो खायी है।

दूसरे दिन मदरसा लगा। जगतसिंह; जयराम और शिवराम तीनों गायब थे। वलीमुहम्मद पैर में पट्टी बाँधे आये थे, लेकिन भय के मारे बुरा हाल था, कल के दर्शकगण भी थरथरा रहे थे कि कहीं हम लोग भी गेहूँ के साथ घुन की तरह न पिस जायँ। बाजबहादुर नियमानुसार अपने काम में लगा हुआ था। ऐसा मालूम होता था मानों उसे कल की बातें याद ही नहीं हैं। किसी से उनकी चर्चा न की। हाँ, आज वह अपने स्वभाव के प्रतिकूल कुछ प्रसन्न-चित्त देख पड़ता था। विशेषतः कल-के योद्धाओं से वह अधिक हिला-मिला हुआ था। वह चाहता था कि यह लोग मेरी ओर से निःशक हो जायँ। रात-भर की विवेचना के पश्चात् उसने यही निश्चय किया था। और आज जब सन्ध्या समय वह घर चला तो उसे अपनी उदारता का फल मिल चुका था। उसके शत्रु लज्जित थे और उसकी प्रशसा करते थे।

मगर वह तीनों अपराधी दूसरे दिन भी न आये। तीसरे दिन भी उनका

कहीं पता न था। वह घर से मदरसे को चलते लेकिन देहात की तरफ निकल जाते। वहाँ दिन-भर किसी वृक्ष के नीचे बैठे रहते, अथवा गुल्ली-डण्डे खेलते। शाम को घर चले आते।

उन्होंने यह पता तो लगा लिया था कि इस समर के अन्य सभी योद्धागण मदरसे आते हैं और मुशीजी उनसे कुछ नहीं बोलते, किन्तु चित्त से शङ्का दूर न होती थी। बाजबहादुर ने जरूर कहा होगा। हम लोगों के जाने की देर है। गये और बेभाव की पड़ी। यही सोचकर मदरसे आने का साहस न कर सकते।

(५)

चौथे दिन प्रातःकाल तीनों अपराधी बैठे सोच रहे थे कि आज किधर चलना चाहिए। इतने में बाजबहादुर आता हुआ दिखायी दिया। इन लोगों को आश्चर्य तो हुआ परन्तु उसे अपने द्वार पर आते देखकर कुछ आशा बँध गयी। यह लोग अभी बोलने भी न पाये थे कि बाजबहादुर ने कहा—क्यों मित्रो, तुम लोग मदरसे क्यों नहीं आते? तीन दिन से ग़ैरहाज़िरी हो रही है।

जगत—मदरसे क्या जायँ, जान भारी पड़ी है? मुन्शीजी एक हड्डी भी तो न छोड़ेंगे।

बाजबहादुर—क्यों, वलीमुहम्मद, दुर्गा, सभी तो जाते हैं मुन्शीजी ने किसी से भी कुछ कहा?

जयराम—तुमने उन लोगों को छोड़ दिया होगा, लेकिन हमें भला तुम क्यों छोड़ने लगे। तुमने एक-एक की तीन-तीन जड़ी होगी।

बाज—आज मदरसे चलकर इसकी परीक्षा ही कर लो।

जगत—यह झाँसे रहने दीजिए। हमें पिटवाने की चाल है।

बाज—तो मैं कहीं भागा तो नहीं जाता? उस दिन सचाई की सजा दी थी आज झूठ का इनाम दे देना।

जयराम—सच कहते हो तुमने शिकायत नहीं की?

बाज—शिकायत की कौन बात थी। तुमने मुझे मारा, मैंने तुम्हें मारा। अगर तुम्हारा घूँसा न पड़ता तो मैं तुम लोगों को रणक्षेत्र से भगाकर दम लेता। आपस के झगड़ों की शिकायत करने की मेरी आदत नहीं है।

ज्वालामुखी

डिग्री लेने के बाद म नित्य लाइब्रेरी जाया करता। पत्रों या किताबों का अवलोकन करने के लिए नहीं। किताबों को तो मैंने छूने की कसम खा ली थी। जिस दिन गजट में अपना नाम देखा उसी दिन मिल और कैन्ट को उठाकर ताक पर रख दिया। मैं केवल अंग्रेजी पत्रों के "वान्टेड" कालमों को देखा करता। जीवन-यात्रा की फिक्र सवार थी। मेरे दादा या परदादा ने किसी अंग्रेज को गदर के दिन में बचाया होता, अथवा किसी इलाके का जमींदार होता तो कहीं "नामिनेशन" के लिए उद्योग करता। पर मेरे पास कोई सिफारिश न थी। शोक! कुत्ते, बिल्लियों और मोटरों की माँग सबको थी। पर बी० ए० पास का कोई पुरसाँहाल न था। महीनों इसी तरह दौड़ते गुजर गये, पर अपनी रुचि के अनुसार कोई जगह न नजर आयी। मुझे अक्सर अपने बी० ए० होने पर क्रोध आता था। ड्राइवर, फायरमैन, मिस्त्री, खानसामा या बावर्ची होता तो मुझे इतने दिनों तक बेकार न बैठना पड़ता।

एक दिन मैं चारपाई पर लेटा हुआ एक पत्र पढ रहा था कि मुझे एक माँग अपनी इच्छा के अनुसार दिखाई दी। किसी रईस को एक ऐसे प्राइवेट सेक्रेटरी की जरूरत थी जो विद्वान, रसिक, सहृदय और रूपवान हो। वेतन एक हजार मासिक! मैं उछल पड़ा। कहीं मेरा भाग्य उदय हो जाता और यह पद मुझे मिल जाता तो जिन्दगी चैन से कट जाती। उसी दिन मैंने अपना विनय-पत्र अपने फोटो के साथ रवाना कर दिया। पर अपने आत्मीय गणों में किसी से इसका जिक्र न किया कि कहीं लोग मेरी हँसी न उड़ायें। मेरे लिए ३०) मासिक भी बहुत थे। एक हजार कौन देगा? पर दिल से यह खयाल दूर न होता। बैठे-बैठे शेखचिल्ली के मन्सूबे बाँधा करता। फिर होश में आकर अपने को समझाता कि मुझमें ऐसे ऊँचे पद के लिए कौन-सी योग्यता है। मैं अभी कालिज से निकला हुआ पुस्तकों का पुतला हूँ। दुनिया से बेखबर। इस

पद के लिए एक-से-एक विद्वान, अनुभवी पुरुष मुँह फैलाये बैठे होंगे। मेरे लिए कोई आशा नहीं। मैं रूपवान सही, सजीला सही, मगर ऐसे पदों के लिए केवल रूपवान होना काफी नहीं होता। विज्ञापन में इसकी चर्चा करने से केवल इतना अभिप्राय होगा कि कुरूप आदमी की जरूरत नहीं, और यही उचित भी है। बल्कि बहुत सजीलापन तो ऊँचे पदों के लिए कुछ शोभा नहीं देता। मध्यम श्रेणी का तोंद, भरा हुआ शरीर, फूले हुए गाल, और गौरवयुक्त वाक्य-शैली, यह उच्च पदाधिकारियों के लक्षण हैं और मुझे इनमें से एक भी मयस्सर नहीं। इसी आशा और भय में एक सप्ताह गुजर गया। और अब मैं निराश हो गया—मैं भी कैसा ओछा हूँ कि एक बे-सिर-पैर की बात के पीछे ऐसा फूल उठा; इसी को लड़कपन कहते हैं। जहाँ तक मेरा खयाल है किसी दिल्लगीबाज ने आज के शिक्षित समाज की मूर्खता की परीक्षा करने के लिए यह स्वाँग रचा है। मुझे इतना भी न सूझा। मगर आठवें दिन प्रातःकाल तार के चपरासी ने मुझे आवाज दी। मेरे हृदय में गुदगुदी-सी होने लगी। लपका हुआ आया। तार खोलकर देखा, लिखा था—स्वीकार है, शीघ्र आओ, ऐशगढ़।

मगर यह सुख-सम्वाद पाकर मुझे वह आनन्द न हुआ जिसकी आशा थी। मैं कुछ देर तक खड़ा सोचता रहा। किसी तरह विश्वास न आता था। जरूर किसी दिल्लगीबाज की शरारत है। मगर कोई मुजायका नहीं, मुझे भी इसका मुँह-तोड़ जवाब देना चाहिए। तार दे दूँ कि एक महीने की तन्ख्वाह भेज दो। आप ही सारी कलई खुल जायगी। मगर फिर विचार किया, कहीं वास्तव में नसीब जागा हो तो इस उद्दण्डता से बना-बनाया खेल बिगड़ जागया। चलो दिल्लगी ही सही। जीवन में यह घटना भी स्मरणीय रहेगी। इस तिलिस्म को खोल ही डालूँ। यह निश्चय करके तार-द्वारा आने की सूचना दे दी और सीधे रेलवे स्टेशन पर पहुँचा। पूछने पर मालूम हुआ कि यह स्थान दक्खिन की ओर है। टाइमटेबिल में इसका वृतान्त विस्तार के साथ लिखा हुआ था। स्थान अति रमणीय है, पर जलवायु स्वास्थ्यकर नहीं। हाँ, हृष्ट-पुष्ट नवयुवकों पर उसका असर शीघ्र नहीं होता। दृश्य बहुत मनोरम हैं पर जहरीले जानवर बहुत मिलते हैं। यथासाध्य अँधेरी घाटियों में न जाना चाहिए। यह वृत्तान्त पढ़कर उत्सुकता और भी बढ़ी। जहरीले जानवर हैं तो हुआ करें, कहाँ नहीं हैं। मैं

अँधेरी घाटियों के पास भूलकर भी न जाऊँगा। आकर सफर का सामान ठीक किया और ईश्वर का नाम लेकर नियत समय पर स्टेशन की तरफ चला। पर अपने अलापी मित्रों से इसका कुछ जिक्र न किया, क्योंकि मुझे पूरा विश्वास था कि दो-ही-चार दिन में फिर अपना-सा मुँह लेकर लौटना पड़ेगा।

(२)

गाड़ी पर बैठा तो शाम हो गयी थी। कुछ देर तक तो सिगार और पत्रों से दिल बहलाता रहा। फिर मालूम नहीं कब नींद आ गयी। आँखें खुलीं और खिड़की से बाहर की तरफ झाँका तो उषाकाल का मनोहर दृश्य दिखायी दिया। दोनों ओर हरे वृक्षों से ढकी हुई पर्वत-श्रेणियाँ, उन पर चरती हुई उजली-उजली गायें और भेड़ें सूर्य की सुनहरी किरणों में रँगी हुई बहुत सुन्दर मालूम होती थीं। जी चाहता था कि कहीं मेरी कुटिया भी इन्हीं सुखद पहाड़ियों में होती, जगल के फल खाता, झरनों का ताजा पानी पीता और आनन्द के गीत गाता। यकायक दृश्य बदला, एक विस्तृत झील दिखायी दी जिसमें कँवल खिले हुए थे। कहीं उजले-उजले पक्षी तैरते थे और कहीं छोटी-छोटी डोंगियाँ निर्बल आत्माओं के सदृश डगमगाती हुई चली जाती थीं। वह दृश्य भी बदला। पहाड़ियों के दामन में एक गाँव नजर आया, झाड़ियों और वृक्षों से ढका हुआ, मानों शान्ति और सन्तोष ने यहाँ अपना निवासस्थान बनाया हो। कहीं बच्चे खेलते थे, कहीं गाय के बछड़े किलोल करते थे। फिर एक घना जगल मिला। झुण्ड-के-झुण्ड हिरन दिखायी दिये जो गाड़ी की हहकार सुनते ही चौकड़ियाँ भरते दूर भाग जाते थे। यह दृश्य स्वप्न के चित्रों के समान् आँखों के सामने आते थे और एक क्षण में गायब हो जाते थे। उनमें एक अवर्णनीय शान्ति-दायिनी शोभा थी जिससे हृदय में आकांक्षाओं के आवेग उठने लगते थे।

आखिर ऐशगढ निकट आया। मैंने बिस्तर सँभाला। जरा देर में सिग्नल दिखायी दिया। मेरी छाती धड़कने लगी। गाड़ी रुकी। मैंने उतरकर इधर-उधर देखा, कुलियों को पुकारने लगा कि इतने में दो वरदी पहने हुए आदमियों ने आकर मुझे सादर सलाम किया और पूछा—आप...से आ रहे हैं न, चलिए मोटर तैयार है। मेरी बाछें खिल गयीं। तब तक कभी मोटर पर बैठने का सौभाग्य न हुआ था। शान के साथ जा बैठा। मन में बहुत लज्जित था कि

ऐसे फटे हाल क्यों आया, अगर जानता कि सचमुच सौभाग्य-सूर्य चमका है तो ठाठ-बाट से आता। खैर मोटर चली। दोनों तरफ मौलसरी के सघन वृक्ष थे। सड़क पर लाल बजरी बिछी हुई थी। सड़क हरे-भरे मैदान में किसी सुरम्य जल-धारा के सदृश बल खाती चली गयी थी। दस मिनट भी न गुजरे होंगे कि सामने एक शान्तिमय सागर दिखायी दिया। सागर के उस पार पहाड़ी पर एक विशाल भवन बना हुआ था। भवन अभिमान से सिर उठाये हुए था, सागर सन्तोष से नीचे लेटा हुआ, सारा दृश्य काव्य, शृङ्गार और आमोद से भरा हुआ था।

हम सदर दरवाजे पर पहुँचे, कई आदमियों ने दौड़कर मेरा स्वागत किया। इनमें एक शौकीन मुंशीजी थे, जो बाल सँवारे आँखों में सुर्मा लगाये हुए थे। मेरे लिए जो कमरा सजाया गया था उसके द्वार पर मुझे पहुँचाकर बोले—सरकार ने फरमाया है, इस समय आप आराम करें, सन्ध्या-समय मुलाकात कीजिएगा।

मुझे अब तक इसकी कुछ खबर न थी कि यह "सरकार" कौन है, न मुझे किसी से पूछने का साहस हुआ, क्योंकि अपने स्वामी के नाम तक से अनभिज्ञ होने का परिचय नहीं देना चाहता था। मगर इसमें कोई सन्देह नहीं कि मेरा स्वामी बड़ा सज्जन मनुष्य था। मुझे इतने आदर-सत्कार की कदापि आशा न थी। अपने सुसज्जित कमरे में जाकर जब मैं एक आराम कुरसी पर बैठा तो हर्ष से विह्वल हो गया। पहाड़ियों की तरफ से शीतल वायु के मन्द-मन्द झोंके आ रहे थे। सामने छज्जा था। नीचे झील थी, साँप के केंचुल के सदृश, छाया और प्रकाश से पूर्ण, और मैं, जिसे भाग्य-देवी ने सदैव अपना सौतेला लड़का समझा था इस समय जीवन में पहली बार निर्विघ्न आनन्द का सुख उठा रहा था।

तीसरे पहर उन्हीं शौक़ीन मुंशीजी ने आकर इत्तला दी कि सरकार ने याद किया है। मैंने इस बीच में बाल बना लिये थे। तुरत अपना सर्वोत्तम सूट पहना और मुन्शीजी के साथ सरकार की सेवा में चला। इस समय मेरे मन में यह शंका उठ रही थी कि कहीं मेरी बातचीत से स्वामी असन्तुष्ट न हो जायँ। और उन्होंने मेरे विषय में जो विचार स्थिर किये हों उनमें कोई अन्तर न पड़ जाय। तथापि मैं अपनी योग्यता का परिचय देने के लिए खूब तैयार था। हम कई बरामदों से होते हुए अन्त में सरकार के कमरे के दरवाजे पर

पहुँचे। रेशमी परदा पड़ा हुआ था। मुंशीजी ने परदा उठाकर मुझे इशारे से बुलाया। मैंने काँपते हुए हृदय से कमरे में क़दम रक्खा और आश्चर्य से चकित हो गया। मेरे सामने सौन्दर्य की एक ज्वाला दीप्तिमान थी।

(३)

फूल भी सुन्दर है और दीपक भी सुन्दर है। फूल में ठंडक और सुगन्धि है, दीपक में प्रकाश और उद्दीपन, फूल पर भ्रमर उड़-उड़कर उसका रस लेता है, दीपक पर पतंग जलकर राख हो जाता है। मेरे सामने कारचोबी मसनद पर जो सुन्दरी विराजमान थी, वह सौन्दर्य की एक प्रकाशमय ज्वाला थी। फूल की पंखड़ियाँ हो सकती हैं, ज्वाला को विभक्त करना असम्भव है। उसके एक-एक अंग की प्रशंसा करना ज्वाला को काटना है। वह नख-शिख एक ज्वाला थी, वही दीपन, वही चमक, वही लालिमा, वही प्रभा। कोई चित्रकार प्रतिभा-सौन्दर्य का इससे अच्छा चित्र नहीं खींच सकता था। रमणी ने मेरी तरफ वात्सल्य दृष्टि से देखकर कहा—आपको सफर में कोई विशेष कष्ट तो नहीं हुआ?

मैंने सँभलकर उत्तर दिया, जी नहीं, कोई कष्ट नहीं हुआ।

रमणी—यह स्थान पसन्द आया?

मैंने साहसपूर्ण उत्साह के साथ जवाब दिया, ऐसा सुन्दर स्थान पृथ्वी पर न होगा। हाँ गाइड बुक देखने से विदित हुआ कि यहाँ का जलवायु जैसा सुखद प्रकट होता है, यथार्थ में वैसा नहीं, विषैले पशुओं की भी शिकायत थी।

यह सुनते ही रमणी का मुखसूर्य कान्तिहीन हो गया। मैंने तो यह चर्चा इसलिए कर दी थी जिससे प्रकट हो जाय कि यहाँ आने में मुझे भी कुछ त्याग करना पड़ा है। पर मुझे ऐसा मालूम हुआ कि इस चर्चा से उसे कोई विशेष दुःख हुआ। पर क्षण-भर में सूर्य मेघमण्डल से बाहर निकल आया, बोली—यह स्थान अपनी रमणीयता के कारण बहुधा लोगों की आँखों में खटकता है। गुण का निरादर करने वाले सभी जगह होते हैं। और यदि जलवायु कुछ हानिकर हो भी तो आप-जैसे बलवान मनुष्य को इसकी क्या चिन्ता हो सकती है। रहे विषैले जीव-जन्तु, वह आपके नेत्रों के सामने विचर रहे हैं। अगर मोर, हिरन और हंस विषैले जीव हैं तो निस्सन्देह यहाँ विषैले जीव बहुत हैं।

मुझे संशय हुआ कि कहीं मेरे कथन से उसका चित्त खिन्न न हो गया हो, गर्व से बोला—गाइड बुकों पर विश्वास करना सर्वथा भूल है।

इस वाक्य से सुन्दरी का हृदय खिल गया, बोली—आप स्पष्टवादी मालूम होते हैं और यह मनुष्य का एक उच्च गुण है। मैं आपका चित्र देखते ही इतना समझ गयी थी। आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि इस पद के लिए मेरे पास एक लाख से अधिक प्रार्थना पत्र आये थे। कितने ही एम० ए० थे, कोई डी० एस्-सी० था कोई जर्मनी से पी० एच-डी० की उपाधि प्राप्त किये हुए था, मानों यहाँ मुझे किसी दार्शनिक विषय की जाँच करानी थी। मुझे अबकी ही यह अनुभव हुआ कि देश में उच्च-शिक्षित मनुष्यों की इतनी भरमार है। कई महाशयों ने स्वरचित ग्रन्थों की नामावली लिखी थी मानों देश में लेखकों और पंडितों ही की आवश्यकता है। कालगति का लेशमात्र भी परिचय नहीं है। प्राचीन धर्मकथाएँ अब केवल अन्धभक्तों के रसास्वादन के लिए ही हैं, उनसे और कोई लाभ नहीं है। यह भौतिक उन्नति का समय है। आजकल लोग भौतिक सुख पर अपने प्राण अर्पण कर देते हैं। कितने ही लोगों ने अपने चित्र भी भेजे थे। कैसी-कैसी विचित्र मूर्तियाँ थीं, जिन्हें देखकर घण्टों हँसिये। मैंने उन सभों को एक अलबम में लगा लिया है और अवकाश मिलने पर जब हँसने की इच्छा होती है तो उन्हें देखा करती हूँ। मैं उस विद्या को रोग समझती हूँ जो मनुष्य को वनमानुष बना दे। आपका चित्र देखते ही आँखें मुग्ध हो गयीं, तत्क्षण आपको बुलाने को तार दे दिया।

मालूम नहीं क्यों, अपने गुणस्वभाव की प्रशंसा की अपेक्षा हम अपने बाह्य गुणों की प्रशंसा से अधिक सन्तुष्ट होते हैं और एक सुन्दरी के मुख-कण्ठ से तो वह चलते हुए जादू के समान है। बोला—यथासाध्य आपको मुझमें असन्तुष्ट होने का अवसर न मिलेगा।

सुन्दरी ने मेरी ओर प्रशंसापूर्ण नेत्र से देखकर कहा—इसका मुझे पहले ही से विश्वास है। आइए अब कुछ काम की बातें हो जायँ। इस घर को आप अपना ही समझिए और संकोच छोड़कर आनन्द से रहिए। मेरे भक्तों की संख्या बहुत है। वह संसार के प्रत्येक भाग में उपस्थित हैं और बहुधा मुझसे अनेक प्रकार की जिज्ञासा किया करते हैं। उन सबको मैं आपके सिपुर्द करती हूँ।

आपको उनमें भिन्न-भिन्न स्वभाव के मनुष्य मिलेंगे। कोई मुझसे सहायता माँगता है, कोई मेरी निन्दा करता है, कोई सराहता है, कोई गालियाँ देता है। इन सब प्राणियों को सन्तुष्ट रखना आपका काम है। देखिए यह आज के पत्रों का ढेर है। एक महाशय कहते हैं, बहुत दिन हुए आपकी प्रेरणा से मैं अपने बड़े भाई की मृत्यु के बाद उनकी सम्पत्ति का अधिकारी बन बैठा था। अब उनका पुत्र वयस प्राप्त कर चुका है और मुझसे अपने पिता की जायदाद लौटाना चाहता है। इतने दिनों तक उस सम्पत्ति का उपभोग करने के पश्चात् अब उसका हाथ से निकलना अखर रहा है, आपकी इस विषय में क्या सम्मति है? इनको उत्तर दीजिए कि इस कूट-नीति से काम लो, अपने भतीजे को कपट-प्रेम से मिला लो और जब वह निश्शंक हो जाय तो उससे एक सादे स्टाम्प पर हस्ताक्षर करा लो। इसके पीछे पटवारी और अन्य कर्मचारियों की मदद से इसी स्टाम्प पर जायदाद का बैनामा लिखा लो। यदि एक लगाकर दो मिलते हों तो आगा-पीछा मत करो।

यह उत्तर सुनकर मुझे बड़ा कौतूहल हुआ। नीति-ज्ञान को धक्का-सा लगा। सोचने लगा, यह रमणी कौन है और क्यों ऐसे अनर्थ का परामर्श देती है। ऐसे खुल्लम-खुल्ला तो कोई वकील भी किसी को यह राय न देगा। उसकी ओर सन्देहात्मक भाव से देखकर बोला—यह तो सर्वथा न्याय-विरुद्ध प्रतीत होता है।

कामिनी खिलखिलाकर हँस पड़ी और बोली—न्याय की आपने भली कही। यह केवल धर्मान्ध मनुष्यों का मन-समझौता है, संसार में इसका अस्तित्व नहीं। बाप ऋण लेकर मर जाय, लड़का कौड़ी-कौड़ी भरे। विद्वान लोग इसे न्याय कहते हैं, मैं इसे घोर अत्याचार समझती हूँ। इस न्याय के परदे में गाँठ के पूरे महाजन की हेकड़ी साफ झलक रही है। एक डाकू किसी भद्र पुरुष के घर में डाका मारता है, लोग उसे पकड़कर कैद कर देते हैं। धर्मात्मा लोग इसे भी न्याय कहते हैं, किन्तु यहाँ भी वही धन और अधिकार की प्रचण्डता है। भद्र-पुरुष ने कितने ही घरों को लूटा, कितनों ही का गला दबाया और इस प्रकार धन-संचय किया, किसी को भी उन्हें आँख दिखाने का साहस न हुआ। डाकू ने जब उनका गला दबाया तो वह अपने धन और प्रभुत्व के बल से उस पर

वज्रप्रहार कर बैठे। मैं इसे न्याय नहीं कहती। संसार में धन, छल, कपट, धूर्त्तता का राज्य है, यही जीवन-संग्राम है। यहाँ प्रत्येक साधन जिससे हमारा काम निकले, जिससे हम अपने शत्रुओं पर विजय पा सकें, न्यायानुकूल और उचित है। धर्मयुद्ध के दिन अब नहीं रहे। यह देखिए, यह एक दूसरे सज्जन का पत्र है। वह कहते हैं, मैंने प्रथम श्रेणी में एम० ए० पास किया, प्रथम श्रेणी में कानून की परीक्षा पास की, पर अब कोई मेरी बात भी नहीं पूछता। अब तक यह आशा थी कि योग्यता और परिश्रम का अवश्य ही कुछ फल मिलेगा, पर तीन साल के अनुभव से ज्ञात हुआ कि यह केवल धार्मिक नियम है। तीन साल में घर की पूँजी भी खा चुका। अब विवश होकर आपकी शरण लेता हूँ। मुझ हतभाग्य मनुष्य पर दया कीजिए और मेरा बेड़ा पार लगाइए। इनको उत्तर दीजिए कि जाली दस्तावेजें बनवाइए और झूठे दावे चलाकर उनकी डिगरी करा लीजिए। थोड़े ही दिनों में आपका क्लेश-निवारण हो जायगा। यह देखिए एक सज्जन और कहते हैं, लड़की सयानी हो गयी है, जहाँ जाता हूँ लोग दायजे की गठरी माँगते हैं, यहाँ पेट की रोटियों का भी ठिकाना नहीं, किसी तरह भलमनसी निभा रहा हूँ, चारों ओर निन्दा हो रही है, जो आज्ञा हो उसका पालन करूँ। इन्हें लिखिए कन्या का विवाह किसी बुड्ढे खुर्राट सेठ से कर दीजिए। वह दायज लेने की जगह कुछ उल्टे और दे जायगा। अब आप समझ गये होंगे कि ऐसे जिज्ञासुओं को किस ढंग से उत्तर देने की आवश्यकता है। उत्तर संक्षिप्त होना चाहिए बहुत टीका-टिप्पणी व्यर्थ होती है। अभी कुछ दिनों तक आपको यह काम कठिन जान पड़ेगा, पर आप चतुर मनुष्य हैं, शीघ्र ही आपको इस काम का अभ्यास हो जायगा। तब आपको मालूम होगा कि इससे सहज और कोई काम नहीं है। आपके द्वारा सैकड़ों दारुण दुःख भोगनेवालों का कल्याण होगा और वह आजन्म आपका यश गाएँगे।

(४)

मुझे यहाँ रहते एक महीने से अधिक हो गया पर अब तक मुझ पर यह रहस्य न खुला कि यह सुन्दरी कौन है? मैं किसका सेवक हूँ? इसके पास इतना अतुल धन, ऐसी-ऐसी विलास की सामग्रियाँ कहाँ से आती हैं? जिधर देखता

था ऐश्वर्य ही का आडम्बर दिखायी देता था। मेरे आश्चर्य की सीमा न थी, मानों किसी तिलिस्म में आ फँसा हूँ। इन जिज्ञासुओं का इस रमणी से क्या सम्बन्ध है, यह भेद भी न खुलता था। मुझे नित्य उससे साक्षात् होता था, उसके सम्मुख आते ही मैं अचेत-सा हो जाता था। उसकी चितवनों में एक प्रबल आकर्षण था जो मेरे प्राणों को खींच लिया करता था। मैं वाक्य-शून्य हो जाता, केवल छुपी हुई आँखों से उसे देखा करता था। पर मुझे उसके मृदुल मुसकान, और रसमयी आलोचनाओं तथा मधुर, काव्यमय भावों में प्रेमानन्द की जगह एक प्रबल मानसिक अशान्ति का अनुभव होता था। उसकी चितवनें केवल हृदय को बाणों के समान छेदती थीं, उसके कटाक्ष चित्त को व्यस्त करते थे। शिकारी अपने शिकार को खेलाने में जो आनन्द पाता है वही उस परम-सुन्दरी को मेरी प्रेमातुरता में प्राप्त होता था। वह एक सौन्दर्य-ज्वाला जलाने के सिवाय और क्या कर सकती है। तिस पर भी मैं पतग की भाँति उस ज्वाला पर अपने को समर्पण करना चाहता था। यही आकांक्षा होती थी कि उन पद-कमलों पर सिर रख कर प्राण दे दूँ। यह केवल एक उपासक की भक्ति थी, काम और वासना से शून्य।

कभी-कभी जब वह सन्ध्या-समय अपने मोटर-बोट पर बैठकर सागर की सैर करती तो ऐसा जान पड़ता था मानों चन्द्रमा आकाश-लालिमा में तैर रहा है। मुझे इस दृश्य में अनुपम सुख प्राप्त होता था।

मुझे अब अपने नियत कार्यों में खूब अभ्यास हो गया था। मेरे पास प्रतिदिन पत्रों का एक पोथा पहुँच जाता था। मालूम नहीं किस डाक से आता था। लिफाफों पर कोई मोहर न होती थी। मुझे इन जिज्ञासुओं में बहुधा वह लोग मिलते थे जिनका मेरी दृष्टि में बड़ा आदर था, कितने ही ऐसे माहत्मा थे जिनमें मुझे श्रद्धा थी। बड़े-बड़े विद्वान् लेखक और अध्यापक, बड़े-बड़े ऐश्वर्यवान् रईस यहाँ तक कि कितने ही धर्म के आचार्य, नित्य अपनी राम कहानी सुनाते थे। उनकी दशा अत्यन्त करुणाजनक थी। वह सब-के-सब मुझे रँगे हुए सियार दिखायी देते थे। जिन लेखकों को मैं अपनी भाषा का स्तम्भ समझता था, उनसे घृणा होने लगी। वह केवल उचक्के थे, जिनकी सारी कीर्ति चोरी, अनुवाद और कतर-ब्योंत पर निर्भर थी। जिन धर्म के आचार्यों को मैं पूज्य

समझता था, वह स्वार्थ, तृष्णा और घोर नीचता के दलदल मे फँसे हुए दिखायी देते थे। मुझे धीरे-धीरे यह अनुभव हो रहा था कि संसार की उत्पत्ति मे अब तक, लाखों शताब्दियाँ बीत जाने पर भी, मनुष्य वैसा ही क्रूर, वैसा ही वासनाओं का गुलाम बना हुआ है। बल्कि उस समय के लोग सरल प्रकृति के कारण इतने कुटिल, दुराग्रहों में इतने चालाक न होते थे।

एक दिन सन्ध्या समय उस रमणी ने मुझे बुलाया। मैं अपने घमंड में यह समझता था कि मेरे बाँकेपन का कुछ-न-कुछ असर उस पर भी होता है। अपना सर्वोत्तम सूट पहना, बाल सँवारे और विरक्त-भाव से जाकर बैठ गया। यदि वह मुझे अपना शिकार बनाकर खेलती थी तो मैं भी शिकार बनकर उसे खेलाना चाहता था।

ज्योंही मैं पहुँचा, उस लावण्यमयी ने मुस्कुराकर मेरा स्वागत किया, पर मुखचन्द्र कुछ मलीन था। मैंने अधीर होकर पूछा—सरकार का जी तो अच्छा है?

उसने निराश-भाव से उत्तर दिया—जी हाँ, एक महीने से एक कठिन रोग में फँस गयी हूँ। अब तक किसी भाँति अपने को सँभाल सकी हूँ, पर अब रोग असाध्य होता जाता है। उसकी औषधि एक निर्दय मनुष्य के पास है। वह मुझे प्रतिदिन तड़पते देखता है, पर उसका पाषाण-हृदय जरा भी नहीं पसीजता।

मैं इशारा समझ गया। सारे शरीर में एक बिजली-सी दौड़ गयी। साँस बड़े वेग से चलने लगी। एक उन्मत्तता का अनुभव होने लगा। निर्भय होकर बोला—संभव है, जिसे आपने निर्दय समझ रखा हो, वह भी आपको ऐसा ही समझता हो और भय से मुँह खोलने का साहस न कर सकता हो।

सुन्दरी ने कहा—तो कोई ऐसा उपाय बताइए जिससे दोनों ओर की आग बुझे। प्रियतम! अब मैं अपने हृदय की दहकती हुई विरहाग्नि को नहीं छिपा सकती। मेरा सर्वस्व आपकी भेंट है। मेरे पास वह खजाने हैं, जो कभी खाली न होंगे। मेरे पास वह साधन हैं, जो आपको कीर्ति के शिखर पर पहुँचा देंगे। मैं समस्त संसार को आपके पैरों पर झुका सकती हूँ। बड़े-बड़े सम्राट् भी मेरी आज्ञा को नहीं टाल सकते। मेरे पास वह मन्त्र है, जिससे मैं मनुष्य के मनो-वेगों को क्षणमात्र में पलट सकती हूँ। आइए मेरे हृदय से लिपटकर इस दाह-क्रान्ति को शान्त कीजिए।

रमणी के चेहरे पर जलती हुई आग की-सी कान्ति थी। वह दोनों हाथ फैलाये कामोन्मत्त होकर मेरी ओर बढी। उसकी आँखों से आग की चिनगारियाँ निकल रही थीं। परन्तु जिस प्रकार अग्नि से पारा दूर भागता है उसी प्रकार मैं भी उसके सामने से एक कदम पीछे हट गया। उसकी इस प्रेमातुरता से मैं भयभीत हो गया, जैसे कोई निर्धन मनुष्य किसी के हाथों से सोने की ईंट लेते हुए भयभीत हो जाय। मेरा चित्त एक अज्ञात शका से काँप उठा। रमणी ने मेरी ओर अग्निमय नेत्रों से देखा, मानों किसी सिहनी के मुँह से उसका आहार छिन जाय। और सरोष होकर बोली—यह भीरुता क्यों?

मैं—मैं आपका एक तुच्छ सेवक हूँ, इस महान् आदर का पात्र नहीं।

रमणी—आप मुझसे घृणा करते हैं।

मैं—यह आपका मेरे साथ अन्याय है। मैं इस योग्य भी तो नहीं कि आपके तलुवों को आँखों से लगाऊँ। आप दीपक हैं, मैं पतंग हूँ; मेरे लिए इतना ही बहुत है।

रमणी नैराश्यपूर्ण क्रोध के साथ बैठ गयी और बोली—वास्तव में आप निर्दयी हैं, मैं ऐसा न समझती थी। आप में अभी तक अपनी शिक्षा के कुसंस्कार लिपटे हुए हैं, पुस्तकों और सदाचार की बेड़ी आपके पैरों से नहीं निकली।

मैं शीघ्र ही अपने कमरे में चला आया और चित्त के स्थिर होने पर जब मैं इस घटना पर विचार करने लगा तो मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मैं अग्नि-कुण्ड में गिरते-गिरते बचा। कोई गुप्त शक्ति मेरी सहायक हो गयी। यह गुप्त-शक्ति क्या थी?

(५)

मैं जिस कमरे में ठहरा हुआ था, उसके सामने झील के दूसरी तरफ एक छोटा-सा झोपडा था। उसमें एक वृद्ध पुरुष रहा करते थे। उनकी कमर तो झुक गयी थी, पर चेहरा तेजमय था। वह कभी-कभी इस महल में आया करते थे। रमणी न जाने क्यों उनसे घृणा करती थी, मन में उनसे कुछ डरती थी। उन्हें देखते ही घबरा जाती, मानों किसी असमजस में पड़ी हुई है, उसका मुख फीका पड जाता, जाकर अपने किसी गुप्त स्थान में मुँह छिपा लेती, मुझे उसकी यह दशा देखकर कौतूहल होता था। कई बार उसने मुझसे उनकी चर्चा की

थी, पर अत्यन्त अपमान के भाव से, वह मुझे उनसे दूर-दूर रहने का उपदेश दिया करती, और यदि कभी मुझे उनसे बातें करते देख लेती तो उसके माथे पर बल पड़ जाते थे; कई-कई दिनों तक मुझसे खुलकर न बोलती थी।

उस रात को मुझे देर तक नींद नहीं आयी। उधेड़-बुन में पड़ा हुआ था। कभी जी चाहता जाओ आँख बन्द करके प्रेम-रस पान करें। संसार के पदार्थों का सुख भोगें, जो कुछ होगा देखा जायगा। जीवन में ऐसे दिव्य अवसर कहाँ मिलते हैं। फिर आप-ही-आप मन कुछ खिंच जाता था, घृणा उत्पन्न हो जाती थी।

रात के दस बजे होंगे कि हठात् मेरे कमरे का द्वार आप-ही-आप खुल गया और वही तेजस्वी पुरुष अन्दर आये। यद्यपि मैं अपनी स्वामिनी के भय से उनसे बहुत कम मिलता था, पर उनके मुख पर ऐसी शान्ति थी और उनके भाव ऐसे पवित्र तथा कोमल थे कि हृदय में उनके सत्संग की उत्कण्ठा होती थी। मैंने उनका स्वागत किया और लाकर एक कुरसी पर बैठा दिया। उन्होंने मेरी ओर दयापूर्ण भाव से देखकर कहा—मेरे आने से तुम्हे कष्ट तो नहीं हुआ?

मैंने सिर झुकाकर उत्तर दिया, आप जैसे महात्माओं का दर्शन मेरे सौभाग्य की बात है। महात्माजी निश्चिन्त होकर बोले—

अच्छा तो सुनो और सचेत हो जाओ, मैं तुम्हें यही चेतावनी देने के लिए आया हूँ। तुम्हारे ऊपर एक घोर विपत्ति आनेवाली है। तुम्हारे लिए इस समय इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है कि यहाँ से चले जाओ। यदि मेरी बात न मानोगे तो जीवनपर्यन्त कष्ट झेलोगे और इस माया-जाल से कभी मुक्त न हो सकोगे। मेरा झोपड़ा तुम्हारे सामने था। मैं भी कभी-कभी यहाँ आया करता था, पर तुमने मुझसे मिलने की आवश्यकता न समझी। यदि पहले ही दिन तुम मुझसे मिलते तो सहस्रों मनुष्यों का सर्वनाश करने के अपराध से बच जाते। निःसन्देह यह तुम्हारे पूर्वकर्मों का फल था, जिसने आज तुम्हारी रक्षा की। अगर यह पिशाचिनी एक बार तुमसे प्रेमालिंगन कर लेती तो फिर तुम उसी दम उसके अजायबखाने में भेज दिये जाते। वह जिस पर रीझती है, उसकी यही गत बनाती है। यही उसका प्रेम है। चलो जरा उस अजायबखाने की सैर करो, तब तुम समझोगे कि आज तुम किस आफत से बचे।'

यह कहकर महात्माजी ने दीवार में एक बटन दबाया। तुरत एक दरवाजा निकल आया। यह नीचे उतरने की सीढ़ी थी। महात्मा उसमें घुसे और मुझे भी बुलाया। घोर अन्धकार में कई कदम उतरने के बाद एक बड़ा कमरा नजर आया। उसमे एक दीपक टिमटिमा रहा था। वहाँ मैंने जो घोर वीभत्स और हृदय-विदारक दृश्य देखे, उनका स्मरण करके आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इटली के अमर कवि "डैन्टी" ने नर्क का जो दृश्य दिखाया है, उससे कहीं भयावह, रोमाचकारी तथा नारकीय दृश्य मेरी आँखों के सामने उपस्थित था। सैंकड़ों विचित्र देहधारी नाना प्रकार की अशुद्धताओं में लिपटे हुए, भूमि पर पड़े कराह रहे थे। उनके शरीर मनुष्य के-से थे, लेकिन चेहरों का रूपान्तर हो गया था। कोई कुत्ते से मिलता था, कोई गीदड़ से, कोई बनबिलाव से, कोई साँप से। एक स्थान पर एक मोटा स्थूल मनुष्य एक दुर्बल, शक्तिहीन मनुष्य के गले में मुँह लगाये उसका रक्त चूस रहा था। एक ओर दो गिद्ध की सूरत-वाले मनुष्य एक सड़ी हुई लाश पर बैठ उसका मांस नोच रहे थे। एक जगह एक अजगर की सूरत का मनुष्य एक बालक को निगलना चाहता था, पर बालक उसके गले में अटका हुआ था। दोनों ही ज़मीन पर पड़े छटपटा रहे थे। एक जगह मैंने एक अत्यन्त पैशाचिक घटना देखी। दो नागिन की सूरत-वाली स्त्रियाँ एक भेड़िये की सूरतवाले मनुष्य के गले में लिपटी हुई उसे काट रही थीं। वह मनुष्य घोर वेदना से चिल्ला रहा था। मुझसे अब और न देखा गया। तुरत वहाँ से भागा और गिरता-पड़ता अपने कमरे में आकर दम लिया। महात्माजी भी मेरे साथ चले आए। जब मेरा चित्त शान्त हुआ तो उन्होंने कहा—तुम इतना जल्द घबरा गये, अभी तो इस रहस्य का एक भाग भी नहीं देखा। यह तुम्हारी स्वामिनी के विहार का स्थान है और यही उनके पालतू जीव हैं। इन जीवों के पिशाचाभिनय देखने में उनका विशेष मनोरञ्जन होता है। यह सभी मनुष्य किसी समय तुम्हारे ही समान प्रेम और प्रमोद के पात्र थे, पर आज उनकी यह दुर्गति हो रही है। अब तुम्हें मैं यही सलाह देता हूँ कि इसी दम यहाँ से भागो नहीं तो रमणी के दूसरे वार से कदापि न बचोगे।

यह कहकर वह महात्मा अदृश्य हो गये। मैंने भी अपनी गठरी बाँधी और अर्ध-रात्रि के सन्नाटे में चोरों की भाँति कमरे से बाहर निकला। शीतल

आनन्दमय समीर चल रही थी, सामने के सागर में तारे छिटक रहे थे, मेहदी की सुगन्धि उड़ रही थी। मैं चलने को तो चला, पर ससार-सुख-भोग का ऐसा सुअवसर छोड़ते हुए दुःख होता था। इतना देखने और महात्मा का उपदेश सुनने पर भी चित्त उस रमणी की ओर खिंचता था। मैं कई बार चला, कई बार लौटा, पर अन्त मे आत्मा ने इन्द्रियों पर विजय पायी। मैंने सीधा मार्ग छोड़ दिया और झील के किनारे-किनारे गिरता-पड़ता, कीचड में फँसता सड़क तक आ पहुँचा। यहाँ आकर मुझे एक विचित्र उल्लास हुआ, मानों कोई चिड़िया बाज के चगुल से छूट गयी हो।

यद्यपि मैं एक मास के बाद लौटा था, पर अब जो देखा तो अपनी चारपाई पर पड़ा हुआ था। कमरे में जरा भी गर्द या धूल न थी। मैंने लोगों से इस घटना की चर्चा की तो लोग खूब हँसे और मित्रगण तो अभी तक मुझे "प्राइवेट सेक्रेटरी" कहकर बनाया करते हैं। सभी कहते हैं कि मैं एक मिनट के लिए भी कमरे से बाहर नहीं निकला, महीने-भर गायब रहने की तो बात ही क्या।' इसलिए अब मुझे भी विवश होकर यही कहना पड़ता है कि शायद मैंने कोई स्वप्न देखा हो। कुछ भी हो परमात्मा को कोटि-कोटि धन्यवाद देता हूँ कि मैं उस पापकुण्ड से बचकर निकल आया। वह चाहे स्वप्न ही हो, पर मैं उसे अपने जीवन का एक वास्तविक अनुभव समझता हूँ, क्योंकि उसने सदैव के लिए मेरी आँखें खोल दीं।

—:-०-:—

पशु से मनुष्य

दुर्गा माली डॉक्टर मेहरा बार-ऐट-ला के यहाँ नौकर था। पाँच रुपये मासिक वेतन पाता था। उसके घर में स्त्री और दो-तीन छोटे बच्चे थे। स्त्री पड़ोसियों के लिए गेहूँ पीसा करती थी। दो बच्चे, जो समझदार थे, इधर-उधर से लकड़ियाँ-उपले चुन लाते थे। किन्तु इतना यत्न करने पर भी, वे बहुत तकलीफ में रहते थे। दुर्गा, डॉक्टर साहब की नजर बचाकर बगीचे से फूल चुन लेता और बाजार में पुजारियों के हाथ बेच दिया करता था। कभी-कभी फलों पर भी हाथ साफ किया करता। यही उसकी ऊपरी आमदनी थी। इससे नोन-तेल आदि का काम चल जाता था। उसने कई बार डॉक्टर महोदय से वेतन बढाने के लिए प्रार्थना की, परन्तु डॉक्टर साहब नौकरों की वेतन-वृद्धि को छूत की बीमारी समझते थे, जो एक से अनेकों को ग्रस लेती है। वे साफ कह दिया करते कि, "भाई मैं तुम्हें बाँधे तो हूँ नहीं। तुम्हारा निर्वाह यहाँ नहीं होता, तो और कहीं चले जाओ, मेरे लिए मालियों का अकाल नहीं है।" दुर्गा में इतना साहस न था कि वह लगी हुई रोजी छोडकर नौकरी ढूँढने निकलता। इससे अधिक वेतन पाने की आशा भी नहीं थी। इसलिए वह इसी निराशा में पडा हुआ जीवन के दिन काटता और अपने भाग्य को रोता था।

डॉक्टर महोदय को बागवानी से विशेष प्रेम था। नाना प्रकार के फूल-पत्ते लगा रखे थे। अच्छे-अच्छे फलों के पौधे दरभङ्गा, मलीहाबाद, सहारनपुर आदि स्थानों से मँगवाकर लगाये थे। वृक्षों को फलों से लदे हुए देखकर उन्हें हार्दिक आनन्द होता था। अपने मित्रों के यहाँ गुलदस्ते और शाक-भाजी की डालियाँ तोहफे के तौर पर भिजवाते रहते थे। उन्हें फलों को आप खाने का शौक न था, पर मित्रों के खिलाने में उन्हें असीम आनन्द प्राप्त होता था। प्रत्येक फल के मौसिम में मित्रों की दावत करते और 'पिकनिक पार्टियाँ' उनके मनोरञ्जन का प्रधान अङ्ग थीं।

एक बार गर्मियों में उन्होंने अपने कई मित्रों को आम खाने की दावत

दी। मलीहाबादी में सुफेदे के फल खूब लगे हुए थे। डॉक्टर साहब इन फलों को प्रतिदिन देखा करते थे। ये पहले ही फले थे, इसलिए वे मित्रों से उनके मिठास और स्वाद का बखान सुनना चाहते थे। इस विचार से उन्हें वही आमोद था, जो किसी पहलवान को अपने पट्ठों के करतब दिखाने से होता है। इतने बड़े सुन्दर और सुकोमल सुफेदे स्वयं उनकी निगाह से न गुजरे थे। इन फलों के स्वाद का उन्हें इतना विश्वास था कि वे एक फल चखकर उनकी परीक्षा करना आवश्यक न समझते थे, प्रधानतः इसलिए कि एक फल की कमी एक मित्र को रसास्वादन से वञ्चित कर देगी।

सन्ध्या का समय था, चैत का महीना था। मित्रगण आकर बगीचे में हौज के किनारे कुरसियों पर बैठे थे। बर्फ और दूध का प्रबन्ध पहले ही से कर लिया गया था, पर अभी तक फल न तोड़े गये थे। डॉक्टर साहब पहले फलों को पेड़ में लगे हुए दिखलाकर तब उन्हें तोड़ना चाहते थे, जिसमें किसी को यह सन्देह न हो कि फल इनके बाग के नहीं हैं। जब सब सज्जन जमा हो गये तब उन्होंने कहा—आप लोगों को कष्ट होगा, पर जरा चलकर फलों को पेड़ में लटकते हुए देखिए। बड़ा ही मनोहर दृश्य है। गुलाब में भी ऐसी लोचन-प्रिय लाली न होगी। रंग से स्वाद टपका पड़ता है। मैंने इसकी कलम खास मलीहाबाद से मँगवायी थी और उसका विशेष रीति से पालन किया है।

मित्रगण उठे। डॉक्टर साहब आगे-आगे चले। रविशों के दोनों ओर गुलाब की क्यारियाँ थीं। उनकी छटा दिखाते हुए वे अन्त में सुफेदे के पेड़ के सामने आ गये। मगर, आश्चर्य! वहाँ एक भी फल न था। डॉक्टर साहब ने समझा, शायद यह वह पेड़ नहीं है। दो पग और आगे चले, दूसरा पेड़ मिल गया। और आगे बढ़े, तीसरा पेड़ मिला। फिर पीछे लौटे और एक विस्मित दशा में सफेदे के वृक्ष के नीचे आकर रुक गये। इसमें सन्देह नहीं कि वृक्ष यही है, पर फल क्या हुए? बीस-पचीस आम थे, एक का भी पता नहीं! मित्रों की ओर अपराध-पूर्ण नेत्रों से देखकर बोले—आश्चर्य है कि इस पेड़ में एक भी फल नहीं है। आज सुबह मैंने देखा था, पेड़ फलों से लदा हुआ था। यह देखिए, फलों के डण्ठल हैं। यह अवश्य माली की शरारत है। मैं आज उसकी हड्डियाँ तोड़ दूँगा। उस पाजी ने मुझे कितना धोखा दिया! मैं बहुत लज्जित

हूँ कि आप लोगों को व्यर्थ कष्ट हुआ। मैं सत्य कहता हूँ, इस समय मुझे जितना दुःख है, उसे प्रकट नहीं कर सकता। ऐसे रँगीले, कोमल, कमनीय फल मैंने अपने जीवन में कभी न देखे थे। उनके यों लुप्त हो जाने से मेरे हृदय के टुकड़े हुए जाते हैं।

यह कहकर वे नैराश्य-वेदना से कुरसी पर बैठ गये। मित्रों ने सान्त्वना देते हुए कहा—नौकरों का सब जगह यही हाल है। यह जाति ही पाजी होती है। आप हम लोगों के कष्ट का खेद न करें। वह सुफेद, न सही दूसरे फल सही।

एक सज्जन ने कहा—साहब, मुझे तो सब आम एक ही से मालूम होते हैं। सुफेदे, मोहनभोग, लङ्गड़े, बम्बई, फजरी, दशहरी इनमें कोई भेद ही नहीं मालूम होता, न जाने आप लोगों को कैसे उनके स्वाद में फर्क मालूम होता है।

दूसरे सज्जन बोले—यहाँ भी वही हाल है। इस समय जो फल मिले, वही मँगाइए। जो गये उनका अफसोस क्या ?

डॉक्टर साहब ने व्यथित भाव से कहा—आमों की क्या कमी है, सारा बाग भरा पड़ा है, खूब शौक से खाइए और बाँधकर घर ले जाइए। वे हैं और किस लिए ? पर वह रस और स्वाद कहाँ ? आपको विश्वास न होगा, उन सुफेदों पर ऐसा निखार था कि सेव मालूम होते थे। सेव भी देखने में ही सुन्दर होता है, उसमें वह रुचि-वर्द्धक लालित्य, वह सुधामय मृदुता कहाँ ! इस माली ने आज वह अनर्थ किया है कि जी चाहता है, नमकहराम को गोली मार दूँ। इस वक्त सामने आ जाय तो अधमुआ कर दूँ।

माली बाजार गया हुआ था। डॉक्टर साहब ने साईस से कुछ आम तुड़वाये, मित्रों ने आम खाये, दूध पिया और डॉक्टर साहब को धन्यवाद देकर अपने-अपने घर की राह ली। लेकिन मिस्टर मेहरा वहीं हौज के किनारे हाथ में हण्टर लिये माली की बाट जोहते रहे। आकृति से जान पड़ता था मानों साक्षात् क्रोध मूर्तिमान् हो गया था।

(२)

कुछ रात गये दुर्गा बाजार से लौटा। वह चौकन्नी आँखों से इधर-उधर ताकता आता था। ज्योंही उसने डॉक्टर साहब को हौज के किनारे हाथ में हण्टर लिये बैठे देखा, उसके होश उड़ गये। समझ गया कि चोरी पकड़ ली

गयी। इसी भय से उसने बाजार में खूब देर की थी। उसने समझा था, डॉक्टर साहब कहीं सैर करने गये होंगे, मैं चुपके से कटहल के नीचे अपनी झोंपड़ी मे जा बैठूँगा, सवेरे कुछ पूछताछ भी हुई तो मुझे सफाई देने का अवसर मिल जायगा। कह दूँगा, सरकार मेरे झोंपड़े की तलाशी ले लें, इस प्रकार मामला दब जायगा। समय सफल चोर का सबसे बडा मित्र है। एक-एक क्षण उसे निर्दोष सिद्ध करता जाता है। किन्तु जब वह रँगे हाथों पकड़ा जाता है तब उसे बच निकलने की कोई राह नहीं रहती। रुधिर के सूखे हुए धब्बे रंग के दाग बन सकते हैं, पर ताजा लोहू आप-ही-आप पुकारता है। दुर्गा के पैर थम गये, छाती धड़कने लगी। डॉक्टर साहब की निगाह उस पर पड़ गयी थी। अब उलटे पाँव लौटना व्यर्थ था।

डॉक्टर साहब उसे दूर से देखते ही उठे कि चलकर उसकी खूब मरम्मत करूँ। लेकिन वकील थे, विचार किया कि इसका बयान लेना आवश्यक है। इशारे से निकट बुलाया और पूछा—सुफेदे के पेड में कई आम लगे हुए थे। एक भी नहीं दिखायी देता। क्या हो गये?

दुर्गा ने निर्दोष भाव से उत्तर दिया—हजूर, अभी मैं बाजार गया हूँ तब तक तो सब आम लगे हुए थे। इतनी देर में कोई तोड ले गया तो मैं नहीं कह सकता।

डॉक्टर—तुम्हारा किस पर सन्देह है?

दुर्गा—सरकार अब मैं किसे बताऊँ? इतने नौकर-चाकर हैं, न जाने किसकी नीयत बिगड़ी हो।

डॉक्टर—मेरा सन्देह तुम्हारे ऊपर है, अगर तोड़कर रक्खे हों तो लाकर दे दो, या साफ-साफ कह दो कि मैंने तोडे हैं, नहीं तो मैं बुरी तरह पेश आऊँगा।

चोर केवल दण्ड से ही नही बचना चाहता, वह अपमान से भी बचना चाहता है। वह दण्ड से उतना नहीं डरता जितना अपमान से। जब उसे सजा से बचने की कोई आशा नहीं रहती, उस समय भी वह अपने अपराध को स्वीकार नहीं करता। वह अपराधी बनकर छूट जाने से निर्दोष बनकर दण्ड भोगना बेहतर समझता है। दुर्गा इस समय अपराध स्वीकार करके सजा से बच सकता था, पर उसने कहा—हजूर मालिक हैं, जो चाहे करें; पर मैंने आम

नहीं तोड़े। सरकार ही बतायें, इतने दिन मुझे आपकी तावेदारी करते हो गये, मैंने एक पत्ती भी छुई है ?

डॉक्टर—तुम कसम खा सकते हो ?

दुर्गा—गंगा की कसम जो मैंने आमों को हाथ से छुआ भी हो।

डॉक्टर—मुझे इस कसम पर विश्वास नही है। तुम पहले लोटे में पानी लाओ, उसमें तुलसी की पत्तियाँ डालो, तब कसम खाकर कहो कि अगर मैंने तोड़े हो तो मेरा लड़का मेरे काम न आये। तब मुझे विश्वास आवेगा।

दुर्गा—हजूर, साँच को आँच क्या, जो कसम कहिए खाऊँगा। जब मैंने काम ही नहीं किया तो मुझ पर कसम क्या पड़ेगी।

डॉक्टर—अच्छा, बातें न बनाओ, जाकर पानी लाओ।

डॉक्टर महोदय मानव-चरित्र के ज्ञाता थे। सदैव अपराधियों से व्यवहार रहता था। यद्यपि दुर्गा जबान से हेकड़ी की बातें कर रहा था, पर उसके हृदय में भय समाया हुआ था। वह अपने झोंपड़े में आया, लेकिन लोटे में पानी लेकर जाने की हिम्मत न हुई। उसके हाथ थरथराने लगे। ऐसी घटनाएँ याद आ गयी जिनमें झूठी गङ्गा उठानेवालों पर दैवी कोप का प्रहार हुआ था। ईश्वर के सर्वज्ञ होने का ऐसा मर्मस्पर्शी विश्वास उसे कभी नहीं हुआ था। उसने निश्चय किया 'मैं झूठी गंगा न उठाऊँगा, यही न होगा, निकाल दिया जाऊँगा। नौकरी फिर कहीं-न-कहीं मिल जायगी और नौकरी न भी मिले तो मजूरी तो कहीं नहीं गयी है। कुदाल भी चलाऊँगा तो साँझ तक आध सेर आटे का ठिकाना हो जायगा।' वह धीरे-धीरे खाली हाथ डॉक्टर साहब के सामने आकर खड़ा हो गया।

डॉक्टर साहब ने कड़े स्वर से पूछा—पानी लाया ?

दुर्गा—हजूर, मैं गंगा न उठाऊँगा।

डॉक्टर—तो तुम्हारा आम तोड़ना साबित है।

दुर्गा—अब सरकार जो चाहें, समझें। मान लीजिए, मैंने ही आम तोड़े तो आपका गुलाम ही तो हूँ। रात-दिन तावेदारी करता हूँ, बाल-बच्चे आमों के लिए रोवें तो कहाँ जाऊँ। अबकी जान बख्शी जाय, फिर ऐसा कसूर न होगा।

डॉक्टर महोदय इतने उदार न थे। उन्होंने यही बड़ा उपकार किया कि दुर्गा को पुलिस के हवाले न किया और न हण्टर ही लगाये। उसकी इस धार्मिक-श्रद्धा ने उन्हें कुछ नर्म कर दिया था। मगर ऐसे दुर्बल हृदय मनुष्य को अपने यहाँ रखना असम्भव था। उन्होंने उसी क्षण दुर्गा को जवाब दे दिया और उसकी आधे महीने की बाकी मजूरी जप्त कर ली।

(३)

कई मास के पश्चात् एक दिन डॉक्टर मेहरा बाबू प्रेमशंकर के बाग की सैर करने गये। वहाँ से कुछ अच्छी-अच्छी कलमें लाना चाहते थे। प्रेमशंकर को भी बागवानी से प्रेम था और दोनों मनुष्यों में यही एक समानता थी, अन्य सभी विषयों में एक दूसरे से भिन्न थे। प्रेमशंकर बड़े सन्तोषी, सरल, सहृदय मनुष्य थे। वे कई साल अमेरिका रह चुके थे। वहाँ उन्होंने कृषि-विज्ञान का खूब अध्ययन किया था और यहाँ आकर इस वृत्ति को अपनी जीविका का आधार बना लिया था। मानव-चरित्र और वर्तमान सामाजिक संगठन के विषय में उनके विचार विचित्र थे। इसी लिए शहर के सभ्य समाज में लोग उनकी उपेक्षा करते थे और उन्हें झक्की समझते थे। इसमें सन्देह नहीं कि उनके सिद्धान्तों से लोगों को एक प्रकार की दार्शनिक सहानुभूति थी, पर उनके क्रियात्मक होने के विषय मे उन्हें बड़ी शंका थी। संसार कर्मक्षेत्र है, मीमांसाक्षेत्र नहीं। यहाँ सिद्धान्त सिद्धान्त ही रहेंगे, उनका प्रत्यक्ष घटनाओं से सम्बन्ध नहीं।

डॉक्टर साहब बगीचे में पहुँचे तो उन्होंने प्रेमशंकर को क्यारियों में पानी देते हुए पाया। कुएँ पर एक मनुष्य खड़ा पम्प से पानी निकाल रहा था। मेहरा ने उसे तुरन्त ही पहचान लिया। वह दुर्गा माली था। डॉक्टर साहब के मन में उस समय दुर्गा के प्रति एक विचित्र ईर्ष्या का भाव उत्पन्न हुआ। जिस नराधम को उन्होंने दण्ड देकर अपने यहाँ से अलग कर दिया था, उसे नौकरी क्यों मिल गयी? यदि दुर्गा इस वक्त फटेहाल रोनी सूरत बनाये दिखायी देता तो डॉक्टर साहब को उस पर दया आ जाती। वे सम्भवतः उसे कुछ इनाम देते और प्रेमशंकर से उसकी प्रशंसा भी कर देते। उनकी प्रकृति में दया थी और अपने नौकरों पर उनकी कृपादृष्टि रहती थी। परन्तु उनकी इस कृपा और उस दया में लेशमात्र भी भेद न था, जो अपने कुत्तों और घोड़ों से थी। इस

कृपा का आधार न्याय नहीं, दीन-पालन है। दुर्गा ने उन्हें देखा, कुएँ पर खड़े-खड़े सलाम किया और फिर अपने काम में लग गया। उसका यह अभिमान डॉक्टर साहब के हृदय में भाले की भाँति चुभ गया। उन्हें यह विचार कर अत्यन्त क्रोध आया कि मेरे यहाँ से निकलना इसके लिए हितकर हो गया। उन्हें अपनी सहृदयता पर जो घमण्ड था, उसे बड़ा आघात लगा। प्रेमशकर ज्योंही उनसे हाथ मिलाकर उन्हें क्यारियों की सैर कराने लगे, त्योंही डॉक्टर साहब ने उनसे पूछा—यह आदमी आपके यहाँ कितने दिनों से है?

प्रेमशकर—यही ६ या ७ महीने होंगे।

डॉक्टर—कुछ नोच-खसोट तो नहीं करता? यह मेरे यहाँ माली था। इसके हथलपकेपन से तङ्ग आकर मैंने इसे निकाल दिया था। कभी फूल तोड़ कर बेच लाता, कभी पौधे उखाड ले जाता, और फलों का कहना ही क्या? वे इसके मारे बचते ही न थे। एक बार मैंने मित्रों की दावत की थी। मलीहाबादी सुफेदे में खूब फल लगे हुए थे। जब सब लोग आकर बैठ गये और मैं उन्हें फल दिखाने के लिए ले गया तो सारे फल गायब! कुछ न पूछिए, उस घड़ी कितनी भद्द हुई! मैंने उसी क्षण इन महाशय को दुतकार बतायी। बडा ही दगाबाज आदमी है, और ऐसा चतुर है कि इसको पकड़ना मुश्किल है। कोई वकीलों ही जैसा काइयाँ आदमी हो तो इसे पकड सकता है। ऐसी सफाई और ढिठाई से ढुलकता है कि इसका मुँह देखते रह जाइए। आपको भी तो कभी चरका नहीं दिया?

प्रेमशकर—जी नहीं, कभी नहीं। मुझे इसने शिकायत का कोई अवसर नहीं दिया। यहाँ तो खूब मिहनत करता है, यहाँ तक कि दोपहर की छुट्टी में भी आराम नहीं करता। मुझे तो इस पर इतना भरोसा हो गया कि सारा बगीचा इसी पर छोड रक्खा है। दिन-भर में जो कुछ आमदनी होती है, वह शाम को मुझे दे देता है और कभी एक पाई का भी अन्तर नहीं पडता।

डाक्टर—यही तो इसका कौशल है कि आपको उलटे छुरे से मूँड़े, और आपको खबर भी नहीं। आप इसे वेतन क्या देते हैं?

प्रेमशंकर—यहाँ किसी को वेतन नहीं दिया जाता। सब लोग लाभ में बराबर के साझेदार हैं। महीने-भर में आवश्यक व्यय के पश्चात् जो कुछ बचता

है, उनमे से १०) प्रति सैकडे धर्मखाते मे डाल दिया जाता है, शेष रुपये समान भागों में बाँट दिये जाते हैं। पिछले महीने में १४०) की आमदनी हुई थी। मुझे मिलाकर यहाँ ७ आदमी हैं। २०) हिस्से में पडे। अबकी नारंगियाँ खूब हुई हैं, मटर की फलियों, गन्ने, गोभी आदि से अच्छी आमदनी हो रही है। ४०) से कम न पड़ेंगे।

डॉक्टर मेहरा ने आश्चर्य से पूछा—इतने में आपका काम चल जाता है?

प्रेमशंकर—जी हाँ, बडी सुगमता से। मैं इन्हीं आदमियों के-से कपडे पहनता हूँ, इन्हीं का-सा खाना खाता हूँ और मुझे कोई दूसरा व्यसन नहीं है। यहाँ २०) मासिक उन औषधियों का खर्च है, जो गरीबों को दी जाती हैं। ये रुपये सयुक्त-आय मे अलग कर लिये जाते हैं, किसी को कोई आपत्ति नहीं होती। यह सायकिल जो आप देखते हैं, सयुक्त-आय से ही ली गयी है। जिसे जरूरत होती है, इस पर सवार होता है। मुझे ये सब अधिक कार्य-कुशल समझते हैं और मुझ पर पूरा विश्वास रखते हैं। बस मैं इनका मुखिया हूँ। जो कुछ सलाह देता हूँ, उसे सब मानते हैं। कोई भी यह नही समझता कि मैं किसी का नौकर हूँ। सब के-सब अपने को साझेदार समझते हैं और जी तोड़कर मिहनत करते हैं। जहाँ कोई मालिक होता है और दूसरा उसका नौकर तो उन दोनों में तुरन्त द्वेष पैदा हो जाता है। मालिक चाहता है कि इससे जितना काम लेते बने, लेना चाहिए। नौकर चाहता है कि मैं कम-से-कम काम करूँ। उसमें स्नेह या सहानुभूति का नाम तक नहीं होता। दोनों यथार्थ मे एक दूसरे के शत्रु होते हैं। इस प्रतिद्वन्द्विता का दुष्परिणाम हम और आप देख ही रहे हैं। मोटे और पतले आदमियों के पृथक्-पृथक् दल बन गये हैं और उनमें घोर संग्राम हो रहा है। काल-चिह्नों से ज्ञात होता है कि यह प्रतिद्वन्द्विता अब कुछ ही दिनों की मेहमान है। इसकी जगह अब सहकारिता का आगमन होनेवाला है। मैंने अन्य देशों मे इस घातक संग्राम के दृश्य देखे हैं और मुझे उनसे घृणा हो गयी है। सहकारिता ही हमें इस संकट से मुक्त कर सकती है।

डॉक्टर—तो यह कहिए कि आप 'सोशलिस्ट' हैं।

प्रेमशंकर—जी नहीं, मैं 'सोशलिस्ट' या 'डिमाक्रेट' कुछ नहीं हूँ। मैं केवल न्याय और धर्म का दीन सेवक हूँ। मैं निःस्वार्थ सेवा को विद्या से श्रेष्ठ

समझता हूँ। मैं अपनी आत्मिक और मानसिक शक्तियों को, बुद्धि-सामर्थ्य को, धन और वैभव का गुलाम नहीं बनाना चाहता। मुझे वर्तमान शिक्षा और सभ्यता पर विश्वास नहीं है। विद्या का धर्म है—आत्मिक उन्नति, शिक्षा का फल उदारता, त्याग, सदिच्छा, सहानुभूति, न्यायपरता और दयाशीलता है। जो शिक्षा हमें निर्बलों को सताने के लिए तैयार करे, जो हमें धरती और धन का गुलाम बनाये, जो हमें भोग-विलास में डुबाये, जो हमें दूसरों का रक्त पीकर मोटा होने का इच्छुक बनाये, वह शिक्षा नहीं भ्रष्टता है। अगर मूर्ख, लोभ और मोह के पजे में फँस जायँ तो वे क्षम्य हैं, परन्तु विद्या और सभ्यता के उपासकों की स्वार्थान्धता अत्यन्त लज्जाजनक है। हमने विद्या और बुद्धि-बल को विभूति-शिखर पर चढने का मार्ग बना लिया। वास्तव में वह सेवा और प्रेम का साधन था। कितनी विचित्र दशा है कि जो जितना ही बड़ा विद्वान् है, वह उतना ही बड़ा स्वार्थ-सेवी है। बस, हमारी सारी विद्या और बुद्धि, हमारा सारा उत्साह और अनुराग, धन-लिप्सा में ग्रसित है। हमारे प्रोफेसर साहब एक हजार से कम वेतन पायें तो उनका मुँह ही नहीं सीधा होता। हमारे दीवान और माल के अधिकारी लोग दो हजार मासिक पाने पर भी अपने भाग्य को रोया करते हैं। हमारे डॉक्टर साहब चाहते हैं कि मरीज मरे या जीये, मेरी फीस में बाधा न पडे और हमारे वकील साहब (क्षमा कीजिएगा) ईश्वर से मनाया करते हैं कि ईर्ष्या और द्वेष का प्रकोप हो और मैं सोने की दीवार खड़ी कर लूँ। समय धन है इसी वाक्य को हम ईश्वर-वाक्य समझ रहे हैं। इन महान् पुरुषों में से प्रत्येक व्यक्ति सैकड़ों नहीं, हजारों-लाखों गरीबों की जीविका हड़प जाते हैं और फिर भी उसे जाति का भक्त बनने का दावा है। वह अपने स्वजाति-प्रेम का बडा डङ्का बजाता फिरता है। पैदा दूसरे करें, पसीना दूसरे बहायें, खाना और मोछों पर ताव देना इनका काम है। मैं समस्त शिक्षित समुदाय को केवल निकम्मा ही नहीं, वरन् अनर्थकारी भी समझता हूँ।

डॉक्टर साहब ने बहुत धैर्य से काम लेकर पूछा—तो क्या आप चाहते हैं कि हम सब-के-सब मजूरी करें?

प्रेमशङ्कर—जी नहीं, हालाँकि ऐसा हो तो इससे मनुष्य-जाति का बहुत उपकार हो। मुझे जो आपत्ति है, वह केवल दशाओं में इस अन्याय-पर्ण असमता

से है। यदि एक मजूर ५) रुपया में अपना निर्वाह कर सकता है, तो एक मानसिक काम करनेवाले प्राणी के लिए इससे दुगुनी-तिगुनी आय काफी होनी चाहिए और यह अधिकता इसलिए कि उसे कुछ उत्तम भोजन-वस्त्र तथा सुख की आवश्यकता होती है। मगर पाँच और पाँच हजार, पचास और पचास हजार का अस्वाभाविक अन्तर क्यों हो? इतना ही नहीं, हमारा समाज पाँच और पाँच लाख के अन्तर का भी तिरस्कार नहीं करता; वरन् उसकी और भी प्रशंसा करता है। शासन-प्रबन्ध, वकालत, चिकित्सा, चित्र-रचना, शिक्षा, दलाली, व्यापार, संगीत और इसी प्रकार की सैकड़ों अन्य कलाएँ शिक्षित समुदाय की जीवन-वृत्ति बनी हुई हैं। पर इनमें से एक भी धनोपार्जन नहीं करतीं। इनका आधार दूसरों की कमाई पर है। मेरी समझ में नहीं आता कि वह उद्योग-धन्धे, जो जीवन की सामग्रियाँ पैदा करते हैं, जिन पर जीवन का अवलम्बन है, क्यों उन पेशों से नीचे समझे जायँ, जिनका काम केवल मनोरंजन या अधिक-से-अधिक धनोपार्जन में सहायता करना है। आज सारे वकीलों का देश-निकाला हो जाय, सारे अधिकारीवर्ग लुप्त हो जायँ और सारे दलाल स्वर्ग को सिधारें, तब भी संसार का काम चलता रहेगा, बल्कि और भी सरलता से। किसान भूमि जोतेंगे, जुलाहे कपड़े बुनेंगे; बढ़ई, लोहार, राज, चर्मकार सब-के-सब पूर्ववत् अपना-अपना काम करते रहेंगे। उनकी पंचायतें उनके झगड़ों का निपटारा करेंगी। लेकिन यदि किसान न हों तो सारा संसार क्षुधा-पीड़ा से व्याकुल हो जाय। परन्तु किसान के लिए ५) रु० बहुत समझा जाता है और वकील साहब या डॉक्टर साहब के लिए पाँच हजार भी काफी नहीं!

डॉक्टर—आप अर्थ-शास्त्र के उस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को भूले जाते हैं जिसे श्रम-विभाग (Division of labour) कहते हैं। प्रकृति ने प्राणियों को भिन्न-भिन्न शक्तियाँ प्रदान की हैं और उनके विकास के लिए भिन्न-भिन्न दशाओं की आवश्यकता है।

प्रेमशंकर—मैं यह कब कहता हूँ कि प्रत्येक मनुष्य मजूरी करने पर मजबूर किया जाय! नहीं। जिसे परमात्मा ने विचार की शक्ति दी है, वह शास्त्रों की विवेचना करे। जो भावुक हो, वह काव्य की रचना करे। जो अन्याय से घृणा करता हो, वह वकालत करे। मेरा कथन केवल यह है कि भिन्न कार्यों की हैसियत

में इतना अन्तर न रहना चाहिए। मानसिक और औद्योगिक कामों में इतना फर्क न्याय के विरुद्ध है। यह प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल ज्ञात होता है कि आवश्यक और अनिवार्य कार्यों पर अनावश्यक और निवार्य कार्यों की प्रधानता हो। कतिपय सज्जनों का मत है कि इस साम्य से गुणी लोगों का अनादर होगा और ससार को उनके सद्विचारों और सत्कार्यों से लाभ न पहुँच सकेगा। किन्तु वे भूल जाते हैं कि ससार के बडे-से-बडे पण्डित, बडे-से-बडे कवि, बडे-से-बडे आविष्कारक, बड़े-से-बडे शिक्षक धन और प्रभुता के लोभ से मुक्त थे। हमारे अस्वाभाविक जीवन का एक कुपरिणाम यह भी है कि हम बलात् कवि और शिक्षक बन जाते हैं। ससार में आज अगणित लेखक और कवि, वकील और शिक्षक उपस्थित हैं। वे सब-के-सब पृथ्वी पर भार-रूप हो रहे हैं। जब उन्हें मालूम होगा कि इन 'दिव्य' कलाओं में कुछ लाभ नहीं है तो वही लोग कवि होंगे, जिन्हें कवि होना चाहिए। सक्षेप में कहना यही है कि धन की प्रधानता ने हमारे समस्त समाज को उलट-पलट दिया है।

डाक्टर मेहरा अधीर हो गये, बोले—महाशय, समाज-सगठन का यह रूप देव-लोक के लिए चाहे उपयुक्त हो, पर भौतिक ससार के लिए और इस भौतिक काल में वह कदापि उपयोगी नहीं हो सकता।

प्रेमशकर—केवल इसी कारण से अभी तक धनवानों का, जमींदारों का और शिक्षित समुदाय का प्रभुत्व जमा हुआ है। पर इसके पहले भी, कई बार इस प्रभुत्व को धक्का लग चुका है। और चिह्नों से ज्ञात होता है कि निकट-भविष्य में फिर इसकी पराजय होनेवाली है। कदाचित् यह हार निर्णयात्मक होगी। समाज का चक्र साम्य से आरम्भ होकर फिर साम्य पर ही समाप्त होता है। एकाधिपत्य, रईसों का प्रभुत्व और वाणिज्य-प्राबल्य, उसकी मध्यवर्ती दशाएँ हैं। वर्तमान चक्र ने मध्यवर्ती दशाओं को भोग लिया है और वह अपने अन्तिम स्थान के निकट आता-जाता है। किन्तु हमारी आँखें अधिकार और प्रभुता के मद से ऐसी भरी हुई हैं कि हमें आगे-पीछे कुछ नहीं सूझता। चारों ओर से जनतावाद का घोर नाद हमारे कानों में आ रहा है, पर हम ऐसे निश्चिन्त हैं मानों वह साधारण मेघ की गरज है। हम अभी तक उन्हीं विद्याओं और कलाओं में लीन हैं, जिनका आश्रय दूसरों की मेहनत है। हमारे विद्यालयों

की संख्या बढ़ती जाती है, हमारे वकीलखाने में पाँव रखने की जगह बाकी नहीं, गली-गली फोटो स्टुडियो खुल रहे हैं, डाक्टरों की संख्या मरीजों से भी अधिक हो गयी है, पर अब भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं। हम इस अस्वाभाविक जीवन, इस सभ्यता के तिलिस्म से बाहर निकलने की चेष्टा नहीं करते। हम शहरों में कारखाने खोलते फिरते हैं, इसलिए कि मजदूरों की मेहनत से मोटे हो जायँ। ३०) और ४०) सैकड़े लाभ की कल्पना करके फूले नहीं समाते, पर ऐसा कहीं देखने में नहीं आता कि किसी शिक्षित सज्जन ने कपड़ा बुनना या जमीन जोतना शुरू किया हो। यदि कोई दुर्भाग्यवश ऐसा करे भी तो उसकी हँसी उड़ायी जाती है। हम उसी को मान-प्रतिष्ठा के योग्य समझते हैं, जो तकिया-गद्दी लगाये बैठा रहे, हाथ-पैर न हिलाये, और लेन-देन पर, सूद-बट्टे पर हजारों के वारे-न्यारे करता हो...।

यही बातें हो रही थीं कि दुर्गा माली एक डाली में नारङ्गियाँ, गोभी के फूल, अमरूद, मटर की फलियाँ आदि सजाकर लाया और उसे डॉक्टर साहब के सामने रख दी। उसके चेहरे पर एक प्रकार का गर्व था, मानों उसकी आत्मा जागरित हो गयी है। वह डॉक्टर साहब के समीप एक मोढ़े पर बैठ गया और बोला—हजूर को कैसी कलमें चाहिए? आप बाबूजी को एक चिट पर उनके नाम लिखकर दे दीजिए। मैं कल आपके मकान पहुँचा दूँगा। आपके बाल-बच्चे तो अच्छी तरह हैं?

डॉक्टर साहब ने कुछ सकुचा करकहा—हाँ, लड़के अच्छी तरह हैं, तुम यहाँ अच्छी तरह हो?

दुर्गा—जी हाँ, आपकी दया से बहुत आराम से हूँ।

डॉक्टर साहब उठकर चले। प्रेमशंकर उन्हें विदा करने साथ-साथ फाटक तक आये। डाक्टर साहब मोटर पर बैठे तो मुस्कराकर प्रेमशंकर से बोले—मैं आपके सिद्धान्तों का कायल नहीं हुआ, पर इसमें सन्देह नहीं कि आपने एक पशु को मनुष्य बना दिया। यह आपके सत्संग का फल है। लेकिन क्षमा कीजिएगा, मैं फिर भी कहूँगा कि आप इससे होशियार रहिएगा। 'यूजेनिक्स' (सुप्रजा-जनन-शास्त्र) अभी तक किसी ऐसे प्रयोग का आविष्कार नहीं कर सका है, जो जन्म के संस्कारों को मिटा दे!

मूठ

(१)

डाक्टर जयपाल ने प्रथम श्रेणी की सनद पायी थी, पर इसे भाग्य कहिए या व्यवसायिक सिद्धांतों का अज्ञान कि उन्हें अपने व्यवसाय में कभी उन्नत अवस्था न मिली। उनका घर एक सँकरी गली मे था, पर उनके जी में खुली जगह में घर लेने का कभी विचार तक न उठा। औषधालय की आलमारियाँ, शीशियाँ और डाक्टरी यन्त्र आदि भी साफ-सुथरे न थे। मितव्ययिता के सिद्धान्त का वह अपनी घरेलू बातों में भी बहुत ध्यान रखते थे।

लड़का जवान हो गया था, पर अभी उसकी शिक्षा का प्रश्न सामने न आया था। सोचते थे कि इतने दिनों तक पुस्तकों से सर मारकर मैंने ऐसी कौन-सी बड़ी सम्पत्ति पा ली, जो उसके पढाने-लिखाने में हजारों रुपये बर्बाद करूँ। उनकी पत्नी अहिल्या धैर्यवान महिला थी, पर डाक्टर साहब ने उसके इन गुणों पर इतना बोझ रख दिया था कि उसकी कमर भी झुक गयी थी। माँ भी जीवित थीं, पर गङ्गास्नान के लिए तरस-तरस रह जाती थीं—दूसरे पवित्र स्थानों की यात्रा की चर्चा ही क्या! इस क्रूर मितव्ययिता का परिणाम यह था कि इस घर में सुख और शान्ति का नाम न था। अगर कोई मद फुटकल थी तो वह बुढिया महरी जगिया थी। उसने डाक्टर साहब को गोद में खिलाया था और उसे इस घर से ऐसा प्रेम हो गया था कि सब प्रकार की कठिनाइयाँ झेलती थी, पर टलने का नाम न लेती थी।

(२)

डाक्टर साहब डाक्टरी आय की कमी को कपडे और शक्कर के कारखाने में हिस्से लेकर पूरा करते थे। आज सयोगवश बम्बई के एक कारखाने ने इनके पास वार्षिक लाभ के साढे सात सौ रुपये भेजे। डाक्टर साहब ने बीमा खोला नोट गिने, डाकिये को विदा किया, पर डाकिये के पास रुपये अधिक थे, बोझ से दबा जाता था। बोला—हजूर रुपये ले लें और मुझे नोट दे दें तो बड

एहसान हो, बोझ हलका हो जाय। डाक्टर साहब डाकियों को प्रसन्न रखा करते थे, उन्हें मुफ्त दवाइयाँ दे दिया करते थे। सोचा कि हाँ, मुझे बैंक जाने के लिए ताँगा मँगाना ही पड़ेगा, क्यों न बिना कौड़ी के उपकारवाले सिद्धान्त से काम लूँ। रुपये गिनकर एक थैली में रख दिये और सोच ही रहे थे कि चलूँ इन्हें बैंक में रखता आऊँ कि एक रोगी ने बुला भेजा। ऐसे अवसर यहाँ कदाचित् ही आते थे। यद्यपि डाक्टर साहब को बक्स पर भरोसा न था, पर विवश होकर थैली बक्स में रखी और रोगी को देखने चले गये। वहाँ से लौटे तो तीन बज चुके थे, बैंक बन्द हो चुका था। आज रुपये किसी तरह जमा न हो सकते थे। प्रतिदिन की भाँति औषधालय में बैठ गये। आठ बजे रात को जब घर के भीतर जाने लगे, तो थैली को घर ले जाने के लिए बक्स से निकाला, थैली कुछ हल्की जान पड़ी, तत्काल उसे दवाइयों के तराजू पर तौला, होश उड़ गये। पूरे पाँच सौ रुपये कम थे। विश्वास न हुआ। थैली खोलकर रुपये गिने, पाँच सौ रुपये कम निकले। विक्षिप्त अधीरता के साथ बक्स के दूसरे खानों को टटोला, परन्तु व्यर्थ। निराश होकर एक कुरसी पर बैठ गये और स्मरण-शक्ति को एकत्र करने के लिए आँखें बन्द कर दीं और सोचने लगे, मैंने रुपये कहीं अलग तो नहीं रखे, डाकिये ने रुपये कम तो नहीं दिये, मैंने गिनने में तो भूल नहीं की, मैंने पचीस-पचीस रुपये की गड्डियाँ लगायी थीं, पूरी तीस गड्डियाँ थीं, खूब याद है, मैंने एक-एक गड्डी गिनकर थैली में रखी, स्मरण-शक्ति मुझे धोखा नहीं दे रही है। सब मुझे ठीक-ठीक याद है। बक्स का ताला भी बन्द कर दिया था, किन्तु ओह, अब समझ में आ गया, कुंजी मेज पर ही छोड़ दी, जल्दी के मारे उसे जेब में रखना भूल गया, वह अभी तक मेज पर पड़ी है। बस यही बात है, कुंजी जेब में डालने की याद न रही, परन्तु ले कौन गया, बाहर के दरवाजे बन्द थे। घर में मेरे रुपये-पैसे कोई छूता नहीं, आज तक कभी ऐसा अवसर नहीं आया। अवश्य यह किसी बाहरी आदमी का काम है। हो सकता है कि कोई दरवाजा खुला रह गया हो, कोई दवा लेने आया हो, कुंजी मेज पर पड़ी देखी हो और बक्स खोलकर रुपये निकाल लिये हों।

इसी से मैं रुपये नहीं लिया करता, कौन ठिकाना डाकिये की ही करतूत हो, बहुत सम्भव है, उसने मुझे बक्स में थैली रखते देखा था। ये रुपये जमा हो

जाते तो मेरे पास पूरे .....हजार रुपये हो जाते, ब्याज जोड़ने में सरलता होती। क्या करूँ, पुलिस को खबर दूँ? व्यर्थ बैठे-बिठाये उलझन मोल लेनी है। टोले-भर के आदमियों की दरवाजे पर भीड़ होगी। दस-पाँच आदमियों को गालियाँ खानी पड़ेंगी और फल कुछ नहीं! तो क्या धीरज धरकर बैठ रहूँ? कैसे धीरज धरूँ! यह कोई सेंतमेंत मिला धन तो था नहीं, हराम की कौड़ी होती तो समझता कि जैसे आयी, वैसे गयी। यहाँ एक-एक पैसा अपने पसीने का है। मैं जो इतनी मितव्ययिता से रहता हूँ, उतने कष्ट सहता हूँ, कजूस प्रसिद्ध हूँ, घर के आवश्यक व्यय में भी काट-छाँट करता रहता हूँ, क्या इसी लिए कि किसी उचक्के के लिए मनोरंजन का सामान जुटाऊँ? मुझे रेशम से घृणा नहीं, न मेवे ही अरुचिकर हैं, न अजीर्ण का रोग है कि मलाई खाऊँ और अनपच हो जाय, न आँखों में दृष्टि कम है कि थियेटर और सिनेमा का आनन्द न उठा सकूँ। मैं सब ओर से अपने मन को मारे रहता हूँ, इसी लिए तो कि मेरे पास चार पैसे हो जायँ, काम पड़ने पर किसी के आगे हाथ न फैलाना पड़े। कुछ जायदाद ले सकूँ, और नहीं तो अच्छा घर ही बनवा लूँ। पर इस मन मारने का यह फल! गाढ़े परिश्रम के रुपये लुट जायँ। अन्याय है कि मैं यों दिनदहाड़े लुट जाऊँ और उस दुष्ट का बाल भी टेढ़ा न हो। उसके घर दिवाली हो रही होगी, आनन्द मनाया जा रहा होगा, सब-के-सब बगलें बजा रहे होंगे।

डाक्टर साहब बदला लेने के लिए व्याकुल हो गये। मैंने कभी किसी फकीर को, किसी साधु को दरवाजे पर खड़ा नहीं होने दिया। अनेक बार चाहने पर भी मैंने कभी मित्रों को अपने यहाँ निमन्त्रित नहीं किया, कुटुम्बियों और सम्बन्धियों से सदा बचता रहा, क्या इसी लिए? उसका पता लग जाता तो मैं एक विषैली सूई से उसके जीवन का अन्त कर देता।

किन्तु कोई उपाय नहीं है। जुलाहे का गुस्सा दाढ़ी पर। गुप्त पुलिसवाले भी बस नाम ही के हैं। पता लगाने की योग्यता नहीं। इनकी सारी अक्ल राज-नीतिक व्याख्यानों और झूठी रिपोर्टों के लिखने में समाप्त हो जाती है। किसी मेस्मेरिजम जाननेवाले के पास चलूँ, वह इस उलझन को सुलझा सकता है। सुनता हूँ, यूरोप और अमेरिका में बहुधा चोरियों का पता इसी उपाय से लग जाता है। पर यहाँ ऐसा मेस्मेरिजम का पण्डित कौन है और फिर मेस्मेरिजम के

उत्तर सदा विश्वसनीय नहीं होते। ज्योतिषियों के समान वे भी अनुमान और अटकल के अनन्त-सागर में डुबकियाँ लगाने लगते हैं। कुछ लोग नाम भी तो निकालते हैं। मैंने कभी उन कहानियों पर विश्वास नहीं किया, परन्तु कुछ-न-कुछ इसमें तत्व है अवश्य, नहीं तो इस प्रकृति-उपासना के युग में इनका अस्तित्व ही न रहता। आजकल के विद्वान् भी तो आत्मिक बल का लोहा मानते जाते हैं, पर मान लो किसी ने नाम बतला ही दिया तो मेरे हाथ में बदला चुकाने का कौन-सा उपाय है, अन्तर्ज्ञान साक्षी का काम नहीं दे सकता। एक क्षण के लिए मेरे जी को शांति मिल जाने के सिवाय और इससे क्या लाभ है?

हाँ, खूब याद आया। नदी की ओर जाते हुए वह जो एक ओझा बैठता है, उसके करतब की कहानियाँ प्रायः सुनने में आती हैं। सुनता हूँ, गड़े हुए धन का पता बतला देता है, रोगियों को बात-की-बात में चंगा कर देता है, चोरी के माल का पता लगा देता है, मूठ चलाता है। मूठ की बड़ी बड़ाई सुनी है, मूठ चली और चोर के मुँह से रक्त जारी हुआ, जब तक वह माल न लौटा दे रक्त बन्द नहीं होता। यह निशाना बैठ जाय तो मेरी हार्दिक इच्छा पूरी हो जाय! मुँहमाँगा फल पाऊँगा। रुपये भी मिल जायँ! चोर को शिक्षा भी मिल जाय! उसके यहाँ सदा लोगों की भीड़ लगी रहती है। उसमें कुछ करतब न होता तो इतने लोग क्यों जमा होते? उसकी मुखाकृति से एक प्रतिभा बरसती है। आजकल के शिक्षित लोगों को तो इन बातों पर विश्वास नहीं है, पर नीच और मूर्ख-मण्डली में उसकी बहुत चर्चा है। भूत-प्रेत आदि की कहानियाँ प्रतिदिन ही सुना करता हूँ। क्यों न उसी ओझे के पास चलूँ? मान लो कोई लाभ न हुआ तो हानि ही क्या हो जायगी। जहाँ पाँच सौ गये हैं, दो-चार रुपये का खून और सही। यह समय भी अच्छा है। भीड़ कम होगी। चलना चाहिए।

(३)

जी में यह निश्चय करके डाक्टर साहब उस ओझे के घर की ओर चले। जाड़े की रात थी। नौ बज गये थे। रास्ता लगभग बन्द हो गया था। कभी-कभी घरों से रामायण की ध्वनि कानों में आ जाती थी। कुछ देर के बाद बिलकुल सन्नाटा हो गया। रास्ते के दोनों ओर हरे-भरे खेत थे। सियारों का हुँआना सुन पड़ने लगा। जान पड़ता है, इनका दल कहीं पास ही है। डाक्टर साहब को

प्रायः दूर से इनका सुरीला स्वर सुनने का सौभाग्य हुआ था। पास से सुनने का नहीं। इस समय इस सन्नाटे में और इतने पास से उनका चीखना सुनकर उन्हें डर लगा। कई बार अपनी छड़ी धरती पर पटकी, पैर धमधमाये। सियार बड़े डरपोक होते हैं, आदमी के पास नहीं आते, पर फिर सन्देह हुआ, कहीं इनमें कोई पागल हो तो उसका काटा तो बचता ही नहीं। यह सदेह होते ही कीटाणु, बैक्टिरिया, पास्ट्योर इन्स्टिच्यूट और कसौली की याद उनके मस्तिष्क में चक्कर काटने लगी। वह जल्दी-जल्दी पैर बढाये चले जाते थे। एकाएक जी में विचार उठा, कहीं मेरे ही घर में किसी ने रुपये उठा लिये हों तो? वे तत्काल ठिठक गये, पर एक ही क्षण में उन्होंने इसका भी निर्णय कर लिया, क्या हर्ज है, घरवालों को तो और भी कडा दण्ड मिलना चाहिए। चोर की मेरे साथ सहानुभूति नहीं हो सकती, पर घरवालों की सहानुभूति का मैं अधिकारी हूँ। उन्हें जानना चाहिए कि मैं जो कुछ करता हूँ, उन्हीं के लिए करता हूँ। रात-दिन मरता हूँ तो उन्हीं के लिए मरता हूँ। यदि इस पर भी वे मुझे यों धोखा देने के लिए तैयार हों तो उनसे अधिक कृतघ्न, उनसे अधिक अकृतज्ञ, उनसे अधिक निर्दय और कौन होगा? उन्हें और भी कडा दण्ड मिलना चाहिए। इतना कड़ा, इतना शिक्षाप्रद कि फिर कभी किसी को ऐसा करने का साहस न हो।

अन्त में वे ओझे के घर के पास जा पहुँचे। लोगों की भीड न थी। उन्हें बड़ा सन्तोष हुआ। हाँ, उनकी चाल कुछ धीमी पड़ गयी। फिर जी में सोचा, कहीं यह सब ढकोसला-ही-ढकोसला हो तो व्यर्थ लज्जित होना पड़े। जो सुने, मूर्ख बनाये। कदाचित् ओझा ही मुझे तुच्छबुद्धि समझे। पर अब तो आ गया, यह तजरबा भी हो जाय। और कुछ न होगा तो जाँच ही सही। ओझा का नाम बुद्धू था। लोग चौधरी कहते थे। जाति का चमार था। छोटा-सा घर और वह भी गन्दा। छप्पर इतनी नीची थी कि झुकने पर भी सिर में टक्कर लगने का डर लगता था। दरवाजे पर एक नीम का पेड था। उसके नीचे एक चौरा। नीम के पेड पर एक झण्डी लहराती थी। चौरा पर मिट्टी के सैकड़ों हाथी सिन्दूर से रँगे हुए खडे थे। कई लोहे के नोकदार त्रिशूल भी गड़े थे, जो मानों इन मन्दगति हाथियों के लिए अकुश का काम दे रहे थे। दस बजे थे। बुद्धू

चौधरी, जो एक काले रंग का तोंदीला और रोबदार आदमी था, एक फटे हुए टाट पर बैठा नारियल पी रहा था। बोतल और गिलास भी सामने रखे हुए थे।

बुद्धू ने डाक्टर साहब को देखकर तुरन्त बोतल छिपा दी और नीचे उतरकर सलाम किया। घर से एक बुढ़िया ने मोढ़ा लाकर उनके लिए रख दिया। डाक्टर साहब ने कुछ झेंपते हुए सारी घटना कह सुनायी। बुद्धू ने कहा, हजूर, यह कौन बड़ा काम है। अभी इस एतवार को दारोगाजी की घड़ी चोरी गयी थी, बहुत कुछ तहकीकात की, पता न चला। मुझे बुलाया। मैंने बात-की-बात में पता लगा दिया। पाँच रुपये इनाम दिये। कल की बात है, जमादार साहब की घोड़ी खो गयी थी। चारों तरफ दौड़ते-फिरते थे। मैंने ऐसा पता बता दिया कि घोड़ी चरती हुई मिल गयी। इसी विद्या की बदौलत हजूर-हुक्काम सभी मानते हैं।

डाक्टर को दारोगा और जमादार की चर्चा न रुची। इन सब गँवारों की आँखों में जो कुछ है, वह दारोगा और जमादार ही हैं। बोले—मैं केवल चोरी का पता लगाना नहीं चाहता, मैं चोर को सजा भी देना चाहता हूँ।

बुद्धू ने एक क्षण के लिए आँखें बन्द कीं, जमुहाइयाँ लीं, चुटकियाँ बजायीं और फिर कहा—यह घर ही के किसी आदमी का काम है।

डाक्टर—कुछ परवाह नहीं, कोई हो।

बुढ़िया—पीछे से कोई बात बने या बिगड़ेगी तो हजूर हमीं को बुरा कहेंगे।

डाक्टर—इसकी तुम कुछ चिन्ता न करो, मैंने खूब सोच लिया है। बल्कि अगर घर के किसी आदमी की शरारत है तो मैं उसके साथ और भी कड़ाई करना चाहता हूँ। बाहर का आदमी मेरे साथ छल करे तो क्षमा के योग्य है, पर घर के आदमी को मैं किसी प्रकार क्षमा नहीं कर सकता।

बुद्धू—तो हजूर क्या चाहते हैं!

डाक्टर—बस यही कि मेरे रुपये मिल जायँ और चोर किसी बड़े कष्ट में पड़ जाय।

बुद्धू—मूठ चला दूँ।

बुढिया—ना बेटा, मूठ के पास न जाना। न जाने कैसी पड़े, कैसी न पड़े।

डाक्टर—तुम मूठ चला दो, इसका जो कुछ मेहनताना और इनाम हो, मैं देने को तैयार हूँ।

बुढिया—बेटा, मैं फिर कहती हूँ, मूठ के फेर में न पड़। कोई जोखम की बात आ पड़ेगी तो यही बाबूजी फिर तेरे सिर होंगे और तेरे बनाये कुछ न बनेगी। क्या जानता नहीं, मूठ का उतार कितना कठिन है?

बुद्धू—हाँ बाबूजी! फिर एक बार अच्छी तरह सोच लीजिए। मूठ तो मैं चला दूँगा, लेकिन उसको उतारने का जिम्मा मैं नहीं ले सकता।

डाक्टर—अजी कह तो दिया, मैं तुमसे उतारने को न कहूँगा, चलाओ भी तो।

बुद्धू ने आवश्यक सामान की एक लम्बी तालिका बनायी। डाक्टर साहब ने सामान की अपेक्षा रुपये देना अधिक उचित समझा। बुद्धू राजी हो गया। डाक्टर साहब चलते-चलते बोले—ऐसा मन्तर चलाओ कि सवेरा होते-होते चोर मेरे सामने माल लिये हुए आ जाय।

बुद्धू ने कहा—आप निसाखातिर रहें।

(४)

डाक्टर साहब वहाँ से चले तो ग्यारह बजे थे। जाड़े की रात, कड़ाके की ठण्ढ थी। उनकी माँ और स्त्री दोनों बैठी हुई उनकी राह देख रही थीं। जी को बहलाने के लिए बीच में एक अँगीठी रख ली थी, जिसका प्रभाव शरीर की अपेक्षा विचार पर अधिक पड़ता था। यहाँ कोयला विलास्य पदार्थ समझा जाता था। बुढिया महरी जगिया वहीं एक फटा टाट का टुकड़ा ओढ़े पड़ी थी। वह बार-बार उठकर अपनी अँधेरी कोठरी में जाती, आले पर कुछ टटोलकर देखती और फिर अपनी जगह पर आकर पड़ रहती। बार-बार पूछती, कितनी रात गयी होगी। ज़रा भी खटका होता तो चौंक पड़ती और चिन्तित दृष्टि से इधर-उधर देखने लगती। आज डाक्टर साहब ने नियम के प्रतिकूल क्यों इतनी देर लगायी, इसका सबको आश्चर्य था। ऐसे अवसर बहुत कम आते थे कि उन्हें रोगियों को देखने के लिए रात को जाना पड़ता हो। यदि कुछ लोग उनकी डाक्टरी के कायल भी थे, तो वे रात को उस गली में आने का साहस

न करते थे। सभा-सोसाइटियों में जाने की उन्हें रुचि न थी। मित्रों से भी उनका मेल-जोल न था। माँ ने कहा—जाने कहाँ चला गया, खाना बिलकुल पानी हो गया।

अहिल्या—आदमी जाता है तो कहकर जाता है, आधी रात से ऊपर हो गयी।

माँ—कोई ऐसी ही अटक हो गयी होगी, नहीं तो वह कब घर से बाहर निकलता है।

अहिल्या—मैं तो अब सोने जाती हूँ, उनका जब जी चाहे, आएँ। कोई सारी रात बैठा पहरा देगा!

यही बातें हो रही थीं कि डाक्टर साहब घर आ पहुँचे। अहिल्या सँभल बैठी, जगिया उठकर खड़ी हो गयी और उनकी ओर सहमी हुई आँखों से ताकने लगी। माँ ने पूछा—आज कहाँ इतनी देर लगा दी?

डाक्टर—तुम लोग तो सुख से बैठी हो न! हमें देर हो गयी, इसकी तुम्हें क्या चिन्ता! जाओ, सुख से सोओ, इन ऊपरी दिखावटी बातों से मैं धोखे में नहीं आता। अवसर पाओ तो गला काट लो, इस पर चली हो बात बनाने!

माँ ने दुखी होकर कहा—बेटा! ऐसी जी दुखानेवाली बातें क्यों करते हो? घर में तुम्हारा कौन वैरी है जो तुम्हारा बुरा चेतेगा?

डाक्टर—मैं किसी को अपना मित्र नहीं समझता, सभी मेरे वैरी हैं, मेरे प्राणों के ग्राहक हैं। नहीं तो क्या आँख ओझल होते ही मेज पर से पाँच सौ रुपये उड़ जायँ, दरवाजे बाहर से बन्द थे, कोई गैर आया नहीं, रुपये रखते ही उड़ गये। जो लोग इस प्रकार मेरा गला काटने पर उतारू हों, उन्हें क्योंकर अपना समझूँ। मैंने खूब पता लगा लिया है, अभी एक ओझे के पास से चला आ रहा हूँ। उसने साफ कह दिया कि घर के ही किसी आदमी का काम है। अच्छी बात है, जैसी करनी वैसी भरनी! मैं भी बता दूँगा कि मैं अपने वैरियों का शुभचिन्तक नहीं हूँ। यदि बाहर का आदमी होता तो कदाचित् मैं जाने भी देता। पर जब घर के आदमी, जिनके लिए मैं रात-दिन चक्की पीसता हूँ, मेरे साथ ऐसा छल करें तो वे इसी योग्य हैं कि उनके साथ जरा भी रिआयत न की जाय। देखना सवेरे तक चोर की क्या दशा होती है। मैंने

ओझे से मूठ चलाने को कह दिया है मूठ। चली और उधर चोर के प्राण संकट में पड़े।

जगिया घबड़ाकर बोली—भइया, मूठ में तो जान जोखम है।

डाक्टर—चोर की यही सजा है।

जगिया—किस ओझे ने चलाया है?

डाक्टर—बुद्धू चौधरी ने।

जगिया—अरे राम, उसकी मूठ का तो उतार ही नहीं।

डाक्टर अपने कमरे में चले गये, तो माँ ने कहा—सूम का धन शैतान खाता है। पाँच सौ रुपया कोई मुँह मारकर ले गया। इतने में तो मेरे सातों धाम हो जाते।

अहिल्या बोली—कंगन के लिए बरसों से झींक रही हूँ, अच्छा हुआ, मेरी आह पड़ी है।

माँ—भला घर में उसके रुपये कौन लेगा?

अहिल्या—किवाड़ खुले होंगे, कोई बाहरी आदमी उड़ा ले गया होगा।

माँ—उसको विश्वास क्योंकर आ गया कि घर ही के किसी आदमी ने रुपये चुराये हैं?

अहिल्या—रुपये का लोभ आदमी को शक्की बना देता है।

(५)

रात को एक बजा था। डाक्टर जयपाल भयानक स्वप्न देख रहे थे। एकाएक अहिल्या ने आकर कहा—जरा चलकर देखिए, जगिया का क्या हाल हो रहा है। जान पड़ता है, जीभ ऐंठ गयी। कुछ बोलती ही नहीं, आँखें पथरा गयी हैं।

डाक्टर चौंककर उठ बैठे। एक क्षण तक इधर-उधर ताकते रहे, मानो सोच रहे थे, यह भी स्वप्न तो नहीं है। तब बोले—क्या कहा! जगिया को क्या हो गया!

अहिल्या ने फिर जगिया का हाल कहा। डाक्टर के मुख पर हल्की-सी मुस्कराहट दौड़ गयी। बोले—चोर पकड़ गया, मूठ ने अपना काम किया।

अहिल्या—और जो घर ही के किसी आदमी ने ले लिये होते?

डाक्टर—तो उसकी भी यही दशा होती, सदा के लिए सीख जाता।

अहिल्या—पाँच सौ रुपये के पीछे प्राण ले लेते?

डाक्टर—पाँच सौ रुपये के लिए नहीं, आवश्यकता पड़े तो पाँच हजार खर्च कर सकता हूँ, केवल छल-कपट का दण्ड देने के लिए।

अहिल्या—बड़े निर्दयी हो।

डाक्टर—तुम्हें सिर से पैर तक सोने से लाद दूँ तो मुझे भलाई का पुतला समझने लगो, क्यों? खेद है कि मैं तुमसे यह सनद नहीं ले सकता।

यह कहते हुए वह जगिया की कोठरी में गये। उसकी हालत उससे कहीं अधिक खराब थी जो अहिल्या ने बतायी थी। मुख पर मुर्दनी छायी हुई थी, हाथ-पैर अकड़ गये थे, नाड़ी का कहीं पता न था। उनकी माँ उसे होश में लाने के लिए बार-बार उसके मुँह पर पानी के छींटे दे रही थी। डाक्टर ने यह हालत देखी तो होश उड़ गये। उन्हें अपने उपाय की सफलता पर प्रसन्न होना चाहिए था। जगिया ने रुपये चुराये, इसके लिए अब अधिक प्रमाण की आवश्यकता न थी; परन्तु मूठ इतनी जल्दी प्रभाव डालनेवाली और घातक वस्तु है, इसका उन्हें अनुमान भी न था। वे चोर को एड़ियाँ रगड़ते, पीड़ा से कराहते और तड़पते देखना चाहते थे। बदला लेने की इच्छा आशातीत सफल हो रही थी; परन्तु वह नमक की अधिकता थी, जो कौर को मुँह के भीतर धँसने नहीं देती। यह दुःखमय दृश्य देखकर प्रसन्न होने के बदले उनके हृदय पर चोट लगी। रोष में हम अपनी निर्दयता और कठोरता का भ्रम-मूलक अनुमान कर लिया करते हैं। प्रत्यक्ष घटना विचार से कहीं अधिक प्रभावशालिनी होती है। रणस्थल का विचार कितना कवित्वमय है। युद्धावेश का काव्य कितनी गर्मी उत्पन्न करने वाला है। परन्तु कुचले हुए शव और कटे हुए अङ्ग-प्रत्यङ्ग देखकर कौन मनुष्य है, जिसे रोमाञ्च न हो आवे। दया मनुष्य का स्वाभाविक गुण है।

इसके अतिरिक्त इसका उन्हें अनुमान न था कि जगिया जैसी दुर्बल आत्मा मेरे रोष पर बलिदान होगी। वह समझते थे, मेरे बदले का वार किसी सजीव मनुष्य पर होगा; यहाँ तक कि वे अपनी स्त्री और लड़के को भी इस वार के योग्य समझते थे। पर मरे को मारना, कुचले को कुचलना, उन्हें अपनी

प्रतिघात मर्यादा के विपरीत जान पड़ा। जगिया का यह काम क्षमा के योग्य था। जिसे रोटियों के लाले हों, कपड़ों को तरसे, जिसकी आकाँक्षा का भवन सना अन्धकारमय रहा हो, जिसकी इच्छाएँ कभी पूरी न हुई हों, उसकी नीयत बिगड़ जाय तो आश्चर्य की बात नहीं। वे तत्काल औषधालय में गये, होश में लाने की जो अच्छी-अच्छी औषधियाँ थीं, उनको मिलाकर एक मिश्रित नयी औषधि बना लाये, जगिया के गले में उतार दी। कुछ लाभ न हुआ। तब विद्युत यन्त्र ले आये और उसकी सहायता से जगिया को होश में लाने का यत्न करने लगे। थोड़ी ही देर में जगिया की आँखें खुल गयीं। उसने सहमी हुई दृष्टि से डाक्टर को देखा, जैसे लड़का अपने अध्यापक की छड़ी की ओर देखता है, और उखड़े हुए स्वर में बोली—हाय राम, कलेजा फुँका जाता है, अपने रुपये ले ले, आले पर एक हाँडी है, उसी में रखे हुए हैं। मुझे अङ्गारों से मत जला। मैंने तो यह रुपये तीरथ करने के लिए चुराए थे। क्या तुझे तरस नहीं आता, मुट्ठी-भर रुपयों के लिए मुझे आग में जला रहा है, मैं तुझे काला न समझती थी, हाय राम!

यह कहते-कहते वह फिर मूर्च्छित हो गयी, नाड़ी बन्द हो गयी, ओठ नीले पड़ गये, शरीर के अङ्गों में खिंचाव होने लगा। डाक्टर ने दीन भाव से अहिल्या की ओर देखा और बोले—मैं तो अपने सारे उपाय कर चुका, अब इसे होश में लाना मेरी सामर्थ्य के बाहर है। मैं क्या जानता था कि यह अभागी मूठ इतनी घातक होती है। कहीं इसकी जान पर बन गयी तो जीवन-भर पछताना पड़ेगा। आत्मा की ठोकरों से कभी छुटकारा न मिलेगा। क्या करूँ, बुद्धि कुछ काम नहीं करती।

अहिल्या—सिविल सर्जन को बुलाओ, कदाचित् वह कोई अच्छी दवा दे दे। किसी को जान-बूझकर आग में ढकेलना न चाहिए।

डाक्टर—सिविल सर्जन इससे अधिक और कुछ नहीं कर सकता, जो मैं कर चुका। हर घड़ी इसकी दशा और गिरती जाती है, न जाने हत्यारे ने कौन-सा मन्त्र चला दिया। उसकी माँ मुझे बहुत समझाती रही, पर मैं न क्रोध में उसकी बातों की ज़रा भी परवाह न की।

माँ—बेटा, तुम उसी को बुलाओ जिसने मन्त्र चलाया है, पर क्या किया

जायगा। कहीं मर गयी तो हत्या सिर पर पड़ेगी। कुटुम्ब को सदा सतायेगी।

(६)

दो बज रहे थे; ठण्डी हवा हड्डियों में चुभी जाती थी। डाक्टर लम्बे पाँवों बुद्धू चौधरी के घर की ओर चले जाते थे। इधर-उधर व्यर्थ आँखें दौड़ाते थे कि कोई एक्का या ताँगा मिल जाय। उन्हें मालूम होता था कि बुद्धू का घर बहुत दूर हो गया है। कई बार धोखा हुआ, कहीं रास्ता तो नहीं भूल गया। कई बार इधर आया हूँ, यह बाग तो कभी नहीं मिला, यह लेटर-बक्स भी सडक पर कभी नहीं देखा, यह पुल तो कदापि न था, अवश्य राह भूल गया। किससे पूछूँ। वे अपनी स्मरण-शक्ति पर झुँझलाये और उसी ओर थोड़ी दूर तक दौडे। पता नहीं, दुष्ट इस समय मिलेगा भी या नहीं, शराब में मस्त पडा होगा। कहीं इधर बेचारी चल न बसी हो। कई बार इधर-उधर घूम जाने का विचार हुआ, पर अन्तःप्रेरणा ने सीधी राह से हटने न दिया। यहाँ तक कि बुद्धू का घर देख पड़ा। डाक्टर जयपाल की जान-में-जान आयी। बुद्धू के दरवाजे पर जाकर ज़ोर से कुण्डी खटखटायी। भीतर से कुत्ते ने असभ्यतापूर्ण उत्तर दिया, पर किसी आदमी का शब्द न सुनाई दिया। फिर ज़ोर-ज़ोर से किवाड़ खटखटाये, कुत्ता और भी तेज पड़ा, बुढ़िया की नींद टूटी। बोली—यह कौन इतनी रात गये किवाड तोड़े डालता है?

डाक्टर—मैं हूँ, जो कुछ देर हुई तुम्हारे पास आया था।

बुढिया ने बोली पहचानी, समझ गयी इनके घर के किसी आदमी पर विपद पड़ी, नहीं तो इतनी रात गये क्यों आते; पर अभी तो बुद्धू ने मूठ चलायी नहीं। उसका असर क्योंकर हुआ, समझाती थी तब न माने। खूब फँसे। उठकर कुप्पी जलायी और उसे लिये हुए बाहर निकली। डाक्टर साहब ने पूछा—बुद्धू चौधरी सो रहे हैं। ज़रा उन्हें जगा दो।

बुढ़िया—न बाबूजी, इस बखत मैं न जगाऊँगी, मुझे कचा ही खा जायगा, रात को लाट साहब भी आवें तो नहीं उठता।

डाक्टर साहब ने थोडे शब्दों में पूरी घटना कह सुनायी और बड़ी नम्रता के साथ कहा कि बुद्धू को जगा दे। इतने में बुद्धू अपने-ही-आप बाहर निकल आया और आँखें मलता हुआ बोला—कहिये बाबूजी, क्या हुकुम है।

बुढिया ने चिढकर कहा—तेरी नींद आज कैसे खुल गयी, मैं जगाने गयी होती तो मारने उठता।

डाक्टर—मैंने सारा माजरा बुढ़िया से कह दिया है, इसी से पूछो।

बुढ़िया—कुछ नहीं, तूने मूठ चलायी थी, रुपये इनके घर की महरी ने लिये हैं, अब उसका अब-तब हो रहा है।

डाक्टर—बेचारी मर रही है, कुछ ऐसा उपाय करो कि उसके प्राण बच जायँ।

बुद्धू—यह तो आपने बुरी सुनायी, मूठ को फेरना सहज नहीं है।

बुढिया—बेटा, जान जोखम हैं, क्या तू जानता नहीं। कहीं उलटे फेरने-वाले पर ही पड़े तो जान बचना कठिन हो जाय।

डाक्टर—अब उसकी जान तुम्हारे ही बचाये बचेगी, इतना धर्म करो।

बुढिया—दूसरे की जान की खातिर कोई अपनी जान गढ़े में डालेगा?

डाक्टर—तुम रात-दिन यही काम करते रहते हो, तुम उसके दाँव-घात सब जानते हो। मार भी सकते हो, जिला भी सकते हो। मेरा तो इन बातों पर बिलकुल विश्वास ही न था, लेकिन तुम्हारा कमाल देखकर दंग रह गया। तुम्हारे हाथों कितने ही आदमियों का भला होता है, उस गरीब बुढिया पर दया करो।

बुद्धू कुछ पसीजा, पर उसकी माँ मामलेदारी में उससे कहीं अधिक चतुर थी। डरी, कहीं यह नरम होकर मामला बिगाड़ न दे। उसने बुद्धू को कुछ कहने का अवसर न दिया। बोली—यह तो सब ठीक है, पर हमारे भी बाल-बच्चे हैं। न जाने कैसी पड़े कैसी न पड़े। वह हमारे सिर आवेगी न? आप तो अपना काम निकालकर अलग हो जायँगे। मूठ फेरना हँसी नहीं है।

बुद्धू—हाँ बाबूजी, काम बड़े जोखम का है।

डाक्टर—काम जोखम का है तो तुमसे मुफ्त तो नहीं करवाना चाहता।

बुढिया—आप बहुत देंगे, सौ-पचास रुपये देंगे। इतने में हम कै दिन तक खायँगे। मूठ फेरना साँप के बिल में हाथ डालना है, आग में कूदना है। भगवान की ऐसी ही निगाह हो तो जान बचती है।

डाक्टर—तो माताजी, मैं तुमसे बाहर तो नहीं होता हूँ। जो कुछ तुम्हारी मरजी हो, वह कहो। मुझे तो उस गरीब की जान बचानी है। यहाँ बातों में देर हो रही है, वहाँ मालूम नहीं उसका क्या हाल होगा।

बुढिया—देर तो आप ही कर रहे हैं, आप बात पक्की कर दें तो यह आपके साथ चला जाय। आपकी खातिर यह जोखम अपने सिर ले रही हूँ। दूसरा होता तो झट इनकार कर जाती। आपके मुलाहजे में पड़कर जान-बूझ कर जहर पी रही हूँ।

डाक्टर साहब को एक क्षण एक वर्ष जान पड़ रहा था। वह बुद्धू को उसी समय अपने साथ ले जाना चाहते थे। कहीं उसका दम निकल गया तो यह जाकर क्या बनायेगा। उस समय उनकी आँखों में रुपये का कोई मूल्य न था। केवल यही चिन्ता थी कि जगिया मौत के मुँह से निकल आये। जिस रुपये पर वह अपनी आवश्यकताएँ और घरवालों की आकांक्षाएँ निछावर करते थे उसे दया के आवेश ने बिलकुल तुच्छ बना दिया था। बोले—तुम्हीं बतलाओ, अब मैं क्या कहूँ, पर जो कुछ कहना हो झटपट कह दो।

बुढ़िया—अच्छा तो पाँच सौ रुपये दीजिए, इससे कम में काम न होगा।

बुद्धू ने माँ की ओर आश्चर्य से देखा, और डाक्टर साहब तो मूर्च्छित-से हो गये, निराशा से बोले—इतना मेरे बूते के बाहर है, जान पड़ता है उसके भाग्य में मरना ही बदा है।

बुढिया—तो जाने दीजिए, हमें अपनी जान भार थोड़े ही है। हमने तो आपके मुलाहिजे से इस काम का बीड़ा उठाया था। जाओ बुद्धू सोओ।

डाक्टर—बूढ़ी माता इतनी निर्दयता न करो, आदमी का काम आदमी से ही निकलता है।

बुद्धू—नहीं बाबूजी, मैं हर तरह से आपका काम करने को तैयार हूँ, इसने पाँच सौ कहे, आप कुछ कम कर दीजिए। हाँ, जोखम का ध्यान रखिएगा।

बुढिया—तू जाके सोता क्यों नहीं? इन्हें रुपये प्यारे हैं तो क्या तुझे अपनी जान प्यारी नहीं है। कल को लहू थूँकने लगेगा तो कुछ बनाये न बनेगी, बाल-बच्चों को किस पर छोड़ेगा? है घर में कुछ?

डाक्टर साहब ने सकोच करते हुए ढाई सौ रुपये कहे। बुद्धू राजी हो गया, मामला तय हुआ, डाक्टर साहब उसे साथ लेकर घर की ओर चले। उन्हें ऐसी आत्मिक प्रसन्नता कभी न मिली थी। हारा हुआ मुकदमा जीतकर अदालत से लौटने वाला मुकदमेबाज भी इतना प्रसन्न न होगा। लपके चले जाते थे। बुद्धू

से बार-बार तेज चलने को कहते। घर पहुँचे तो जगिया को बिलकुल मरने के निकट पाया। जान पड़ता था यही साँस अन्तिम साँस है। उनकी माँ और स्त्री दोनों आँसू भरे निराश बैठी थीं। बुद्धू को दोनों ने विनम्र दृष्टि से देखा। डाक्टर साहब के आँसू भी न रुक सके। जगिया की ओर झुके तो आँसू की बूँदें उसके मुरझाये हुए पीले मुँह पर टपक पड़ीं। स्थिति ने बुद्धू को सजग कर दिया। बुढिया की देह पर हाथ रखते हुए बोला—बाबूजी, अब मेरा किया कुछ नहीं हो सकता, यह तो दम तोड़ रही है।

डाक्टर साहब ने गिड़-गिड़ाकर कहा—नहीं चौधरी, ईश्वर के नाम पर अपना मन्त्र चलाओ, उसकी जान बच गयी तो सदा के लिए मैं तुम्हारा गुलाम बना रहूँगा।

बुद्धू—आप मुझे जान-बूझकर जहर खाने को कहते हैं। मुझे मालूम न था कि मूठ के देवता इस बखत इतने गरम हैं। वह मेरे मन में बैठे कह रहे हैं, तुमने हमारा शिकार छीना तो हम तुम्हें निगल जायेंगे।

डाक्टर—देवता को किसी तरह राजी कर लो।

बुद्धू—राजी करना बडा कठिन है, पाँच सौ रुपये दीजिए तो इसकी जान बचे। उतारे के लिए बडे-बडे जतन करने पड़ेंगे।

डाक्टर—पाँच सौ रुपये दे दूँ तो इसकी जान बचा दोगे?

बुद्धू—हाँ, सर्त बदकर।

डाक्टर साहब बिजली की तरह लपककर अपने कमरे में गये और पाँच सौ रुपये की थैली लाकर बुद्धू के सामने रख दी। बुद्धू ने विजय की दृष्टि से थैली को देखा। फिर जगिया का सर अपनी गोद में रखकर उस पर हाथ फेरने लगा। कुछ बुदबुदाकर छू-छू करता जाता था। एक क्षण में उसकी सूरत डरावनी हो गयी, लपटें-सी निकलने लगीं। बार-बार अँगड़ाइयाँ लेने लगा। इसी दशा में उसने एक बेसुरा गीत गाना आरम्भ किया, पर हाथ जगिया के सर पर ही था। अन्त में कोई आध घण्टा बीतने पर जगिया ने आँखें खोल दीं, जैसे बुझते हुए दिये में तेल पड़ जाय। धीरे-धीरे उसकी अवस्था सुधरने लगी। उधर कौवे की बोल सुनायी दी, इधर जगिया एक अँगडायी लेकर उठ बैठी।

(७)

सात बजे थे। जगिया मीठी नींद सो रही थी; उसकी आकृति निरोग थी, बुद्धू रुपयों की थैली लेकर अभी गया था। डाक्टर साहब की माँ ने कहा—बात-की-बात में पाँच सौ रुपये मार ले गया।

डॉक्टर—यह क्यों नहीं कहती कि एक मुरदे को जिला गया। क्या उसके प्राण का मूल्य इतना भी नहीं है।

माँ—देखो, आले पर पाँच सौ रुपये हैं या नहीं ?

डॉक्टर—नहीं, उन रुपयों में हाथ मत लगाना, उन्हें वहीं पड़े रहने दो। उसने तीरथ करने के वास्ते लिये थे, वह उसी काम में लगेंगे।

माँ—यह सब रुपये उसी के भाग के थे।

डॉक्टर—उसके भाग के तो पाँच सौ ही थे, बाकी मेरे भाग के थे। उनकी बदौलत मुझे ऐसी शिक्षा मिली, जो उम्र-भर न भूलेगी। तुम मुझे अब आवश्यक कामों में मुट्ठी बन्द करते हुए न पाओगी।

ब्रह्म का स्वाँग

स्त्री—

मैं वास्तव में अभागिनी हूँ, नहीं तो क्या मुझे नित्य ऐसे-ऐसे घृणित दृश्य देखने पड़ते! शोक की बात यह है कि वे मुझे केवल देखने ही नहीं पड़ते, वरन् दुर्भाग्य ने उन्हें मेरे जीवन का मुख्य भाग बना दिया है। मैं उस सुपात्र ब्राह्मण की कन्या हूँ, जिसकी व्यवस्था बड़े-बड़े गहन धार्मिक विषयों पर सर्वमान्य समझी जाती है। मुझे याद नहीं, घर पर कभी बिना स्नान और देवोपासना किये पानी की एक बूँद भी मुँह में डाली हो। मुझे एक बार कठिन ज्वर में स्नानादि के बिना दवा पीनी पड़ी थी, उसका मुझे महीनों खेद रहा। हमारे घर में धोबी कदम नहीं रखने पाता, चमारिनें दालान में भी नहीं बैठ सकती थीं। किन्तु यहाँ आकर मैं मानों भ्रष्टलोक में पहुँच गयी हूँ। मेरे स्वामी बड़े दयालु, बड़े चरित्रवान और बड़े सुयोग्य पुरुष हैं। उनके यह सद्‌गुण देखकर मेरे पिताजी उन पर मुग्ध हो गये थे। लेकिन वे क्या जानते थे कि यहाँ लोग अघोर-पथ के अनुयायी हैं। संध्या और उपासना तो दूर रही, कोई नियमित रूप से स्नान भी नहीं करता। बैठक में नित्य मुसलमान, क्रिस्तान सब आया-जाया करते हैं और स्वामीजी वहीं बैठे-बैठे पानी, दूध, चाय पी लेते हैं। इतना ही नहीं, वह वहीं बैठे-बैठे मिठाइयाँ भी खा लेते हैं। अभी कल की बात है, मैंने उन्हे लेमोनेड पीते देखा था। साईस जो चमार है, बेरोक-टोक घर में चला आता है। सुनती हूँ, वे अपने मुसलमान मित्रों के घर दावतें खाने भी जाते हैं। यह भ्रष्टाचार मुझसे नहीं देखा जाता। मेरा चित्त घृणा से व्यस्त हो जाता है। जब वे मुस्कुराते हुए मेरे समीप आ जाते हैं और मेरा हाथ पकड़कर अपने समीप बैठा लेते हैं तो मेरा जी चाहता है कि धरती फट जाय और मैं उसमें समा जाऊँ। हा हिन्दू जाति! तूने हम स्त्रियों को अपने पुरुषों की दासी बनाना ही क्या हमारे जीवन का परम कर्तव्य बना दिया! हमारे विचारों का, हमारे सिद्धान्तों का, यहाँ तक कि हमारे धर्म का भी कुछ मूल्य नहीं रहा।

* * * *

अब मुझे धैर्य नहीं। आज मैं इस अवस्था का अन्त कर देना चाहती हूँ। मैं इस आसुरिक भ्रष्ट-जाल से निकल जाऊँगी। मैंने अपने पिता की शरण में जाने का निश्चय कर लिया है। आज यहाँ सहभोजन हो रहा है, मेरे पति उसमें सम्मिलित ही नहीं, वरन् उसके मुख्य प्रेरकों में हैं। इन्हीं के उद्योग तथा प्रेरणा से यह विधर्मीय अत्याचार हो रहा है। समस्त जातियों के लोग एक साथ बैठकर भोजन कर रहे हैं। सुनती हूँ, मुसलमान भी एक ही पंक्ति में बैठे हुए हैं। आकाश क्यों नहीं गिर पड़ता! क्या भगवान धर्म की रक्षा करने के लिए अब अवतार न लेंगे! ब्राह्मण जाति अपने निजी बन्धुओं के सिवाय अन्य ब्राह्मणों का भी पकाया भोजन नहीं करती, वही महान् जाति इस अधोगति को पहुँच गयी कि कायस्थों, बनियों, मुसलमानों के साथ बैठकर खाने में लेशमात्र भी सङ्कोच नहीं करती, बल्कि इसे जातीय गौरव, जातीय एकता का हेतु समझती है!

पुरुष—

वह कौन शुभ घड़ी होगी कि इस देश की स्त्रियों में ज्ञान का उदय होगा और वे राष्ट्रीय सगठन में पुरुषों की सहायता करेंगी? हम कब तक ब्राह्मणत्व के गोरख-धन्धे मे फँसे रहेंगे? हमारी विवाह-प्रणाली कब तक गोत्र के बन्धन मे जकड़ी रहेगी। हम कब जानेंगे कि स्त्री और पुरुष के विचारों की अनुकूलता और समानता गोत्र और वर्ण से कहीं अधिक महत्व रखती है? यदि ऐसा ज्ञात होता तो मैं वृन्दा का पति न होता और न वृन्दा मेरी पत्नी। हम दोनों के विचारों में ज़मीन और आसमान का अन्तर है। यद्यपि वह प्रत्यक्ष नहीं कहती, किन्तु मुझे विश्वास है कि वह मेरे विचारों को घृणा की दृष्टि से देखती है। मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि वह मुझे स्पर्श भी नहीं करना चाहती। यह उसका दोष नहीं, यह हमारे माता-पिता का दोष है, जिन्होंने हम दोनों पर ऐसा घोर अत्याचार किया।

* * * *

कल वृन्दा खुल पड़ी। मेरे कई मित्रों ने सहभोज का प्रस्ताव किया था। मैंने उसका सहर्ष समर्थन किया। कई दिन के वाद-विवाद के पश्चात् अन्त को कल कुछ गिन-गिनाये सज्जनों ने सहभोज का सामान कर ही डाला। मेरे अतिरिक्त केवल चार और सज्जन ब्राह्मण थे, शेष अन्य जातियों के लोग थे। यह उदारता वृन्दा के लिए असह्य हो गयी। जब मैं भोजन करके लौटा तो वह

ऐसी विकल थी मानों उसके मर्मस्थल पर आघात हुआ हो। मेरी ओर विषाद-पूर्ण नेत्रों से देखकर बोली—अब तो स्वर्ग का द्वार अवश्य खुल गया होगा!

यह कठोरशब्द मेरे हृदय पर तीर के समान लगे। ऐंठकर बोला—स्वर्ग और नर्क की चिन्ता में वे रहते हैं—जो अपाहिज हैं, कर्तव्य-हीन हैं, निर्जीव हैं। हमारा स्वर्ग और नर्क सब इसी पृथ्वी पर है। हम इस कर्म-क्षेत्र में कुछ कर जाना चाहते हैं।

वृन्दा—धन्य है आपके पुरुषार्थ को, आपके सामर्थ्य को! अब ससार में सुख और शान्ति का साम्राज्य हो जायगा। आपने ससार का उद्धार कर दिया। इससे बढकर उसका और कल्याण क्या हो सकता है!

मैंने झुँझलाकर कहा—जब तुम्हें इन विषयों के समझने की ईश्वर ने बुद्धि ही नहीं दी, तो क्या समझाऊँ। इस पारस्परिक भेद-भाव से हमारे राष्ट्र को जो हानि हो रही है, उसे मोटी-से-मोटी बुद्धि का मनुष्य भी समझ सकता है। इस भेद को मिटाने से देश का कितना कल्याण होता है, इसमें किसी को सन्देह नहीं। हाँ, जो जानकर भी अनजान बने उसकी बात दूसरी है।

वृन्दा—बिना एक साथ भोजन किये परस्पर प्रेम उत्पन्न नहीं हो सकता?

मैंने इस विवाद में पडना अनुपयुक्त समझा। किसी ऐसी नीति की शरण लेनी आवश्यक जान पड़ी, जिसमें विवाद का स्थान ही न हो। वृन्दा की धर्म पर बडी श्रद्धा है, मैंने उसी के शस्त्र से उसे पराजित करना निश्चय किया। बडे गम्भीर भाव से बोला—यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। किन्तु सोचो तो यह कितना घोर अन्याय है कि हम सब एक ही पिता की सन्तान होते हुए, एक दूसरे से घृणा करें, ऊँच-नीच की व्यवस्था में मग्न रहें। यह सारा जगत उसी परमपिता का विराट रूप है। प्रत्येक जीव में उसी परमात्मा की ज्योति आलोकित हो रही है। केवल इसी भौतिक परदे ने हमें एक दूसरे से पृथक् कर दिया है। यथार्थ में हम सब एक हैं। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश अलग-अलग घरों में जाकर भिन्न नहीं हो जाता, उसी प्रकार ईश्वर की महान् आत्मा पृथक्-पृथक् जीवों में प्रविष्ट होकर विभिन्न नहीं होती...।

मेरी इस ज्ञान-वर्षा ने वृन्दा के शुष्क हृदय को तृप्त कर दिया। वह

तन्मय होकर मेरी बातें सुनती रही। जब मैं चुप हुआ तो उसने मुझे भक्ति-भाव से देखा और रोने लगी।

स्त्री—

स्वामी के ज्ञानोपदेश ने मुझे सजग कर दिया, मैं अन्धेरे कुएं में पडी थी। इस उपदेश ने मुझे उठाकर एक पर्वत के ज्योतिर्मय शिखर पर बैठा दिया। मैंने अपनी कुलीनता से, झूठे अभिमान से, अपने वर्ण की पवित्रता के गर्व में, कितनी आत्माओं का निरादर किया! परमपिता, तुम मुझे क्षमा करो। मैंने अपने पूज्यपाद पति से इस अज्ञान के कारण, जो अश्रद्धा प्रकट की है, जो कठोर शब्द कहे हैं, उन्हें क्षमा करना!

जब से मैंने वह अमृत-वाणी सुनी है, मेरा हृदय अत्यन्त कोमल हो गया है, नाना प्रकार की सत्कल्पनाएँ चित्त में उठती रहती हैं। कल धोबिन कपडे लेकर आयी थी। उसके सिर में बडा दर्द था। पहले मैं उसे इस दशा में देखकर कदाचित् मौखिक सहवेदना प्रगट करती, अथवा महरी से उसे थोड़ा तेल दिलवा देती, पर कल मेरा चित्त विकल हो गया। मुझे प्रतीत हुआ, मानों यह मेरी बहिन है। मैंने उसे अपने पास बैठा लिया और घण्टे-भर तक उसके सिर में तेल मलती रही। उस समय मुझे जो स्वर्गीय आनन्द हो रहा था, वह अकथनीय है। मेरा अन्तःकरण किसी प्रबल शक्ति के वशीभूत होकर उसकी ओर खिंचा चला जाता था। मेरी ननद ने आकर मेरे इस व्यवहार पर कुछ नाक-भौं चढ़ायी, पर मैंने लेशमात्र भी परवाह न की। आज प्रातःकाल कड़ाके की सर्दी थी। हाथ-पाँव गले जाते थे। महरी काम करने आयी तो खडी काँप रही थी। मैं लिहाफ ओढ़े अँगीठी के सामने बैठी हुई थी। तिस पर भी मुँह बाहर निकालते न बनता था। महरी की सूरत देखकर मुझे अत्यन्त दुःख हुआ। मुझे अपनी स्वार्थवृत्ति पर लज्जा आयी। इसके और मेरे बीच में क्या भेद है? इसकी आत्मा में उसी प्रकार की ज्योति है। यह अन्याय क्यों? क्या इसी लिए कि माया ने हम में भेद कर दिया है? मुझे और सोचने का साहस नहीं हुआ। मैं उठी, अपनी ऊनी चादर लाकर महरी को ओढा दी और उसे हाथ पकड़कर अँगीठी के पास बैठा लिया। इसके उपरान्त मैंने अपना लिहाफ रख दिया और इसके साथ बैठकर बर्तन

धोने लगी। वह सरल-हृदया मुझे वहाँ से बार-बार हटाना चाहती थी। मेरी ननद ने आकर मुझे कौतूहल से देखा और इस प्रकार मुँह बनाकर चली गयी, मानों मैं क्रीड़ा कर रही हूँ। सारे घर में हलचल पड़ गयी और इस ज़रा-सी बात पर! हमारी आँखों पर कितने मोटे परदे पड़ गये हैं! हम परमात्मा का कितना अपमान कर रहे हैं?

पुरुष—

कदाचित् मध्यम पथ पर रहना नारी-प्रकृति ही में नहीं है—वह केवल सीमाओं पर ही रह सकती है। वृन्दा कहाँ तो अपनी कुलीनता और अपनी कुल-मर्यादा पर जान देती थी, कहाँ अब साम्य और सहृदयता की मूर्ति बनी हुई है। मेरे उस सामान्य उपदेश का यह चमत्कार है! अब मैं भी अपनी प्रेरक शक्तियों पर गर्व कर सकता हूँ। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है कि वह नीच जाति की स्त्रियों के साथ बैठे, हँसे और बोले। उन्हें कुछ पढ़कर सुनाये, लेकिन उनके पीछे अपने को बिलकुल भूल जाना मैं कदापि पसन्द नहीं कर सकता। तीन दिन हुए, मेरे पास एक चमार अपने ज़मींदार पर नालिश करने आया था। निस्सन्देह जमींदारों ने उसके साथ ज्यादती की थी, लेकिन वकीलों का काम मुफ्त में मुकदमे दायर करना नहीं। फिर एक चमार के पीछे एक बड़े जमींदार से बैर करूँ! ऐसे तो वकालत कर चुका! उसके रोने की भनक वृन्दा के कान में भी पड़ गयी। बस, वह मेरे पीछे पड गयी कि उस मुकदमे को जरूर ले लो। मुझसे तर्क-वितर्क करने पर उद्यत हो गयी! मैंने बहाना करके उसे किसी प्रकार टालना चाहा लेकिन उसने मुझसे वकालतनामे पर हस्ताक्षर कराकर तब पिंड छोड़ा। उसका परिणाम यह हुआ कि पिछले तीन दिन मेरे यहाँ मुफ्तखोर मुवक्किलों का ताँता लगा रहा और मुझे कई बार वृन्दा से कठोर शब्दों में बातें करनी पडीं। इसी से प्राचीन काल के व्यवस्थाकारों ने स्त्रियों को धार्मिक उपदेशों का पात्र नहीं समझा था। इनकी समझ में यह नहीं आता कि प्रत्येक सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप कुछ और ही होता है। हम सभी जानते हैं कि ईश्वर न्यायशील है, किन्तु न्याय के पीछे अपनी परिस्थिति को कौन भूलता है। आत्मा की व्यापकता को यदि व्यवहार में लाया जाय तो आज संसार में साम्य का राज्य हो जाय, किन्तु उसी भाँति साम्य जैसे दर्शन का

एक सिद्धान्त ही रहा है और रहेगा, वैसे ही राजनीति भी एक अलभ्य वस्तु है और रहेगी। हम इन दोनों सिद्धान्तों की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करेंगे, उन पर तर्क करेंगे, अपने पक्ष को सिद्ध करने में उनसे सहायता लेंगे, किन्तु उनका उपयोग करना असम्भव है। मुझे नहीं मालूम था कि वृन्दा इतनी मोटी-सी बात भी न समझेगी!

* * * *

वृन्दा की बुद्धि दिनों-दिन उलटी ही होती जाती है। आज रसोई में सबके लिए एक ही प्रकार के भोजन बने। अब तक घरवालों के लिए महीन चावल पकते थे, तरकारियाँ घी में बनती थीं, दूध-मक्खन आदि दिया जाता था। नौकरों के लिए मोटा चावल, मटर की दाल और तेल की भाजियाँ बनती थीं। बड़े-बड़े रईसों के यहाँ भी यही प्रथा चली आती है। हमारे नौकरों ने कभी इस विषय में शिकायत नहीं की। किन्तु आज देखता हूँ, वृन्दा ने सबके लिए एक ही भोजन बनवाया है। मैं कुछ बोल न सका। भौचक्का-सा हो गया। वृन्दा सोचती होगी कि भोजन में भेद करना नौकरों पर अन्याय है। कैसा बच्चों का-सा विचार है! नासमझ! यह भेद सदा रहा है और रहेगा। मैं भी राष्ट्रीय ऐक्य का अनुरागी हूँ। समस्त शिक्षित-समुदाय राष्ट्रीयता पर जान देता है। किन्तु कोई स्वप्न में भी कल्पना नहीं करता कि हम मजदूरों या सेवा-वृत्ति-धारियों को समता का स्थान देंगे। हम उनमें शिक्षा का प्रचार करना चाहते हैं। उनको दीनावस्था से उठाना चाहते हैं। यह हवा संसार-भर मे फैली हुई है; पर इसका मर्म क्या है, यह दिल में सभी समझते हैं, चाहे कोई खोल-कर न कहे। इसका अभिप्राय यही है कि हमारा राजनैतिक महत्व बढ़े, हमारा प्रभुत्व उदय हो, हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव अधिक हो, हमे यह कहने का अधिकार हो जाय कि हमारी ध्वनि केवल मुट्ठी-भर शिक्षितवर्ग ही की नहीं, वरन् समस्त जाति की संयुक्त ध्वनि है, पर वृन्दा को यह रहस्य कौन समझावे!

स्त्री—

कल मेरे पति महाशय खुल पड़े। इसलिए मेरा चित्त खिन्न है। प्रभो! संसार में इतना दिखावा, इतनी स्वार्थान्धता है, हम इतने दीन-घातक हैं!

उनका उपदेश सुनकर मैं उन्हें देव-तुल्य समझने लगी थी। आज मुझे ज्ञात हो गया कि जो लोग एक साथ दो नावों पर बैठना जानते हैं, वे ही जाति के हितैषी कहलाते हैं।

कल मेरी ननद की विदाई थी। वह ससुराल जा रही थी। बिरादरी की कितनी ही महिलाएँ निमन्त्रित थीं। वे उत्तम-उत्तम वस्त्राभूषण पहने कालीनों पर बैठी हुई थीं। मैं उनका स्वागत कर रही थी। निदान मुझे द्वार के निकट कई स्त्रियाँ भूमि पर बैठी हुई दिखाई दीं, जहाँ इन महिलाओं की जूतियाँ और स्लीपरें रक्खी हुई थीं। वे बिचारी भी बिदाई देखने आयी थीं। मुझे उनका वहाँ बैठना अनुचित जान पड़ा। मैंने उन्हें भी लाकर कालीन पर बैठा दिया। इस पर महिलाओं में मटकियाँ होने लगीं और थोड़ी देर में वे किसी-न-किसी बहाने से एक-एक करके चली गयीं। मेरे पति महाशय से किसी ने यह समाचार कह दिया। वे बाहर से क्रोध में भरे हुए आये और आँखें लाल करके बोले—यह तुम्हें क्या सूझी है, क्या हमारे मुँह में कालिख लगवाना चाहती हो? तुम्हें ईश्वर ने इतनी भी बुद्धि नहीं दी कि किसके साथ बैठना चाहिए? भले घर की महिलाओं के साथ नीच स्त्रियों को बैठा दिया। वे अपने मन में क्या कहती होंगी? तुमने मुझे कहीं मुँह दिखाने लायक नहीं रखा। छिः! छिः!!

मैंने सरल भाव से कहा—इससे महिलाओं का तो क्या अपमान हुआ! आत्मा तो सबकी एक है। आभूषणों से आत्मा तो ऊँची नहीं हो जाती!

पति महाशय ने होंठ चबाकर कहा—चुप भी रहो, वेसुरा राग अलाप रही हो। बस वही मुर्गी की एक टाँग। आत्मा एक है, परमात्मा एक है? न कुछ जानो, न बूझो, सारे शहर में नक्कू बना दिया, उस पर और बोलने को मरती हो। उन महिलाओं की आत्मा को कितना दुःख हुआ, कुछ इस पर भी ध्यान दिया?

मैं विस्मित होकर उनका मुँह देखने लगी।

* * * *

आज प्रातःकाल उठी, तो मैंने एक विचित्र दृश्य देखा। रात को मेहमानों की जूठी पत्तल, सकोरे, दोने आदि बाहर मैदान में फेंक दिये गये थे।

पचासों मनुष्य उन पत्तलों पर गिरे हुए उन्हें चाट रहे थे। हाँ, मनुष्य थे, वही मनुष्य जो परमात्मा के निज-स्वरूप हैं। कितने ही कुत्ते भी उन पत्तलों पर झपट रहे थे, पर वे कङ्गले कुत्तों को मार-मारकर भगा देते थे। उनकी दशा कुत्तों से भी गयी-बीती थी। यह कौतुक देखकर मुझे रोमाञ्च होने लगा, मेरी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। भगवान्! ये भी हमारे भाई-बहन हैं, हमारी आत्माएँ हैं! उनकी ऐसी शोचनीय, दीन दशा! मैंने तत्क्षण महरी को भेजकर उन मनुष्यों को बुलवाया और जितनी पूरियाँ-मिठाइयाँ मेहमानों के लिए रक्खी हुई थीं, सब पत्तलों मे रखकर उन्हें दे दीं। महरी थर-थर काँप रही थी, सरकार सुनेंगे तो मेरे सिर का एक बाल भी न छोड़ेंगे। लेकिन मैंने उसे ढाढ़स दिया, तब उसकी जान-में-जान आयी।

अभी ये बेचारे कङ्गले मिठाइयाँ खा ही रहे थे कि पति महाशय मुँह लाल किये हुए आये और अत्यन्त कठोर स्वर मे बोले—तुमने भङ्ग तो नहीं खा ली? जब देखो, एक-न-एक उपद्रव खड़ा कर देती हो। मेरी समझ में नहीं आता कि तुम्हें क्या हो गया है। ये मिठाइयाँ डोमड़ों के लिए नहीं बनायी गयी थीं। इनमें घी, शक्कर, मैदा लगा था, जो आजकल मोतियों के तौल बिक रहा है। हलवाइयों को दूध के धोये रुपये मज़दूरी के दिये गये थे। तुमने उठाकर सब डोमड़ों को खिला दीं। अब मेहमानों को क्या खिलाया जायगा? तुमने मेरी इज्ज़त बिगाड़ने का प्रण कर लिया है क्या?

मैंने गम्भीर भाव से कहा—आप व्यर्थ इतने क्रुद्ध होते हैं। आपकी जितनी मिठाइयाँ मैंने खिला दी हैं, वह मैं मँगवा दूँगी। मुझसे यह नहीं देखा जाता कि कोई आदमी तो मिठाइयाँ खाय और कोई पत्तलें चाटे। डोमड़े भी तो मनुष्य ही हैं। उनके जीव में भी तो उसी...

स्वामी ने बात काटकर कहा—रहने भी दो, मरी तुम्हारी आत्मा! बस तुम्हारी ही रक्षा से आत्मा की रक्षा होगी! यदि ईश्वर की इच्छा होती कि प्राणिमात्र को समान सुख प्राप्त हो तो उसे सब को एक दशा में रखने से किसने रोका था? वह ऊँच-नीच का भेद होने ही क्यों देता है? जब उसकी आज्ञा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, तो इतनी महान् सामाजिक व्यवस्था उसकी आज्ञा बिना क्योंकर भङ्ग हो सकती है? जब वह स्वयं

सर्वव्यापी है तो वह अपने ही को ऐसी-ऐसी घृणोत्पादक अवस्थाओं में क्यों रखता है ? जब तुम इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दे सकती तो उचित है कि ससार की वर्तमान रीतियों के अनुसार चलो। इन वेसिर-पैर की बातों से हँसी और निन्दा के सिवाय और कुछ लाभ नहीं।

मेरे चित्त की क्या दशा हुई, वर्णन नहीं कर सकती। मैं अवाक् रह गयी। हा स्वार्थ! हा मायान्धकार! हम ब्रह्म का भी स्वाँग बनाते हैं।

उसी क्षण से पतिश्रद्धा और पतिभक्ति का भाव मेरे हृदय से लुप्त हो गया।

यह घर मुझे अब कारागार लगता है, किन्तु मैं निराश नहीं हूँ। मुझे विश्वास है कि जल्दी या देर में ब्रह्म-ज्योति यहाँ अवश्य चमकेगी और वह इस अन्धकार को नष्ट कर देगी।

विमाता

(१)

स्त्री की मृत्यु के तीन ही मास बाद पुनर्विवाह करना मृतात्मा के साथ ऐसा अन्याय और उसकी आत्मा पर ऐसा आघात है जो कदापि क्षम्य नहीं हो सकता। मैं यह न कहूँगा कि उस स्वर्गवासिनी की मुझसे अन्तिम प्रेरणा थी और न मेरा शायद यह कथन ही मान्य समझा जाय कि हमारे छोटे बालक के लिए 'माँ' की उपस्थिति परमावश्यक थी। परन्तु इस विषय में मेरी आत्मा निर्मल है और मैं आशा करता हूँ कि स्वर्ग लोक में मेरे इस कार्य की निर्दय आलोचना न की जायगी। सारांश यह कि मैंने विवाह किया और यद्यपि एक नव-विवाहिता वधू को मातृत्व-उपदेश बेसुरा राग था, पर मैंने पहले ही दिन अम्बा से कह दिया कि मैंने तुमसे केवल इस अभिप्राय से विवाह किया है कि तुम मेरे भोले बालक की माँ बनो और उसके हृदय से उसकी माँ की मृत्यु का शोक भुला दो!

(२)

दो मास व्यतीत हो गये। मैं संध्या समय मुन्नू को साथ लेकर वायु-सेवन को जाया करता था। लौटते समय कतिपय मित्रों से भेंट भी कर लिया करता था। उन संगतों में मुन्नू श्यामा की भाँति चहकता। वास्तव में इन संगतों से मेरा अभिप्राय मनोविनोद नहीं, केवल मुन्नू के असाधारण बुद्धि-चमत्कार को प्रदर्शित करना था। मेरे मित्रगण जब मुन्नू को प्यार करते और उसकी विलक्षण बुद्धि की सराहना करते तो मेरा हृदय बाँसों उछलने लगता था। एक दिन मैं मुन्नू के साथ बाबू ज्वालासिंह के घर बैठा हुआ था। ये मेरे परम मित्र थे। मुझमें और उनमें कुछ भेद-भाव न था। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अपनी क्षुद्रताएँ, अपने पारिवारिक कलहादि और अपनी आर्थिक कठिनाइयाँ बयान किया करते थे। नहीं हम इन मुलाकातों में भी अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करते थे और अपनी दुरवस्था का जिक्र कभी हमारी ज़बान पर न आता था। अपनी कालिमाओं को सदैव छिपाते थे। एकता में भी भेद था और घनिष्ठता में भी अन्तर। अचानक बाबू ज्वालासिंह ने मुन्नू से पूछा—क्यों तुम्हारी अम्माँ

तुम्हें खूब प्यार करती हैं न ? मैंने मुस्कराकर मुन्नू की ओर देखा। उसके उत्तर के विषय में मुझे कोई सन्देह न था। मैं भलीभाँति जानता था कि अम्बा उसे बहुत प्यार करती है। परन्तु मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब मुन्नू ने इस प्रश्न का उत्तर मुख से न देकर नेत्रों से दिया। उसके नेत्रों से आँसू की बूँदें टपकने लगीं। मैं लज्जा से गड़ गया। इस अश्रु-जल ने अम्बा के उस सुन्दर चित्र को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जो गत दो मास से मैंने हृदय में अङ्कित कर रखा था। ज्वालासिंह ने मुझे कुछ संशय की दृष्टि से देखा और पुनः मुन्नू से पूछा—क्यों रोते हो बेटा ? मुन्नू बोला—रोता नहीं हूँ, आँखों में धुआँ लग गया था। ज्वालासिंह का विमाता की ममता पर सन्देह करना स्वाभाविक बात थी, परन्तु वास्तव में मुझे भी सन्देह हो गया। अम्बा सहृदयता और स्नेह की वह देवी नहीं है, जिसकी सराहना करते मेरी जिह्वा न थकती थी। वहाँ से उठा तो मेरा हृदय भरा हुआ था और लज्जा से माथा न उठता था।

(३)

मैं घर की ओर चला तो मन में विचार करने लगा कि किस प्रकार अपने क्रोध को प्रकट करूँ। क्यों न मुँह ढाँक कर सो रहूँ। अम्बा जब पूछे तो कठोरता से कह दूँ कि सिर में पीड़ा है, मुझे तंग मत करो। भोजन के लिए उठाये तो झिड़क कर उत्तर दूँ। अम्बा अवश्य समझ जायगी कि कोई बात मेरी इच्छा के प्रतिकूल हुई है। मेरे पाँव पकड़ने लगेगी। उस समय अपनी व्यंग-पूर्ण बातों से उसका हृदय वेध डालूँगा। ऐसा रुलाऊँगा कि वह भी याद करे। पुनः विचार आया कि उसका हँसमुख चेहरा देखकर मैं अपने हृदय को वश में रख सकूँगा या नहीं। उसकी एक प्रेम-पूर्ण दृष्टि, एक मीठी बात, एक रसीली चुटकी मेरी शिलातुल्य रुष्टता के टुकड़े-टुकड़े कर सकती है। परन्तु हृदय की इस निर्बलता पर मेरा मन झुँझला उठा। यह मेरी क्या दशा है, क्या इतनी जल्दी मेरे चित्त की काया पलट गयी ? मुझे पूर्ण विश्वास था कि मैं इन मृदुल वाक्यों की आँधी और ललित कटाक्षों के बहाव में भी अचल रह सकता हूँ और कहाँ अब यह दशा हो गयी कि मुझमें साधारण झोंके को भी सहन करने की सामर्थ्य नहीं! इन विचारों से हृदय में कुछ दृढ़ता आयी, तिस पर भी क्रोध की लगाम पग-पग पर ढीली होती जाती थी। अन्त में मैंने हृदय को बहुत दबाया और

बनावटी क्रोध का भाव धारण किया। ठान लिया कि चलते-ही-चलते एक दम से बरस पड़ूँगा।

ऐसा न हो कि विलम्बरूपी वायु इस क्रोधरूपी मेघ को उड़ा ले जाय; परन्तु ज्योंही घर पहुँचा, अम्मा ने दौड़कर मुन्नू को गोदी में ले लिया और प्यार से सने हुए कोमल स्वर से बोली—आज तुम इतनी देर तक कहाँ घूमते रहे? चलो, देखो, मैंने तुम्हारे लिए कैसी अच्छी-अच्छी फुलौड़ियाँ बनायी हैं। मेरा कृत्रिम क्रोध एक क्षण में उड़ गया। मैंने विचार किया, इस देवी पर क्रोध करना भारी अत्याचार है। मुन्नू अबोध बालक है। सम्भव है कि वह अपनी माँ को स्मरण कर रो पड़ा हो। अम्मा इसके लिए दोषी नहीं ठहरायी जा सकती। हमारे मनोभाव पूर्व विचारों के अधीन नहीं होते, हम उनको प्रकट करने के निमित्त कैसे-कैसे शब्द गढ़ते हैं, परन्तु समय पर शब्द हमें धोखा दे जाते हैं और वे ही भावनाएँ स्वाभाविक रूप में प्रकट होती हैं। मैंने अम्मा को न तो कोई व्यंग-पूर्ण बातें ही कहीं और न क्रोधित हो मुख ढाँककर सोया ही, बल्कि अत्यन्त कोमल स्वर में बोला—मुन्नू ने आज मुझे अत्यन्त लज्जित किया। खजानची साहब ने पूछा कि तुम्हारी नयी अम्माँ तुम्हें प्यार करती हैं या नहीं, तो ये रोने लगा। मैं लज्जा से गड़ गया। मुझे तो स्वप्न मे भी यह विचार नहीं हो सकता कि तुमने इसे कुछ कहा होगा। परन्तु अनाथ बच्चों का हृदय उस चित्र की भाँति होता है जिस पर एक बहुत ही साधारण परदा पड़ा हुआ हो। पवन का साधारण झोंका भी उसे हटा देता है।

ये बातें कितनी कोमल थीं, तिस पर भी अम्मा का विकसित मुख-मण्डल कुछ मुरझा गया। वह सजल नेत्र होकर बोली—इस बात का विचार तो मैंने यथासाध्य पहले ही दिन से रखा है। परन्तु यह असम्भव है कि मैं मुन्नू के हृदय से माँ का शोक मिटा दूँ। मैं चाहे अपना सर्वस्व अर्पण कर दूँ, परन्तु मेरे नाम पर जो सौतेलेपन की कालिमा लगी हुई है, वह मिट नहीं सकती।

(४)

मुझे भय था कि इस वार्तालाप का परिणाम कहीं विपरीत न हो, परन्तु दूसरे ही दिन मुझे अम्मा के व्यवहार में बहुत ही अन्तर दिखायी देने लगा। मैं उसे प्रातः से सायंकाल पर्यन्त मुन्नू की ही सेवा में लगी हुई देखता, यहाँ तक कि

उस धुन में उसे मेरी भी चिन्ता न रहती थी। परन्तु मैं ऐसा त्यागी न था कि अपने आराम को मुन्नू पर अर्पण कर देता। कभी-कभी मुझे अम्बा की यह अश्रद्धा न भाती, परन्तु मैं कभी भूलकर भी इसकी चर्चा न करता। एक दिन मैं अनियमित रूप से दफ्तर से कुछ पहले ही आ गया। क्या देखता हूँ कि मुन्नू द्वार पर भीतर की ओर मुख किये खड़ा है। मुझे इस समय आँख-मिचौनी खेलने की सूझी। मैंने दबे पाँव पीछे से जाकर उसके नेत्र मूँद लिये। पर शोक! उसके दोनों गाल अश्रुपूरित थे। मैंने तुरन्त दोनों हाथ हटा लिये। ऐसा प्रतीत हुआ मानों सर्प ने डस लिया हो। हृदय पर एक चोट लगी। मुन्नू को गोद में लेकर बोला—मुन्नू, क्यों रोते हो? यह कहते-कहते मेरे नेत्र भी सजल हो आये।

मुन्नू आँसू पीकर बोला—जी नहीं, रोता तो नहीं हूँ।

मैंने उसे हृदय से लगा लिया और कहा—अम्माँ ने कुछ कहा तो नहीं?

मुन्नू ने सिसकते हुए कहा—जी नहीं, वह तो मुझे बहुत प्यार करती हैं।

मुझे विश्वास न हुआ, पूछा—वह प्यार करती तो तुम रोते क्यों? उस दिन खजानची के घर भी तुम रोये थे। तुम मुझसे छिपाते हो। कदाचित् तुम्हारी अम्माँ अवश्य तुमसे कुछ क्रुद्ध हुई हैं।

मुन्नू ने मेरी ओर कातर दृष्टि से देखकर कहा—जी नहीं वह मुझे प्यार करती हैं इसी कारण मुझे बारम्बार रोना आता है। मेरी अम्माँ मुझे अत्यन्त प्यार करती थीं। वह मुझे छोड़कर चली गयीं। नयी अम्माँ उससे भी अधिक प्यार करती हैं। इसी लिए मुझे भय लगता है कि उसकी तरह यह मुझे छोड़कर न चली जाय।

यह कहकर मुन्नू पुनः फूट-फूटकर रोने लगा। मैं भी रो पड़ा। अम्बा के इस स्नेहमय व्यवहार ने मुन्नू के सुकोमल हृदय पर कैसा आघात किया था! थोड़ी देर तक मैं स्तम्भित रह गया। किसी कवि की यह वाणी स्मरण आ गयी कि पवित्र आत्माएँ इस संसार में चिरकाल तक नहीं ठहरतीं। कहीं भावी ही इस बालक की जिह्वा से तो यह शब्द नहीं कहला रही है। ईश्वर न करे कि वह अशुभ दिन देखना पड़े। परन्तु मैंने तर्क द्वारा इस शंका को हृदय से निकाल दिया। समझा कि माता की मृत्यु ने प्रेम और वियोग में एक मानसिक सम्बन्ध उत्पन्न कर दिया है और कोई बात नहीं है। मुन्नू को गोद में लिये हुए अम्बा

पास गया और मुस्कुराकर बोला—इनसे पूछो क्यों रो रहे हैं? अम्मा चौंक
ी। उसके मुख की कांति मलिन हो गयी। बोली—तुम्हीं पूछो। मैंने कहा—
: इसलिए रोते हैं कि तुम इन्हें अत्यन्त प्यार करती हो और इनको भय है
; तुम भी इनकी माता की भाँति इन्हें छोड़कर न चली जाओ। जिस प्रकार
ई साफ हो जाने से दर्पण चमक उठता है, उसी भाँति अम्मा का मुख-मण्डल
काशित हो गया। उसने मुन्नू को मेरी गोद से छीन लिया और कदाचित्
ए प्रथम अवसर था कि उसने ममतापूर्ण स्नेह से मुन्नू का मुख चुम्बन किया।

(५)

शोक! महा शोक!! मैं क्या जानता था कि मुन्नू की अशुभ कल्पना इतनी
ीघ्र पूर्ण हो जायगी। कदाचित् उसकी बाल-दृष्टि ने होनहार को देख लिया था,
दाचित् उसके बाल-श्रवण मृत्यु-दूतों के विकराल शब्दों से परिचित थे।
छः मास भी व्यतीत न होने पाये थे कि अम्मा बीमार पड़ी और एन्फ्लुएंजा
देखते-देखते उसे हमारे हाथों से छीन लिया। पुनः वह उपवन मरु तुल्य
गया, पुनः वह बसा हुआ घर उजड़ गया। अम्मा ने अपने को मुन्नू पर
र्पण कर दिया था—हाँ, उसने पुत्र-स्नेह का आदर्श रूप दिखा दिया। शीत-
ाल था और वह घड़ी रात्रि शेष रहते ही मुन्नू के लिए प्रातःकाल का भोजन
नाने उठती थी। उसके इस स्नेह-बाहुल्य ने मुन्नू पर स्वाभाविक प्रभाव डाल
देया था। वह हठीला और नटखट हो गया था। जब तक अम्मा भोजन कराने
बैठे, मुँह में कौर न डालता, जब तक अम्मा पखा न झले, वह चारपाई पर
ाँव न रखता। उसे छेड़ता, चिढ़ाता और हैरान कर डालता। परन्तु अम्मा
ो इन बातों से आत्मिक सुख प्राप्त होता था। एन्फ्लुएंजा से कराह रही थी,
रवट लेने तक कि शक्ति न थी, शरीर तवा हो रहा था, परन्तु मुन्नू के प्रातः-
काल के भोजन की चिन्ता लगी रहती थी। हाय! वह निःस्वार्थ मातृ-स्नेह अब
स्वप्न हो गया। उस स्वप्न के स्मरण से अब भी हृदय गद्गद हो जाता है।
अम्मा के साथ मुन्नू का चुलबुलापन तथा बालक्रीड़ा विदा हो गयी। अब वह
शोक और नैराश्य की जीवित मूर्ति है, वह अब कभी नहीं रोता। ऐसा पदार्थ
खोकर अब उसे कोई खटका, कोई भय नहीं रह गया।

बूढ़ी काकी

(१)

बुढ़ापा बहुधा बचपन का पुनरागमन हुआ करता है। बूढ़ी काकी में जिह्वास्वाद के सिवा और कोई चेष्टा शेष न थी और न अपने कष्टों की ओर आकर्षित करने का रोने के अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा ही। समस्त इन्द्रियाँ, नेत्र, हाथ और पैर जवाब दे चुके थे। पृथ्वी पर पड़ी रहती और घरवाले कोई बात उनकी इच्छा के प्रतिकूल करते, भोजन का समय टल जाता या उसका परिमाण पूर्ण न होता, अथवा बाजार से कोई वस्तु आती और उन्हें न मिलती तो वे रोने लगती थीं। उनका रोना-सिसकना साधारण रोना न था, वे गला फाड़-फाड़कर रोती थीं।

उनके पतिदेव को स्वर्ग सिधारे कालान्तर हो चुका था। बेटे तरुण हो-होकर चल बसे थे। अब एक भतीजे के सिवाय और कोई न था। उसी भतीजे के नाम उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति लिख दी थी। भतीजे ने सम्पत्ति लिखाते समय तो खूब लम्बे-चौड़े वादे किये, परन्तु वे सब वादे केवल कुली-डिपो के दलालों के दिखाये हुई सब्ज बाग थे। यद्यपि उस सम्पत्ति की वार्षिक आय डेढ़-दो सौ रुपये से कम न थी तथापि बूढ़ी काकी को पेट-भर भोजन भी कठिनाई से मिलता था। इसमें उनके भतीजे पण्डित बुद्धिराम का अपराध था अथवा उनकी अर्द्धाङ्गिनी श्रीमती रूपा का, इसका निर्णय करना सहज नहीं। बुद्धिराम स्वभाव के सज्जन थे, किन्तु उसी समय तक जब तक कि उनके कोष पर कोई आँच न आये। रूपा स्वभाव से तीव्र थी सही, पर ईश्वर से डरती थी। अतएव बूढ़ी काकी को उसकी तीव्रता उतनी न खलती थी जितनी बुद्धिराम की भलमनसाहत।

बुद्धिराम को कभी-कभी अपने अत्याचार का खेद होता था। विचारते कि इसी सम्पत्ति के कारण मैं इस समय भलामानुष बना बैठा हूँ। यदि मौखिक आश्वासन और सूखी सहानुभूति से स्थिति में सुधार हो सकता तो

उन्हें कदाचित् कोई आपत्ति न होती, परन्तु विशेष व्यय का भय उनकी सचेष्टा को दबाये रखता था। यहाँ तक कि यदि द्वार पर कोई भला आदमी बैठा होता और बूढ़ी काकी उस समय अपना राग अलापने लगतीं तो वह आग हो जाते और घर में आकर उन्हें ज़ोर से डाँटते। लड़कों को बुड्ढों से स्वाभाविक विद्वेष होता ही है और फिर जब माता-पिता का यह रंग देखते तो बूढ़ी काकी को और सताया करते। कोई चुटकी काटकर भागता, कोई उन पर पानी की कुल्ली कर देता। काकी चीख मारकर रोतीं, परन्तु यह बात प्रसिद्ध थी कि वह केवल खाने के लिए रोती हैं, अतएव उनके सन्ताप और आर्त्तनाद पर कोई ध्यान नहीं देता था। हाँ, काकी क्रोधातुर होकर बच्चों को गालियाँ देने लगतीं तो रूपा घटनास्थल पर आ पहुँचती। इस भय से काकी अपनी जिह्वा-कृपाण का कदाचित् ही प्रयोग करती थीं, यद्यपि उपद्रव-शांति का यह उपाय रोने से कहीं अधिक उपयुक्त था।

सम्पूर्ण परिवार में यदि काकी से किसी को अनुराग था, तो वह बुद्धिराम की छोटी लड़की लाडली थी। लाडली अपने दोनों भाइयों के भय से अपने हिस्से की मिठाई-चबेना बूढ़ी काकी के पास बैठकर खाया करती थी। यही उसका रक्षागार था और यद्यपि काकी की शरण उनकी लोलुपता के कारण बहुत महँगी पड़ती थी, तथापि भाइयों के अन्याय से कहीं सुलभ थी। इसी स्वार्थानुकूलता ने उन दोनों में सहानुभूति का आरोपण कर दिया था।

(२)

रात का समय था। बुद्धिराम के द्वार पर शहनाई बज रही थी और गाँव के बच्चों का झुण्ड विस्मयपूर्ण नेत्रों से गाने का रसास्वादन कर रहा था। चारपाइयों पर मेहमान विश्राम करते हुए नाइयों से मुक्कियाँ लगवा रहे थे। समीप ही खड़ा हुआ भाट विरदावली सुना रहा था और कुछ भावज्ञ मेहमानों की "वाह, वाह" पर ऐसा खुश हो रहा था मानों इस वाह-वाह का यथार्थ में वही अधिकारी है। दो-एक अंगरेजी पढ़े हुए नवयुवक इन व्यवहारों से उदासीन थे। वे इस गँवार मण्डली में बोलना अथवा सम्मिलित होना अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझते थे।

आज बुद्धिराम के बड़े लड़के सुखराम का तिलक आया है। यह उसी का

उत्सव है। घर के भीतर स्त्रियाँ गा रही थीं और रूपा मेहमानों के लिए भो
के प्रबन्ध में व्यस्त थी। भट्टियों पर कड़ाह चढ रहे थे। एक में पूडियाँ-कचौडि
निकल रही थीं, दूसरे में अन्य पकवान बनते थे। एक बड़े हण्डे में मसाले
तरकारी पक रही थी। घी और मसाले की क्षुधावर्द्धक सुगन्धि चारों ओ
फैली हुई थी।

बूढी काकी अपनी कोठरी में शोकमय विचार की भाँति बैठी हुई थी।
स्वाद-मिश्रित सुगन्धि उन्हें बेचैन कर रही थी। वे मन-ही-मन विचार कर
थीं, सम्भवतः मुझे पूड़ियाँ न मिलेंगी। इतनी देर हो गयी, कोई भोजन ले
नहीं आया। मालूम होता है, सब लोग भोजन कर चुके हैं। मेरे लिए कुछ
बचा। यह सोचकर उन्हें रोना आया, परन्तु अशकुन के भय से वह रो न सकीं

"आहा! कैसी सुगन्धि है! अब मुझे कौन पूछता है? जब रोटियों ही
लाले पडे हैं तब ऐसे भाग्य कहाँ कि भर पेट पूड़ियाँ मिलें?" यह विचार
उन्हें रोना आया, कलेजे में हूक-सी उठने लगी। परन्तु रूपा के भय से उन
फिर मौन धारण कर लिया।

बूढी काकी देर तक इन्हीं दुःखदायक विचारों में डूबी रही। घी
मसालों की सुगन्धि रह-रहकर मन को आपे से बाहर किये देती थी। मुँ
पानी भर-भर आता था। पूडियों का स्वाद स्मरण करके हृदय में गुदगुदी
लगती थी। किसे पुकारूँ, आज लाडली बेटी भी नहीं आयी। दोनों छो
सदा दिक किया करते हैं। आज उनका भी कहीं पता नहीं। कुछ मालूम
होता कि क्या बन रहा है।

बूढी काकी की कल्पना में पूड़ियों की तस्वीर नाचने लगी। खूब ल
लाल, फूली-फूली नरम-नरम होंगी। रूपा ने भली-भाँति मोयन दिया हो
कचौड़ियों में अजवाइन और इलायची की महँक आ रही होगी। एक
मिलती तो ज़रा हाथ में लेकर देखती। क्यों न चलकर कडाह के सामने
बैठूँ। पूड़ियाँ छन-छनकर तैरती होंगी। कडाह से गरम-गरम निकालकर
में रखी जाती होंगी। फूल हम घर में भी सूँघ सकते हैं, परन्तु वाटिका में
और बास होती है। इस प्रकार निर्णय करके बूढी काकी उकडूँ बैठकर
के बल सरकती हुई बड़ी कठिनाई से चौखट से उतरीं और धीरे-धीरे रेंगती

कड़ाह के पास आ बैठीं। यहाँ आने पर उन्हें उतना ही धैर्य हुआ जितना भूखे कुत्ते को खानेवाले के सम्मुख बैठने में होता है।

रूपा उस समय कार्य-भार से उद्विग्न हो रही थी। कभी इस कोठे मे जाती कभी उस कोठे में, कभी कड़ाह के पास आती, कभी भण्डार में जाती। किसी ने बाहर से आकर कहा—"महाराज ठंडई माँग रहे हैं।" ठण्डई देने लगी। इतने में फिर किसी ने आकर कहा—"भाट आया है, उसे कुछ दे दो।" भाट के लिए सीधा निकाल रही थी कि एक तीसरे आदमी ने आकर पूछा—"अभी भोजन तैयार होने में कितना विलम्ब है? जरा ढोल-मजीरा उतार दो।" बेचारी अकेली स्त्री दौड़ते-दौड़ते व्याकुल हो रही थी, झुँझलाती थी, कुढ़ती थी, परन्तु क्रोध प्रकट करने का अवसर न पाती थी। भय होता, कहीं पड़ोसिने यह न कहने लगें कि इतने में उबल पड़ीं। प्यास से स्वयं उसका कण्ठ सूख रहा था। गर्मी के मारे फुँकी जाती थी, परन्तु इतना अवकाश भी नहीं था कि जरा पानी पी ले अथवा पंखा लेकर झले। यह भी खटका था कि जरा आँख हटी और चीज़ों की लूट मची। इस अवस्था में उसने बूढ़ी काकी को कड़ाह के पास बैठी देखा तो जल गयी। क्रोध न रुक सका। इसका भी ध्यान न रहा कि पड़ोसिनें बैठी हुई हैं, मन में क्या कहेंगी, पुरुषों में लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे। जिस प्रकार मेंढक केंचुये पर झपटता है, उसी प्रकार वह बूढ़ी काकी पर झपटी और उन्हें दोनों हाथों से झटककर बोली—ऐसे पेट में आग लगे, पेट है या भाड़? कोठरी मे बैठते हुए क्या दम घुटता था? अभी मेहमानों ने नहीं खाया, भगवान को भोग नहीं लगा, तब तक धैर्य न हो सका? आकर छाती पर सवार हो गयी। जल जाय ऐसी जीभ। दिन-भर खाती न होती तो न जाने किसकी हाँड़ी में मुँह डालती? गाँव देखेगा तो कहेगा कि बुढ़िया भर पेट खाने को नहीं पाती, तभी तो इस तरह मुँह बाये फिरती है। डाइन न मरे न माँचा छोड़े। नाम बेचने पर लगी है। नाक कटवाकर दम लेगी। इतना ठूँसती है, न जाने कहाँ भस्म हो जाता है। लो! भला चाहती हो तो जाकर कोठरी में बैठो, जब घर के लोग खाने लगेंगे तब तुम्हें भी मिलेगा। तुम कोई देवी नहीं हो कि चाहे किसी के मुँह में पानी न जाय, परन्तु तुम्हारी पूजा पहले ही हो जाय।

बूढ़ी काकी ने सिर न उठाया, न रोईं, न बोलीं। चुपचाप रेंगती हुई

अपनी कोठरी में चली गयीं। आघात ऐसा कठोर था कि हृदय और मस्तिष्क की सम्पूर्ण शक्तियाँ, सम्पूर्ण विचार और सम्पूर्ण भार उसी ओर आकर्षित हो गये थे। नदी में जब करार का कोई वृहद्-खण्ड कटकर गिरता है तो आस-पास का जल-समूह चारों ओर से उसी स्थान को पूरा करने के लिए दौड़ता है।

(२)

भोजन तैयार हो गया। आँगन में पत्तल पड गयीं, मेहमान खाने लगे। स्त्रियों ने जेवनार-गीत गाना आरम्भ कर दिया। मेहमानों के नाई और सेवकगण भी उसी मण्डली के साथ, किन्तु कुछ हटकर भोजन करने बैठे थे, परन्तु सभ्यतानुसार जब तक सब-के-सब खा न चुके कोई उठ नहीं सकता था। दो-एक मेहमान जो कुछ पढे-लिखे थे, सेवकों के दीर्घाहार पर झुँझला रहे थे। वे इस बन्धन को व्यर्थ और बे-सिर-पैर की बात समझते थे।

बूढी काकी अपनी कोठरी में आकर पश्चात्ताप कर रही थीं कि मैं कहाँ-से-कहाँ गयी। उन्हें रूपा पर क्रोध नहीं था। अपनी जल्दीबाजी पर दुःख था। सच ही तो है जब तक मेहमान लोग भोजन कर न चुकेंगे, घरवाले कैसे खायँगे। मुझसे इतनी देर भी नहीं रहा गया। सबके सामने पानी उतर गया। अब जब तक कोई बुलाने न आयेगा, न जाऊँगी।

मन-ही-मन इसी प्रकार का विचार कर वह बुलावे की प्रतीक्षा करने लगीं। परन्तु घी का रुचिकर सुवास बड़ा ही धैर्य-परीक्षक प्रतीत हो रहा था। उन्हें एक-एक पल एक-एक युग के समान मालूम होता था। अब पत्तल बिछ गयी होगी। अब मेहमान आ गये होंगे। लोग हाथ-पैर धो रहे हैं, नाई पानी दे रहा है। मालूम होता है लोग खाने बैठ गये। जेवनार गाया जा रहा है, यह विचारकर वह मन को बहलाने के लिए लेट गयीं। धीरे-धीरे एक गीत गुन-गुनाने लगीं। उन्हें मालूम हुआ कि मुझे गाते देर हो गयी। क्या इतनी देर तक लोग भोजन कर ही रहे होंगे। किसी की आवाज़ नहीं सुनायी देती। अवश्य ही लोग खा-पीकर चले गये। मुझे कोई बुलाने नहीं आया। रूपा चिढ गयी है, क्या जाने न बुलाये। सोचती हो कि आप ही आवेंगी, वह कोई मेहमान तो नहीं जो उन्हें बुलाऊँ। बूढी काकी चलने के लिए तैयार हुईं। यह विश्वास कि एक मिनट में पूडियाँ और मसालेदार तरकारियाँ सामने

आयेंगी, उनकी स्वादेन्द्रियों को गुदगुदाने लगा। उन्होंने मन में तरह-तरह के मंसूबे बाँधे—पहले तरकारी से पूड़ियाँ खाऊँगी, फिर दही और शक्कर से, कचौरियाँ रायते के साथ मज़ेदार मालूम होंगी! चाहे कोई बुरा माने चाहे भला, मैं तो माँग-माँगकर खाऊँगी। यही न लोग कहेंगे कि इन्हें विचार नहीं? कहा करें, इतने दिन के बाद पूड़ियाँ मिल रही हैं तो मुँह जूठा करके थोड़े ही उठ आऊँगी!

वह उकड़ूँ बैठकर हाथों के बल सरकती हुई आँगन में आयीं। परन्तु हाय दुर्भाग्य! अभिलाषा ने अपने पुराने स्वभाव के अनुसार समय की मिथ्या कल्पना की थी। मेहमान-मडली अभी बैठी हुई थी। कोई खाकर उँगलियाँ चाटता था, कोई तिर्छे नेत्रों से देखता था कि और लोग अभी खा रहे हैं या नहीं? कोई इस चिन्ता में था कि पत्तल पर पूड़ियाँ छूटी जाती हैं, किसी तरह इन्हें भीतर रख लेता। कोई दही खाकर जीभ चटकारता था, परन्तु दूसरा दोना माँगते संकोच करता था कि इतने में बूढ़ी काकी रेंगती हुई उनके बीच में जा पहुँचीं। कई आदमी चौंककर उठ खड़े हुए। पुकारने लगे—अरे यह बुढ़िया कौन है? यह कहाँ से आ गयी? देखो किसी को छू न दे।

पं० बुद्धिराम काकी को देखते ही क्रोध से तिलमिला गये। पूड़ियों का थाल लिये खड़े थे। थाल को ज़मीन पर पटक दिया और जिस प्रकार निर्दय महाजन अपने किसी बेईमान और भगोड़े कर्जदार को देखते ही झपटकर उसका टेंटुआ पकड़ लेता है, उसी तरह लपककर उन्होंने बूढ़ी काकी के दोनों हाथ पकड़े और घसीटते हुए लाकर उन्हें अंधेरी कोठरी में धम से पटक दिया। आशा-रूपी वाटिका लू के एक ही झोंके से नष्ट-विनष्ट हो गयी।

मेहमानों ने भोजन किया। घरवालों ने भोजन किया। बाजेवाले, धोबी, चमार भी भोजन कर चुके, परन्तु बूढ़ी काकी को किसी ने न पूछा। बुद्धिराम और रूपा दोनों बूढ़ी काकी को उनकी निर्लज्जता के लिए दण्ड देने का निश्चय कर चुके थे। उनके बुढ़ापे पर, दीनता पर, हत-ज्ञान पर किसी को करुणा न आती थी। अकेली लाडली उनके लिए कुढ़ रही थी।

लाडली को काकी से अत्यन्त प्रेम था। बेचारी भोली लड़की थी। बाल-विनोद और चञ्चलता की उसमें गन्ध तक न थी। दोनों बार जब उसके माता-

पिता ने काकी को निर्दयता से घसीटा तो लाडली का हृदय ऐंठकर रह गया। वह झुँझला रही थी कि यह लोग काकी को क्यों बहुत-सी पूड़ियाँ नहीं दे देते? क्या मेहमान सब-की-सब खा जायँगे? और यदि काकी ने मेहमानों के पहले खा लिया तो क्या बिगड़ जायगा? वह काकी के पास जाकर उन्हें धैर्य देना चाहती थी, परन्तु माता के भय से न जाती थी। उसने अपने हिस्से की पूड़ियाँ बिलकुल न खायी थीं। अपनी गुड़ियों की पिटारी में बन्द कर रखी थीं। वह उन पूड़ियों को काकी के पास ले जाना चाहती थी। उसका हृदय अधीर हो रहा था। बूढ़ी काकी मेरी बात सुनते ही उठ बैठेंगी, पूड़ियाँ देखकर कैसी प्रसन्न होंगी! मुझे खूब प्यार करेंगी!

(४)

रात के ग्यारह बज गये थे। रूपा आँगन में पड़ी सो रही थी। लाडली की आँखों में नींद न आती थी। काकी को पूड़ियाँ खिलाने की खुशी उसे सोने न देती थी। उसने गुड़ियों की पिटारी सामने ही रखी थी। जब विश्वास हो गया कि अम्माँ सो रही हैं, तो वह चुपके से उठी और विचारने लगी, कैसे चलूँ। चारों ओर अन्धेरा था। केवल चूल्हों में आग चमक रही थी, और चूल्हों के पास एक कुत्ता लेटा हुआ था। लाडली की दृष्टि द्वार के सामने वाले नीम की ओर गयी। उसे मालूम हुआ कि उस पर हनुमानजी बैठे हुए हैं। उनकी पूँछ, उनकी गदा, सब स्पष्ट दिखलायी दे रही है। मारे भय के उसने आँखें बन्द कर लीं। इतने में कुत्ता उठ बैठा, लाडली को ढाढस हुआ। कई सोये हुए मनुष्यों के बदले एक भागता हुआ कुत्ता उसके लिए अधिक धैर्य का कारण हुआ। उसने पिटारी उठायी और बूढ़ी काकी की कोठरी की ओर चली।

(५)

बूढ़ी काकी को केवल इतना स्मरण था कि किसी ने मेरे हाथ पकड़ कर घसीटे, फिर ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई पहाड़ पर उड़ाये लिये जाता है। उनके पैर बार-बार पत्थरों से टकराये तब किसी ने उन्हें पहाड़ पर से पटका, वे मूर्च्छित हो गयीं।

जब वे सचेत हुई तो किसी की ज़रा भी आहट न मिलती थी। समझीं

कि सब लोग खा-पीकर सो गये और उनके साथ मेरी तकदीर भी सो गयी। रात कैसे कटेगी? राम! क्या खाऊँ, पेट मे अग्नि धधक रही है! हा! किसी ने मेरी सुधि न ली! क्या मेरा ही पेट काटने से धन जुड़ जायगा? इन लोगों को इतनी भी दया नहीं आती कि न जाने बुढिया कब मर जाय? उसका जी क्यों दुखावें? मैं पेट की रोटियाँ ही खाती हूँ कि और कुछ! इस पर यह हाल। मैं अन्धी अपाहिज ठहरी, न कुछ सुनूँ न बूझूँ। यदि आँगन मे चली गयी तो क्या बुद्धिराम से इतना कहते न बनता था कि काकी, अभी लोग खा रहे हैं, फिर आना। मुझे घसीटा, पटका। उन्हीं पूड़ियों के लिए रूपा ने सबके सामने गालियाँ दीं। उन्हीं पूड़ियों के लिए इतनी दुर्गति करने पर भी उनका पत्थर का कलेजा न पसीजा। सबको खिलाया, मेरी बात तक न पूछी। जब तब ही न दीं, तब अब क्या देंगी?

यह विचारकर काकी निराशामय सन्तोष के साथ लेट गयीं। ग्लानि से गला भर-भर आता था, परन्तु मेहमानों के भय से रोती न थीं।

सहसा उनके कानों में आवाज आयी—काकी उठो; मैं पूड़ियाँ लायी हूँ। काकी ने लाडली की बोली पहचानी। चटपट उठ बैठीं। दोनों हाथों से लाडली को टटोला और उसे गोद में बैठा लिया। लाडली ने पूड़ियाँ निकाल कर दीं। काकी ने पूछा—क्या तुम्हारी अम्मा ने दी हैं?

लाडली ने कहा—नहीं, यह मेरे हिस्से की हैं।

काकी पूड़ियों पर टूट पड़ीं। पाँच मिनट में पिटारी खाली हो गयी। लाडली ने पूछा—काकी, पेट भर गया?

जैसे थोड़ी-सी वर्षा ठण्डक के स्थान पर और भी गर्मी पैदा कर देती है उसी भाँति इन थोड़ी-सी पूड़ियों ने काकी की क्षुधा और इच्छा को उत्तेजित कर दिया था। बोलीं—नहीं बेटी, जाकर अम्माँ से और माँग लाओ।

लाडली ने कहा—अम्माँ सोती हैं, जगाऊँगी तो मारेंगी।

काकी ने पिटारी को फिर टटोला। उसमें कुछ खुर्चन गिरे थे। उन्हें निकालकर वे खा गयीं। बार-बार होंठ चाटती थीं। चटखारे भरती थीं।

हृदय मसोस रहा था कि और पूड़ियाँ कैसे पाऊँ। सन्तोष-सेतु जब टूट जाता है तब इच्छा का बहाव अपरिमित हो जाता है। मतवालों को मद का

स्मरण करना उन्हें मदान्ध बनाता है। काकी का अधीर मन इच्छा के प्रबल प्रवाह में बह गया। उचित और अनुचित का विचार जाता रहा। वे कुछ देर तक उस इच्छा को रोकती रहीं। सहसा लाडली से बोलीं—मेरा हाथ पकड़कर वहाँ ले चलो जहाँ मेहमानों ने बैठकर भोजन किया है।

लाडली उनका अभिप्राय समझ न सकी। उसने काकी का हाथ पकड़ा और ले जाकर जूठे पत्तलों के पास बैठा दिया। दीन, क्षुधातुर, हत-ज्ञान बुढ़िया पत्तलों से पूड़ियों के टुकड़े चुन-चुनकर भक्षण करने लगी। ओह! दही कितना स्वादिष्ट था, कचौरियाँ कितनी सलोनी, खस्ता कितने सुकोमल। काकी बुद्धि-हीन होते हुए भी इतना जानती थीं कि मैं वह काम कर रही हूँ, जो मुझे कदापि न करना चाहिए। मैं दूसरों की जूठी पत्तल चाट रही हूँ। परन्तु बुढ़ापा तृष्णा रोग का अन्तिम समय है, जब सम्पूर्ण इच्छाएँ एक ही केन्द्र पर आ लगती हैं। बूढ़ी काकी में यह केन्द्र उनकी स्वादेन्द्रिय थी।

(६)

ठीक उसी समय रूपा की आँखें खुलीं। उसे मालूम हुआ कि लाडली मेरे पास नहीं है। वह चौंकी, चारपाई के इधर-उधर ताकने लगी कि कहीं नीचे तो नहीं गिर पड़ी। उसे वहाँ न पाकर वह उठ बैठी तो क्या देखती है कि लाडली जूठे पत्तलों के पास चुपचाप खड़ी है और बूढ़ी काकी पत्तलों पर से पूड़ियों के टुकड़े उठा-उठाकर खा रही है। रूपा का हृदय सन्न हो गया। किसी गाय की गर्दन पर छुरी चलते देखकर जो अवस्था उसकी होती, वही उस समय हुई। एक ब्राह्मणी दूसरों की जूठी पत्तल टटोले, इससे अधिक शोकमय दृश्य असम्भव था। पूड़ियों के कुछ ग्रासों के लिए उसकी चचेरी सास ऐसा पतित और निकृष्ट कर्म कर रही है! यह वह दृश्य था जिसे देखकर देखनेवालों के हृदय काँप उठते हैं। ऐसा प्रतीत होता मानों ज़मीन रुक गयी, आसमान चक्कर खा रहा है। संसार पर कोई नयी विपत्ति आनेवाली है। रूपा को क्रोध न आया। शोक के सम्मुख क्रोध कहाँ? करुणा और भय से उसकी आँखें भर आयीं। इस अधर्म के पाप का भागी कौन है? उसने सच्चे हृदय से गगन-मण्डल की ओर हाथ उठाकर कहा—परमात्मा, मेरे बच्चों पर दया करो। इस अधर्म का दण्ड मुझे मत दो, नहीं तो मेरा सत्यानाश हो जायगा।

रूपा को अपनी स्वार्थपरता और अन्याय इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप में कभी न देख पड़े थे। वह सोचने लगी—हाय! कितनी निर्दय हूँ। जिसकी सम्पत्ति से मुझे दो सौ रुपया वार्षिक आय हो रही है, उसकी यह दुर्गति! और मेरे कारण! हे दयामय भगवान्! मुझसे बड़ी भारी चूक हुई है, मुझे क्षमा करो। आज मेरे बेटे का तिलक था। सैकड़ों मनुष्यों ने भोजन पाया। मैं उनके इशारों की दासी बनी रही। अपने नाम के लिए सैकड़ों रुपये व्यय कर दिये, परन्तु जिसकी बदौलत हजारों रुपये खाये, उसे इस उत्सव में भी भर पेट भोजन न दे सकी। केवल इसी कारण तो कि वह वृद्धा असहाय है!

रूपा ने दिया जलाया, अपने भण्डार का द्वार खोला और एक थाली में सम्पूर्ण सामग्रियाँ सजाकर लिये हुए बूढ़ी काकी की ओर चली।

आधी रात जा चुकी थी, आकाश पर तारों के थाल सजे हुए थे और उन पर बैठे हुए देवगण स्वर्गीय पदार्थ सजा रहे थे, परन्तु उनमें किसी को वह परमानन्द प्राप्त न हो सकता था, जो बूढ़ी काकी को अपने सम्मुख थाल देखकर प्राप्त हुआ। रूपा ने कण्ठावरुद्ध स्वर में कहा—काकी, उठो, भोजन कर लो। मुझसे आज बड़ी भूल हुई, उसको बुरा न मानना। परमात्मा से प्रार्थना कर दो कि वह मेरा अपराध क्षमा कर दे!

भोले-भाले बच्चों की भाँति, जो मिठाइयाँ पाकर मार और तिरस्कार सब भूल जाते हैं, बूढ़ी काकी वैसे ही सब भुलाकर बैठी हुई खाना खा रही थी। उनके एक-एक रोएँ से सच्ची सदिच्छाएँ निकल रही थीं और रूपा बैठी इस स्वर्गीय दृश्य का आनन्द लूटने में निमग्न थी।

हार की जीत

(१)

केशव से मेरी पुरानी लाग-डाँट थी। लेख और वाणी, हास्य और विनोद सभी क्षेत्रों में वह मुझसे कोसों आगे था। उसके गुणों की चन्द्र-ज्योति में मेरे दीपक का प्रकाश कभी प्रस्फुटित न हुआ। एक बार उसे नीचा दिखाना मेरे जीवन की सबसे बड़ी अभिलाषा थी। उस समय मैंने कभी स्वीकार नहीं किया। अपनी त्रुटियों को कौन स्वीकार करता है—पर वास्तव में मुझे ईश्वर ने उसकी जैसी बुद्धि-शक्ति न प्रदान की थी। अगर मुझे कुछ तस्कीन थी तो यह कि विद्या-क्षेत्र में चाहे मुझे उससे कन्धा मिलाना कभी नसीब न हो, पर व्यवहार की रङ्ग-भूमि में सेहरा मेरे ही सिर रहेगा। लेकिन दुर्भाग्य से जब प्रणय-सागर में भी उसने मेरे साथ ही गोता मारा और रत्न उसी के हाथ लगता हुआ नजर आया तो मैं हताश हो गया। हम दोनों ने ही एम० ए० के लिए साम्यवाद का विषय लिया था। हम दोनों ही साम्यवादी थे। केशव के विषय में तो यह एक स्वाभाविक बात थी। उसका कुल बहुत प्रतिष्ठित न था, न वह समृद्धि ही थी जो इस कमी को पूरा कर देती। मेरी अवस्था इसके प्रतिकूल थी। मैं खानदान का ताल्लुकेदार और रईस था। मेरी साम्यवादिता पर लोगों को कुतूहल होता था। हमारे साम्यवाद के प्रोफ़ेसर बाबू हरिदास भाटिया साम्यवाद के सिद्धान्तों के कायल थे, लेकिन शायद धन की अवहेलना न कर सकते थे। अपनी लज्जावती के लिए उन्होंने कुशाग्र बुद्धि केशव को नहीं, मुझे पसन्द किया। एक दिन सन्ध्या-समय वह मेरे कमरे में आये और चिन्तित भाव से बोले—सारदा-चरण, मैं महीनों से एक बड़ी चिन्ता में पड़ा हुआ हूँ। मुझे आशा है कि तुम उसका निवारण कर सकते हो। मेरे कोई पुत्र नहीं है। मैंने तुम्हें और केशव दोनों ही को पुत्र-तुल्य समझा है। यद्यपि केशव तुमसे चतुर है, पर मुझे विश्वास है कि विस्तृत संसार में तुम्हें जो सफलता मिलेगी, वह उसे नहीं मिल सकती। अतएव मैंने तुम्हीं को अपनी लज्जा के लिए वरा है। क्या मैं आशा करूँ कि मेरा मनोरथ पूरा होगा?

मैं स्वतन्त्र था। मेरे माता-पिता मुझे लड़कपन ही में छोड़कर स्वर्ग चले गये थे। मेरे कुटुम्बियों में अब ऐसा कोई न था, जिसकी अनुमति लेने की मुझे जरूरत होती। लज्जावती जैसी सुशीला, सुन्दरी, सुशिक्षिता स्त्री को पाकर कौन पुरुष होगा जो अपने भाग्य को न सराहता। मैं फूला न समाया। लज्जा एक कुसुमित वाटिका थी, जहाँ गुलाब की मनोहर सुगन्धि थी और हरियाली की मनोरम शीतलता, समीर की शुभ्र तरंगें थीं और पक्षियों का मधुर संगीत। वह स्वयं साम्यवाद पर मोहित थी। स्त्रियों के प्रतिनिधित्व और ऐसे ही अन्य विषयों पर उसने मुझसे कितनी ही बार बातें की थीं। लेकिन प्रोफेसर भाटिया की तरह केवल सिद्धान्तों की भक्त न थी, उनको व्यवहार मे भी लाना चाहती थी। उसने चतुर केशव को अपना स्नेह-पात्र बनाया था। यद्यपि मैं जानता था कि प्रोफेसर भाटिया के आदेश को वह कभी नहीं टाल सकती, तथापि उसकी इच्छा के विरुद्ध मैं उसे अपनी प्रणयिनी बनाने के लिए तैयार न था। इस विषय में मैं स्वेच्छा के सिद्धान्त का कायल था। इसलिए मैं केशव की विरक्ति और क्षोभ से आशातीत आनन्द न उठा सका। हम दोनों ही दुःखी थे, और मुझे पहली बार केशव से सहानुभूति हुई। मैं लज्जावती से केवल इतना पूछना चाहता था कि उसने मुझे क्यों नजरों से गिरा दिया। पर उसके सामने ऐसे नाजुक प्रश्नों को छेड़ते हुए मुझे सकोच होता था, और यह स्वाभाविक था, क्योंकि कोई रमणी अपने अन्तःकरण के रहस्यों को नहीं खोल सकती। लेकिन शायद लज्जावती इस परिस्थिति को मेरे सामने प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझ रही थी। वह इसका अवसर ढूँढ रही थी। संयोग से उसे शीघ्र ही अवसर मिल गया।

सन्ध्या का समय था। केशव राजपूत होटल में साम्यवाद पर एक व्याख्यान देने गया हुआ था। प्रोफेसर भाटिया उस जलसे के प्रधान थे। लज्जा अपने बँगले में अकेली बैठी हुई थी। मैं अपने अशान्त हृदय के भाव छिपाये हुए, शोक और नैराश्य की दाह से जलता हुआ उसके समीप आकर बैठ गया। लज्जा ने मेरी ओर एक उड़ती हुई निगाह डाली और सदय भाव से बोली—कुछ चिन्तित जान पड़ते हो !

मैंने कृत्रिम उदासीनता से कहा—तुम्हारी बला से।

लज्जा—केशव का व्याख्यान सुनने नहीं गये ?

मेरी आँखों से ज्वाला-सी निकलने लगी। जब्त करके बोला—आज सिर में दर्द हो रहा था।

यह कहते-कहते अनायास मेरे नेत्रों से आँसू की कई बूँदे टपक पड़ीं। मैं अपने शोक को प्रदर्शित करके उसका करुणापात्र बनना नहीं चाहता था। मेरे विचार में रोना स्त्रियों के ही स्वाभावानुकूल था। मैं उस पर क्रोध प्रकट करना चाहता था और निकल पड़े आँसू। मन के भाव इच्छा के अधीन नहीं होते।

मुझे रोते देखकर लज्जा की आँखों से आँसू गिरने लगे।

मैं कीना नहीं रखता, मलिन हृदय नहीं हूँ, लेकिन न मालूम क्यों लज्जा के रोने पर मुझे इस समय एक आनन्द का अनुभव हुआ। उस शोकावस्था में भी मैं उस पर व्यंग करने से बाज न रह सका। बोला—लज्जा, मैं तो अपने भाग्य को रोता हूँ। शायद तुम्हारे अन्याय की दुहाई दे रहा हूँ, लेकिन तुम्हारे आँसू क्यों?

लज्जा ने मेरी ओर तिरस्कार-भाव से देखा और बोली—मेरे आँसुओं का रहस्य तुम न समझोगे क्योंकि तुमने कभी समझने की चेष्टा नहीं की। तुम मुझे कटु वचन सुनाकर अपने चित्त को शान्त कर लेते हो। मैं किसे जलाऊँ? तुम्हें क्या मालूम है कि मैंने कितना आगा-पीछा सोचकर, हृदय को कितना दबा कर, कितनी रातें करवटें बदलकर और कितने आँसू बहाकर यह निश्चय किया है। तुम्हारी कुल-प्रतिष्ठा, तुम्हारी रियासत एक दीवार की भाँति मेरे रास्ते में खड़ी है। उस दीवार को मैं पार नहीं कर सकती। मैं जानती हूँ कि इस समय तुम्हें कुल-प्रतिष्ठा और रियासत का लेशमात्र भी अभिमान नहीं है। लेकिन यह भी जानती हूँ कि तुम्हारा कालेज की शीतल छाया में पला हुआ साम्यवाद बहुत दिनों तक सांसारिक जीवन की लू और लपट को न सह सकेगा। उस समय तुम अवश्य अपने फैसले पर पछताओगे और कुढ़ोगे। मैं तुम्हारे दूध की मक्खी और हृदय का काँटा बन जाऊँगी।

मैंने आर्द्र होकर कहा—जिन कारणों से मेरा साम्यवाद लुप्त हो जायगा, क्या वह तुम्हारे साम्यवाद को जीता छोड़ेगा?

लज्जा—हाँ, मुझे पूरा विश्वास है कि मुझ पर उनका ज़रा भी असर न होगा। मेरे घर में कभी रियासत नहीं रही और कुल की अवस्था तुम

भली-भाँति जानते हो। बाबूजी ने केवल अपने अविरल परिश्रम और अध्यवसाय से यह पद प्राप्त किया है। मुझे वह दिन नहीं भूला है जब मेरी माता जीवित थीं और बाबूजी ११ बजे रात को प्राइवेट ट्यूशन करके घर आते थे। मुझे तो रियासत और कुल-गौरव का अभिमान कभी हो ही नहीं सकता, उसी तरह जैसे तुम्हारे हृदय से यह अभिमान कभी मिट नहीं सकता। यह घमण्ड मुझे उसी दशा में होगा जब मैं स्मृतिहीन हो जाऊँगी।

मैंने उद्दण्डता से कहा—कुल-प्रतिष्ठा को तो मैं मिटा नहीं सकता, मेरे वश की बात नहीं है, लेकिन तुम्हारे लिए मैं आज रियासत को तिलांजलि दे सकता हूँ।

लज्जा क्रूर मुसकान से बोली—फिर वही भावुकता! अगर यह बात तुम किसी अबोध बालिका से करते तो कदाचित् वह फूली न समाती। मैं एक ऐसे गहन विषय में, जिसपर दो प्राणियों के समस्त जीवन का सुख-दुःख निर्भर है, भावुकता का आश्रय नहीं ले सकती। शादी बनावट नहीं है। परमात्मा साक्षी है, मैं विवश हूँ, मुझे अभी तक स्वयं मालूम नहीं है कि मेरी डोंगी किधर जायेगी; लेकिन मैं तुम्हारे जीवन को कण्टकमय नहीं बना सकती।

मैं यहाँ से चला तो निराश न था जितना सचिन्त। लज्जा ने मेरे सामने एक नयी समस्या उपस्थित कर दी थी।

(२)

हम दोनों साथ-साथ एम० ए० हुए। केशव प्रथम श्रेणी में आया, मैं द्वितीय श्रेणी में। उसे नागपुर के एक कालेज में अध्यापक का पद मिल गया। मैं घर आकर अपनी रियासत का प्रबन्ध करने लगा। चलते समय हम दोनों गले मिलकर और रोकर विदा हुए। विरोध और ईर्ष्या को कालेज में छोड़ दिया।

मैं अपने प्रान्त का पहला ताल्लुकेदार था, जिसने एम० ए० पद प्राप्त किया हो। पहले तो राज्याधिकारियों ने मेरी खूब आवभगत की, लेकिन जब मेरे सामाजिक सिद्धान्तों से अवगत हुए तो उनकी कृपादृष्टि कुछ शिथिल पड़ गयी। मैंने भी उनसे मिलना-जुलना छोड़ दिया। अपना अधिकांश समय आसामियों के ही बीच में व्यतीत करता।

पूरा साल भर भी न गुजरने पाया कि एक ताल्लुकेदार की परलोक यात्रा

ने कौन्सिल में एक स्थान खाली कर दिया। मैंने कौन्सिल में जाने की अपनी तरफ से कोई कोशिश नहीं की। लेकिन काश्तकारों ने अपने प्रतिनिधित्व का भार मेरे ही सिर रखा। बेचारा केशव तो अपने कालेज में लेक्चर देता था, किसी को खबर भी न थी कि वह कहाँ है और क्या कर रहा है और मैं अपनी कुल-मर्यादा की बदौलत कौन्सिल का मेम्बर हो गया। मेरी वक्तृताएँ समाचार-पत्रों में छपने लगीं। मेरे प्रश्नों की प्रशंसा होने लगी। कौन्सिल में मेरा विशेष सम्मान होने लगा। कई सज्जन ऐसे निकल आए जो जनतावाद के भक्त थे। पहले वह परिस्थितियों से कुछ दबे हुए थे, अब वह खुल पड़े। हम लोगों ने लोकवादियों का अपना एक पृथक् दल बना लिया और कृषकों के अधिकारों को ज़ोरों के साथ व्यक्त करना शुरू किया। अधिकांश भूपतियों ने मेरी अवहेलना की। कई सज्जनों ने धमकियाँ भी दीं, लेकिन मैंने अपने निश्चित् पथ को न छोड़ा। सेवा के इस सुअवसर को क्योंकर हाथ से जाने देता। दूसरा वर्ष समाप्त होते-होते जाति के प्रधान नेताओं में मेरी गणना होने लगी। मुझे बहुत परिश्रम करना, बहुत पढना, बहुत लिखना और बहुत बोलना पड़ता, पर जरा भी न घबराता। इस परिश्रमशीलता के लिए मैं केशव का ऋणी था। उसी ने मुझे इतना अभ्यस्त बना दिया था।

मेरे पास केशव और प्रोफेसर भाटिया के पत्र बराबर आते रहते थे। कभी-कभी लज्जावती भी लिखती थी। उसके पत्रों में श्रद्धा और प्रेम की मात्रा दिनों-दिन बढती जाती थी। वह मेरी राष्ट्र-सेवा का बड़े उदार, उद्दे उत्साहमय शब्दों में बखान करती। मेरे विषय में उसे पहले जो शङ्काएँ थीं, वह मिटती जाती थीं। मेरी तपस्या देवी को आकर्षित करने लगी थी। केशव के पत्रों से उदासीनता टपकती थी। उसके कालेज में धन का अभाव था। तीन वर्ष हो गये थे, पर उसकी तरक्की न हुई थी। पत्रों से ऐसा प्रतीत होता था मानों वह जीवन से असन्तुष्ट है। कदाचित् इसका मुख्य कारण यह था कि अभी तक उसके जीवन का सुखमय स्वप्न चरितार्थ न हुआ था।

तीसरे वर्ष गर्मियों की तातील में प्रोफ़ेसर भाटिया मुझसे मिलने आये और बहुत प्रसन्न होकर गये। उसके एक ही सप्ताह पीछे लज्जावती का पत्र आया। अदालत ने तजवीज सुना दी। मेरी डिग्री हो गयी। केशव की पहली

बार मेरे मुकाबले में हार हुई। मेरे हर्षोल्लास की कोई सीमा न थी। प्रो० भाटिया का इरादा भारतवर्ष के सब प्रान्तों में भ्रमण करने का था। वह साम्य-वाद पर एक ग्रंथ लिख रहे थे जिसके लिए प्रत्येक बड़े नगर में कुछ अन्वेषण करने की जरूरत थी। लज्जा को अपने साथ ले जाना चाहते थे। निश्चय हुआ कि उनके लौट आने पर आगामी चैत के महीने में हमारा संयोग हो जाय। मैं यह वियोग के दिन बड़ी बेसब्री से काटने लगा। जबतक मैं जानता था कि बाजी केशव के हाथ रहेगी मैं निराश था, पर शान्त था। अब आशा थी और उसके साथ घोर अशान्ति थी।

(३)

मार्च का महीना था। प्रतीक्षा की अवधि पूरी हो चुकी थी। कठिन परिश्रम के दिन गये, फसल काटने का समय आया। प्रोफेसर साहब ने ढाका से पत्र लिखा था कि कई अनिवार्य कारणों से मेरा लौटना मार्च में नहीं मई में होगा। इसी बीच में काश्मीर के दीवान लाला सोमनाथ कपूर नैनीताल आये। बजट पेश था। उस पर व्यवस्थापक सभा में वाद-विवाद हो रहा था। गवर्नर की ओर से दीवान साहब को पार्टी दी गयी। सभा के प्रतिनिधियों को भी निमन्त्रण मिला। कौन्सिल की ओर से मुझे अभिवादन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरी बकवास को दीवान साहब ने बहुत पसन्द किया। चलते समय मुझसे कई मिनट तक बातें कीं और मुझे अपने डेरे पर आने का आदेश दिया। उनके साथ उनकी पुत्री सुशीला भी थी। वह पीछे सिर झुकाये खड़ी रही। जान पड़ता था, भूमि को पढ़ रही है। पर मैं अपनी आँखों को काबू में न रख सका। वह उतनी ही देर में एक बार नहीं, कई बार उठीं और जैसे बच्चा किसी अजनबी की चुमकार से उसकी ओर लपकता है, पर फिर डरकर माँ की गोद से चिमट जाता है, वह भी डरकर आधे ही रास्ते से लौट गयीं। लज्जा अगर कुसुमित वाटिका थी तो सुशीला शीतल सलिल-धारा थी जहाँ वृक्षों के कुञ्ज थे, विनोदशील मृगों के झुण्ड, विहगावली की अनन्त शोभा और तरंगों का मधुर सङ्गीत।

मैं घर पर आया तो ऐसा थका हुआ था जैसे कोई मंजिल मारकर आया हूँ। सौन्दर्य, जीवन-सुधा है। मालूम नहीं क्यों इसका असर इतना प्राण-घातक होता है।

लेटा तो वही सूरत सामने थी। मैं उसे हटाना चाहता था। मुझे भय था कि एक क्षण भी उस भँवर में पड़कर मैं अपने को सँभाल न सकूँगा। मैं अब लज्जावती का हो चुका था, वही अब मेरे हृदय की स्वामिनी थी। मेरा उस पर कोई अधिकार न था। लेकिन मेरे सारे सयम, सारी दलीलें निष्फल हुईं। जल के उद्वेग में नौका को धागे से कौन रोक सकता है ? अन्त में हताश होकर मैंने अपने को विचारों के प्रवाह में डाल दिया। कुछ दूर तक नौका वेगवती तरङ्गों के साथ चली, फिर उसी प्रवाह में विलीन हो गयी।

दूसरे दिन मैं नियत समय पर दीवान साहब के डेरे पर जा पहुँचा, इस भाँति काँपता और हिचकता जैसे कोई बालक दामिनी की चमक से चौंक-चौंककर आँखें बन्द कर लेता है कि कहीं वह चमक न जाय, कहीं मैं उसकी चमक देख न लूँ, भोला-भाला किसान भी अदालत के सामने इतना सशङ्क न होता होगा। यथार्थ यह था कि मेरी आत्मा परास्त हो चुकी थी, उसमें अब प्रतिकार की शक्ति न रही थी।

दीवान साहब ने मुझसे हाथ मिलाया और कोई घण्टे भर तक आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर वार्तालाप करते रहे। मुझे उनकी बहुज्ञता पर आश्चर्य होता था। ऐसा वाक्-चतुर पुरुष मैंने कभी न देखा था। साठ वर्ष की वयस थी, पर हास्य और विनोद के मानों भण्डार थे। न जाने कितने श्लोक, कितने कवित्त, कितने शेर उन्हें याद थे। बात-बात पर कोई-न-कोई सुयुक्ति निकाल लाते थे। खेद है उस प्रकृति के लोग अब गायब होते जाते हैं। वह शिक्षा-प्रणाली न जाने कैसी थी, जो ऐसे-ऐसे रत्न उत्पन्न करती थी। अब तो सजीवता कहीं दिखायी ही नहीं देती। प्रत्येक प्राणी चिन्ता की मूर्ति है, उसके होठों पर कभी हँसी आनी ही नहीं। खैर, दीवान साहब ने पहले चाय मँगवायी, फिर फल और मेवे मँगवाये। मैं रह-रहकर इधर-उधर उत्सुक नेत्रों से देखता था। मेरे कान उसके स्वर का रसपान करने के लिए मुँह खोले हुए थे, आँखें द्वार की ओर लगी हुई थीं। भय भी था और लगाव भी, झिझक भी थी और खिंचाव भी। बच्चा झूले से डरता है, पर उस पर बैठना भी चाहता है।

लेकिन रात के नौ बज गये, मेरे लौटने का समय आ गया। मन में लज्जित हो रहा था कि दीवान साहब दिल में क्या कह रहे होंगे। सोचते

होंगे इसे कोई काम नहीं है? जाता क्यों नहीं, बैठे-बैठे दो-ढाई घण्टे तो हो गये।

सारी बातें समाप्त हो गयीं। उनके लतीफे भी खत्म हो गये। वह नीरवता उपस्थित हो गयी, जो कहती है कि अब चलिये फिर मुलाकात होगी। यार ज़िन्दा व सोहबत बाकी। मैंने कई बार उठने का इरादा किया, लेकिन इन्तजार में आशिक की जान भी नहीं निकलती, मौत को भी इन्तजार को पास करना पड़ता है। यहाँ तक कि साढ़े नौ बज गये और अब मुझे विदा होने के सिवाय कोई मार्ग न रहा, जैसे दिल बैठ गया।

जिसे मैंने भय कहा है, वह वास्तव में भय नहीं था, वह उत्सुकता की चरम सीमा थी।

यहाँ से चला तो ऐसा शिथिल और निर्जीव था मानों प्राण निकल गये हों। अपने को धिक्कारने लगा। अपनी क्षुद्रता पर लज्जित हुआ। तुम समझते हो कि हम भी कुछ हैं। यहाँ किसी को तुम्हारी खबर ही नहीं। किसी को तुम्हारे मरने-जीने की परवाह नहीं। माना उसके लक्षण क्वाँरियों के-से हैं। संसार में क्वाँरी लड़कियों की कमी नहीं। सौन्दर्य भी ऐसी दुर्लभ वस्तु नहीं। अगर प्रत्येक रूपवती और क्वाँरी युवती को देखकर तुम्हारी यही हालत होती रही तो ईश्वर ही मालिक है।

वह भी तो अपने दिल में यही विचार करती होगी। प्रत्येक रूपवान युवक पर उसकी आँखें क्यों उठें। कुलवती स्त्रियों के यह ढङ्ग नहीं होते। पुरुषों के लिए अगर यह रूप-तृष्णा निन्दाजनक है तो स्त्रियों के लिए विनाशकारक है। द्वैत से अद्वैत को भी इतना आघात नहीं पहुँच सकता, जितना सौन्दर्य को।

दूसरे दिन शाम को मैं अपने बरामदे में बैठा पत्र देख रहा था। क्लब जाने को जी चाहता था। चित्त कुछ उदास था। सहसा मैंने दीवान साहब को फिटन पर आते देखा। मोटर से उन्हें घृणा थी। वह इसे पैशाचिक उड़न-खटोला कहा करते थे। उनके बगल में सुशीला भी थी। मेरा हृदय धक्-धक् करने लगा। उसकी निगाह मेरी तरफ उठी हो या न उठी हो, पर मेरी टकटकी उस वक्त तक लगी रही जब तक फिटन अदृश्य न हो गयी।

दूसरे दिन मैं फिर बरामदे में आ बैठा। आँखें सड़क की ओर लगी हुई

थीं। फिटन आयी और चली गयी। अब यही उसका नित्यप्रति का नियम हो गया है। मेरा अब यही काम था कि सारे दिन बरामदे में बैठा रहूँ। मालूम नहीं फिटन कब निकल जाय। विशेषतः तीसरे पहर तो मैं अपनी जगह से हिलने का नाम भी न लेता था।

इस प्रकार एक मास बीत गया। मुझे अब कौन्सिल के कामों में कोई उत्साह न था। समाचारपत्रों में, उपन्यासों में जी न लगता। कहीं सैर करने का भी जी न चाहता। प्रेमियों को न जाने जङ्गल-पहाड़ में भटकने की, काँटों में उलझने की सनक कैसे सवार होती है। मेरे तो जैसे पैरों में बेड़ियाँ-सी पड़ गयी थीं। बस, बरामदा था और मैं, और फिटन का इन्तजार। मेरी विचार-शक्ति भी शायद अन्तर्धान हो गयी थी। मैं दीवान साहब को या अगरेजी शिष्टता के अनुसार सुशीला को ही, अपने यहाँ निमन्त्रित कर सकता था, पर वास्तव में मैं अभी तक उससे भयभीत था। अब भी लज्जावती को अपनी प्रणयिनी समझता था। वह अब भी मेरे हृदय की रानी थी, चाहे उस पर किसी दूसरी शक्ति का अधिकार ही क्यों न हो गया हो।

एक महीना और निकल गया, लेकिन मैंने लज्जा को कोई पत्र न लिखा। मुझमें अब उसे पत्र लिखने की भी सामर्थ्य न थी। शायद उससे पत्र-व्यवहार करने को मैं नैतिक अत्याचार समझता था। मैंने उससे दगा की थी। मुझे अब उसे अपने मलिन अन्तःकरण में भी अपवित्र करने का कोई अधिकार न था।

इसका अन्त क्या होगा? यही चिन्ता अहर्निश मेरे मन पर कुहर-मेघ की भाँति छायी रहती थी। जीवन मरुस्थल की भाँति शून्य हो गया था। चिन्ता-दाह से दिनों-दिन घुलता जाता था। मित्रजन अक्सर पूछा करते, आपको क्या मरज है? मुख निस्तेज, कान्तिहीन हो गया था। भोजन औषधि के समान लगता। सोने जाता तो ज्ञान पड़ता, किसी ने पिंजरे में बन्द कर दिया है। कोई मिलने आता तो चित्त उससे कोसों भागता। विचित्र दशा थी।

एक दिन शाम को दीवान साहब की फिटन मेरे द्वार पर आकर रुकी। उन्होंने अपने व्याख्यानों का एक सग्रह प्रकाशित कराया था। उसकी प्रति मुझे भेंट करने के लिए आये थे। मैंने उन्हें बैठने के लिए बहुत आग्रह किया, लेकिन उन्होंने यही कहा, सुशीला को यहाँ आने में सकोच होगा और फिटन पर अकेली

वह घबरायेगी। वह चले तो मैं भी साथ हो लिया और फिटन तक पीछे-पीछे आया। जब वह फिटन पर बैठने लगे तो मैंने सुशीला को निश्शक हो, आँख भरकर देखा, जैसे कोई प्यासा पथिक गर्मी के दिनों में अफरकर पानी पिये कि न जाने कब उसे जल मिलेगा। मेरी उस एक चितवन में वह उग्रता, वह याचना, वह उद्वेग, वह करुणा, वह श्रद्धा, वह आग्रह, वह दीनता थी, जो पत्थर की मूर्ति को भी पिघला देती। सुशीला तो फिर भी स्त्री थी। उसने भी मेरी ओर देखा, निर्भीक सरल नेत्रों से, जरा भी झेंप नहीं, जरा भी झिझक नहीं। मेरे परास्त होने में जो कसर रह गयी थी, वह पूरी हो गयी। इसके साथ ही उसने मुझ पर मानों अमृत वर्षा कर दी। मेरे हृदय और आत्मा में एक नयी शक्ति का संचार हो गया। मैं लौटा तो ऐसा प्रसन्न-चित्त था मानों कल्प-वृक्ष मिल गया हो।

दूसरे दिन मैंने प्रोफेसर भाटिया को पत्र लिखा—मैं थोड़े दिनों से किसी गुप्त रोग में ग्रस्त हो गया हूँ। सम्भव है, तपेदिक (क्षय) का आरम्भ हो, इसलिए मैं इस मई में विवाह करना उचित नहीं समझता। मैं लज्जावती से इस भाँति पराङ्मुख होना चाहता था कि उसकी निगाहों में मेरी इज्जत कम न हो। मैं कभी-कभी अपनी स्वार्थपरता पर क्रुद्ध होता। लज्जा के साथ यह छल-कपट, यह बेवफाई करते हुए मैं अपनी ही नजरों में गिर गया था। लेकिन मन पर कोई वश न था। उस अबला को कितना दुःख होगा, यह सोच कर मैं कई बार रोया। अभी तक मैं सुशीला के स्वभाव, विचार, मनोवृत्तियों से जरा भी परिचित न था। केवल उसके रूप-लावण्य पर अपनी लज्जा की चिरसंचित अभिलाषाओं का बलिदान कर रहा था। अबोध बालकों की भाँति मिठाई के नाम पर अपने दूध-चावल को ठुकराये देता था। मैंने प्रोफेसर को लिखा था, लज्जावती से मेरी बीमारी का जिक्र न करें; लेकिन प्रोफेसर साहब इतने गहरे न थे। चौथे ही दिन लज्जा का पत्र आया, जिसमें उसने अपना हृदय खोलकर रख दिया था। वह मेरे लिए सब कुछ यहाँ तक कि वैधव्य की यन्त्रणाएँ भी सहने के लिए तैयार थी। उसकी इच्छा थी कि अब हमारे संयोग में एक क्षण का भी विलम्ब न हो, अस्तु! इस पत्र को लिये घण्टों एक संज्ञाहीन दशा में बैठा रहा। इस अलौकिक आत्मोत्सर्ग के सामने अपनी क्षुद्रता, अपनी स्वार्थपरता, अपनी दुर्बलता कितनी घृणित थी!

(४)

लज्जावती

सावित्री ने क्या सब कुछ जानते हुए भी सत्यवान से विवाह नहीं किया था ? फिर मैं क्यों डरूँ ? अपने कर्त्तव्य-मार्ग से क्यों डिगूँ । मैं उनके लिए व्रत रखूँगी, तीर्थ करूँगी, तपस्या करूँगी । भय मुझे उनसे अलग नहीं कर सकता । मुझे उनसे कभी इतना प्रेम न था । कभी इतनी अधीरता न थी । यह मेरी परीक्षा का समय है, और मैंने निश्चय कर लिया है । पिताजी अभी यात्रा से लौटे हैं, हाथ खाली है, कोई तैयारी नहीं कर सके हैं । इसलिए दो-चार महीनों के विलम्ब से उन्हें तैयारी करने का अवसर मिल जाता, पर मैं अब विलम्ब न करूँगी । हम और वह इसी महीने में एक दूसरे के हो जायँगे, हमारी आत्माएँ सदा के लिए संयुक्त हो जायँगी, फिर कोई विपत्ति, कोई दुर्घटना मुझे उनसे जुदा न कर सकेगी ।

मुझे अब एक दिन की देर भी असह्य है । मैं रस्म और रिवाज की लौंडी नहीं हूँ । न वही इसके गुलाम हैं । बाबूजी भी रस्मों के भक्त नही । फिर क्यों न तुरन्त नैनीताल चलूँ ? उनकी सेवा-सुश्रूषा करूँ, उन्हें ढाढस दूँ । मैं उन्हें सारी चिन्ताओं से, समस्त विघ्न-बाधाओं से मुक्त कर दूँगी । इलाके का सारा प्रबन्ध अपने हाथों में ले लूँगी । कौन्सिल के कामों में इतना व्यस्त हो जाने के कारण ही उनकी यह दशा हुई है । पत्रों में अधिकतर उन्हीं के प्रश्न, उन्हीं की आलोचनाएँ, उन्हीं की वक्तृताएँ दिखाई देती हैं । मैं उनसे याचना करूँगी कि कुछ दिनों के लिए कौन्सिल से इस्तीफा दे दें, वह मेरा गाना कितने चाव से सुनते थे । मैं उन्हें अपने गीत सुनाकर प्रसन्न करूँगी, किस्से पढ़ कर सुनाऊँगी, उनको समुचित रीति से शान्त रखूँगी । इस देश में तो इस रोगी की दवा नहीं हो सकती । मै उनके पैरों पर गिरकर प्रार्थना करूँगी कि कुछ दिनों के लिए यूरोप के किसी सैनिटोरियम में चलें और विधिपूर्वक इलाज करायें । मैं कल ही कालेज के पुस्तकालय से इस रोग के सम्बन्ध की पुस्तकें लाऊँगी, और विचारपूर्वक उनका अध्ययन करूँगी । दो-चार दिन में कालेज बन्द हो जायगा । मैं आज ही बाबूजी से नैनीताल चलने की चर्चा करूँगी ।

(५)

आह! मैंने कल इन्हें देखा तो पहचान न सकी। कितना सुर्ख चेहरा था, कितना भरा हुआ शरीर। मालूम होता था, ईगुर भरी हुई है! कितना सुन्दर अङ्ग-विन्यास था! कितना शौर्य था! तीन ही वर्षों में यह काया पलट हो गयी, मुख पीला पड गया है, शरीर घुलकर काँटा हो गया। आहार आधा भी नहीं रहा, हरदम चिन्ता में मग्न रहते हैं। कहीं आते-जाते नहीं देखती। इतने नौकर हैं, इतना सुरम्य स्थान है! विनोद के सभी सामान मौजूद हैं, लेकिन इन्हें अपना जीवन अब अन्धकारमय जान पडता है। इस कलमुँही बीमारी का सत्यानाश हो। अगर इसे ऐसी ही भूख थी तो मेरा शिकार क्यों न किया। मैं बडे प्रेम से इसका स्वागत करती। कोई ऐसा उपाय होता कि यह बीमारी इन्हें छोडकर मुझे पकड लेती! मुझे देखकर कैसे खिल जाते थे और मैं मुसकुराने लगती थी। एक-एक अङ्ग प्रफुल्लित हो जाता था। पर मुझे यहाँ दूसरा दिन है। एक बार भी उनके चेहरे पर हँसी न दिखायी दी। जब मैंने बरामदे में कदम रखा तब जरूर हँसे थे, किन्तु कितनी निराशा थी! बाबूजी अपने आँसुओं को न रोक सके। अलग कमरे में जाकर देर तक रोते रहे। लोग कहते हैं, कौन्सिलों में लोग केवल सम्मान-प्रतिष्ठा के लोभ से जाते हैं। उनका लक्ष्य केवल नाम पैदा करना होता है। बेचारे मेम्बरों पर यह कितना कठोर आक्षेप है, कितनी घोर कृतघ्नता। जाति की सेवा में शरीर को घुलाना पड़ता है, रक्त को जलाना पडता है। यही जाति-सेवा का उपहार है!

पर यहाँ के नौकरों को ज़रा भी चिन्ता नहीं है। बाबूजी ने इनके दो-चार मिलनेवालों से बीमारी का जिक्र किया, पर उन्होंने भी परवाह न की। यह मित्रों की सहानुभूति का हाल है। सभी अपनी-अपनी धुन में मस्त हैं, किसी को खबर नहीं कि दूसरों पर क्या गुजरती है। हाँ, इतना मुझे भी मालूम होता है कि इन्हें क्षय का केवल भ्रम है। उसके कोई लक्षण नहीं देखती। परमात्मा करे, मेरा अनुमान ठीक हो। मुझे तो कोई और ही रोग मालूम होता है। मैंने कई बार टेम्परेचर लिया। उष्णता साधारण थी। उसमें कोई आकस्मिक परिवर्तन भी न हुआ। अगर यही बीमारी है तो अभी आरम्भिक अवस्था है, कोई कारण नहीं कि उचित प्रयत्न से उसकी जड न उखड़ जाय। मैं कल से

ही इन्हें नित्य सैर कराने ले जाऊँगी। मोटर की जरूरत नहीं, फिटन पर बैठने से ज्यादा लाभ होगा। मुझे यह स्वयं कुछ लापरवाह से जान पड़ते हैं। इस मरज के बीमारों को बड़ी एहतियात करते देखा है। दिन में बीसों बार तो थरमामेटर देखते हैं, पथ्यापथ्य का बड़ा विचार रखते हैं। वे फल, दूध और अन्य पुष्टिकारक पदार्थों का सेवन किया करते हैं। यह नहीं कि जो कुछ रसोइये ने अपने मन से बनाकर सामने रख दिया, वही दो-चार ग्रास खाकर उठ आये। मुझे तो विश्वास होता जाता है कि इन्हें कोई दूसरी ही शिकायत है। जरा अवकाश मिले तो इसका पता लगाऊँ। कोई चिन्ता तो नहीं है? रियासत पर क़र्ज़ का बोझ तो नहीं है? थोड़ा-बहुत कर्ज तो अवश्य ही होगा। यह तो रईसों की शान है। अगर कर्ज ही इसका मूल कारण है तो अवश्य कोई भारी रकम होगी।

(६)

चित्त विविध चिन्ताओं से इतना दबा हुआ है कि कुछ लिखने को जी नहीं चाहता। मेरे समस्त जीवन की अभिलाषाएँ मिट्टी में मिल गयीं। हा हतभाग्य! मैं अपने को कितनी खुशनसीब समझती थी। अब संसार में मुझसे ज्यादा बदनसीब और कोई न होगा। वह अमूल्य रत्न, जो मुझे चिरकाल की तपस्या और उपासना से न मिला, वह इस मृगनयनी सुन्दरी को अनायास मिला जाता है। शारदा ने अभी उसे हाल में ही देखा है। कदाचित् अभी तक उससे परस्पर बातचीत करने की नौबत नहीं आयी। लेकिन उसमें कितने अनुरक्त हो रहे हैं। उसके प्रेम में कैसे उन्मत्त हो गये हैं। पुरुषों को परमात्मा ने हृदय नहीं दिये, केवल आँखें दी हैं। वह हृदय की कद्र करना नहीं जानते, केवल रूप-रङ्ग पर बिक जाते हैं। अगर मुझे किसी तरह विश्वास हो जाय कि सुशीला उन्हें मुझसे ज्यादा प्रसन्न रख सकेगी, उनके जीवन को अधिक सार्थक बना देगी, तो मुझे उसके लिए जगह खाली करने में जरा भी आपत्ति न होगी। वह इतनी गर्ववती, इतनी निठुर है कि मुझे भय है कहीं शारदा को पछताना न पड़े।

लेकिन यह मेरी स्वार्थ-कल्पना है। सुशीला गर्ववती सही, निठुर सही, विलासिनी सही, शारदा ने अपना प्रेम उस पर अर्पण कर दिया है। वह बुद्धिमान

हैं, चतुर हैं, दूरदर्शी हैं। अपना हानि-लाभ सोच सकते हैं। उन्होंने सब कुछ सोचकर ही यह निश्चय किया होगा। जब उन्होंने मन में यह बात ठान ली तो मुझे कोई अधिकार नहीं है कि उनके सुख-मार्ग का काँटा बनूँ। मुझे सब्र करके, अपने मन को समझाकर यहाँ से निराश, हताश, भग्नहृदय, विदा हो जाना चाहिए। परमात्मा से यही प्रार्थना है कि उन्हें प्रसन्न रखे। मुझे ज़रा भी ईर्ष्या, जरा भी दम्भ नहीं है। मैं तो उनकी इच्छाओं की चेरी हूँ। अगर उन्हें मुझको विष दे देने मे खुशी होती तो मैं शौक से विष का प्याला पी लेती। प्रेम ही जीवन का प्राण है। हम इसी के लिए जीना चाहते हैं। अगर इसके लिए मरने का भी अवसर मिले तो धन्य भाग। यदि केवल मेरे हट जाने से सब काम सँवर सकते हैं तो मुझे कोई इन्कार नहीं। हरि इच्छा! लेकिन मानव-शरीर पाकर कौन माया-मोह से रहित होता है? जिस प्रेम-लता को मुद्दतों से पाला था, आँसुओं से सींचा था, उसका पैरों तले रौंदा जाना नहीं देखा जाता। हृदय विदीर्ण हो जाता है। अब कागज तैरता हुआ जान पड़ता है, आँसू उमड़े चले आते हैं, कैसे मन को खींचूँ। हा! जिसे अपना समझती थी, जिसके चरणों पर अपने को भेंट कर चुकी थी, जिसके सहारे जीवन-लता पल्लवित हुई थी, जिसे हृदय-मन्दिर में पूजती थी, जिसके ध्यान में मग्न हो जाना जीवन का सबसे प्यारा काम था, उससे अब अनन्त काल के लिए वियोग हो रहा है। आह! किससे अब फरियाद करूँ? किसके सामने जाकर रोऊँ? किससे अपनी दुःख-कथा कहूँ! मेरा निर्बल हृदय यह वज्राघात नहीं सह सकता। यह चोट मेरी जान लेकर छोड़ेगी। अच्छा ही होगा। प्रेम-विहीन हृदय के लिए संसार काल कोठरी है, नैराश्य और अन्धकार से भरी हुई। मैं जानती हूँ अगर आज बाबूजी उनसे विवाह के लिए जोर दें तो वह तैयार हो जायँगे, वह मुरौवत के पुतले हैं। केवल मेरा मन रखने के लिए अपनी जान पर खेल जायेंगे। वह उन शीलवान पुरुषों में हैं, जिन्होंने 'नहीं' करना ही नहीं सीखा। अभी तक उन्होंने दीवान साहब से सुशीला के विषय में कोई बातचीत भी नहीं की। शायद मेरा रुख देख रहे हैं। इसी असमंजस ने उन्हें इस दशा को पहुँचा दिया है। वह मुझे हमेशा प्रसन्न रखने की चेष्टा करेंगे। मेरा दिल कभी न दुखावेंगे, सुशीला की चर्चा भूलकर भी न करेंगे। मैं उनके स्वभाव को जानती हूँ। वह

नर-रत्न हैं। लेकिन मैं उनके पैरों की बेड़ी नहीं बनना चाहती। जो कुछ बीते अपने ही ऊपर बीते। उन्हें क्यों समेटूँ? डूबना ही है तो आप ही क्यों न डूबूँ, उन्हें अपने साथ क्यों डुबाऊँ।

यह भी जानती हूँ कि यदि इस शोक ने घुला-घुलाकर मेरी जान ले ली तो वह अपने को कभी क्षमा न करेंगे। उनका समस्त जीवन क्षोभ और ग्लानि की भेंट हो जायगा, उन्हें कभी शान्ति न मिलेगी। कितनी विकट समस्या है। मुझे मरने की भी स्वाधीनता नहीं! मुझे उनको प्रसन्न रखने के लिए अपने को प्रसन्न रखना होगा। उनसे निठुरता करनी पड़ेगी। त्रिया-चरित्र खेलना पड़ेगा। दिखाना पड़ेगा कि इस बीमारी के कारण अब विवाह की बातचीत अनर्गल है। वचन को तोड़ने का अपराध अपने सिर लेना पड़ेगा। इसके सिवाय उद्धार की और कोई व्यवस्था नहीं! परमात्मा मुझे बल दो कि इस परीक्षा में सफल हो जाऊँ।

(७)

शारदाचरण

एक ही निगाह ने निश्चय कर दिया। लज्जा ने मुझे जीत लिया। एक ही निगाह से सुशीला ने भी मुझे जीता था। उस निगाह में प्रबल आकर्षण था, एक मनोहर सारल्य, एक आनन्दोद्गार, जो किसी भाँति छिपाये नहीं छिपता था, एक बालोचित उल्लास, मानों उसे कोई खिलौना मिल गया हो। लज्जा की चितवन में क्षमा थी और थी करुणा, नैराश्य तथा वेदना। वह अपने को मेरी इच्छा पर बलिदान कर रही थी। आत्म-परिचय में उसे सिद्धि है। उसने अपनी बुद्धिमानी से सारी स्थिति ताड़ ली और तुरन्त फैसला कर लिया। वह मेरे सुख मे बाधक नहीं बनना चाहती थी। उसके साथ ही यह भी प्रकट करना चाहती थी कि मुझे तुम्हारी परवाह नहीं है। अगर तुम मुझसे जौ-भर खिंचोगे तो मै तुमसे गज-भर खिंच जाऊँगी। लेकिन मनोवृत्तियाँ सुगन्ध के समान हैं जो छिपाने मे नहीं छिपतीं। उसकी निठुरता में नैराश्यमय वेदना थी, उसकी मुसकान में आँसुओं की झलक। वह मेरी निगाह बचाकर क्यों रसोई में चली जाती थी और कोई-न-कोई पाक, जिसे वह जानती है कि मुझे रुचिकर है, बना लाती थी? वह मेरे नौकरों को क्यों आराम से रखने की गुप्त रीति से ताकीद किया करती थी?

समाचारपत्रों को क्यों मेरी निगाह से छिपा दिया करती थी? क्यों सन्ध्या-समय मुझे सैर करने को मजबूर किया करती थी? उसकी एक-एक बात उसके हृदय का परदा खोल देती थी। उसे कदाचित् मालूम नहीं है कि आत्मपरिचय रमणियों का विशेष गुण नहीं। उस दिन जब प्रोफेसर भाटिया ने बातों-ही-बातों में मुझ पर व्यंग किये, मुझे विभव और सम्पत्ति का दास कहा और मेरे साम्यवाद की हँसी उड़ानी चाही तो उसने कितनी चतुरता से बात टाल दी। पीछे से मालूम नहीं उसने उनसे क्या कहा; पर मैं बरामदे में बैठा सुन रहा था कि बाप और बेटी बगीचे में बैठे हुए किसी विषय पर बहस कर रहे हैं। कौन ऐसा हृदयशून्य प्राणी है जो निष्काम सेवा के वशीभूत न हो जाय। लज्जावती को मैं बहुत दिनों से जानता हूँ; पर मुझे ज्ञात हुआ कि इसी मुलाकात में मैंने उसको यथार्थ रूप में देखा। पहले मैं उसकी रूपराशि का, उसके उदार विचारों का, उसकी मृदु वाणी का भक्त था। उसकी उज्ज्वल, दिव्य आत्मज्योति मेरी आँखों से छिपी हुई थी। मैंने अबकी ही जाना कि उसका प्रेम कितना गहरा, कितना पवित्र, कितना अगाध है। इस अवस्था में कोई दूसरी स्त्री ईर्ष्या से बावली हो जाती, मुझसे नहीं तो सुशीला से तो अवश्य ही जलने लगती, आप कुढ़ती, उसे व्यंगों से छेदती और मुझे धूर्त्त, कपटी, पापात्मा, न जाने क्या-क्या कहती। पर लज्जा ने जितने विशुद्ध प्रेम-भाव से सुशीला का स्वागत किया, वह मुझे कभी न भूलेगा—मालिन्य, संकीर्णता, कटुता का लेश तक न था। इस तरह उसे हाथों-हाथ लिये फिरती थी, मानों छोटी बहिन उसके यहाँ मेहमान है। सुशीला इस व्यवहार पर मानो मुग्ध हो गयी। आह! वह दृश्य भी चिर-स्मरणीय है, जब लज्जावती मुझसे विदा होने लगी। प्रोफेसर भाटिया मोटर पर बैठे हुए थे। वह मुझसे कुछ खिन्न हो गये और जल्दी-से-जल्दी भाग जाना चाहते थे। लज्जा एक उज्ज्वल साड़ी पहने हुए मेरे सम्मुख आकर खड़ी हो गयी। वह एक तपस्विनी थी, जिसने प्रेम पर अपना जीवन अर्पण कर दिया हो, श्वेत पुष्पों की माला थी जो किसी देवमूर्त्ति के चरणों पर पड़ी हुई हो! उसने मुसकराकर मुझसे कहा—कभी-कभी पत्र लिखते रहना, इतनी कृपा की मैं अपने को अधिकारिणी समझती हूँ।

मैंने जोश से कहा—हाँ अवश्य।

लज्जावती ने फिर कहा—शायद यह हमारी अंतिम भेंट हो। न जाने मैं कहाँ रहूँगी, कहाँ जाऊँगी, फिर कभी आ सकूँगी या नहीं। मुझे बिलकुल भूल न जाना। अगर मेरे मुँह से कोई ऐसी बात निकल आयी हो जिससे तुम्हें दुःख हुआ हो तो क्षमा करना और अपने स्वास्थ्य का बहुत ध्यान रखना।

यह कहते हुए उसने मेरी तरफ हाथ बढ़ाये। हाथ काँप रहे थे। कदाचित् आँखों में आँसुओं का आवेग हो रहा था। वह जल्दी से कमरे के बाहर निकल जाना चाहती थी। अपने जब्त पर अब उसे भरोसा न था, उसने मेरी ओर दबी हुई आँखों से देखा। मगर इस अर्द्ध चितवन में दबे हुए पानी का वेग और प्रवाह था। इस प्रवाह में मैं स्थिर न रह सका। इस निगाह ने हारी हुई बाजी जीत ली, मैंने उसके दोनों हाथ पकड़ लिये और गद्‌गद स्वर से बोला—नहीं लज्जा, अब हममें और तुममें कभी वियोग न होगा।

* * * *

सहसा चपरासी ने सुशीला का पत्र लाकर सामने रख दिया। लिखा था—

प्रिय श्री शारदाचरणजी,

हम लोग कल यहाँ से चले जायँगे। मुझे आज बहुत काम करना है, इसलिए मिल न सकूँगी। मैंने आज रात को अपना कर्त्तव्य स्थिर कर लिया। मैं लज्जावती के बने-बनाये घर को उजाड़ना नहीं चाहती। मुझे पहले यह बात न मालूम थी, नहीं तो हममें इतनी घनिष्ठता न होती। मेरा आपसे यही अनुरोध है कि लज्जा को हाथ से न जाने दीजिए। वह नारी-रत्न है। मैं जानती हूँ कि मेरा रूप-रंग उससे कुछ अच्छा है और कदाचित् आप उसी प्रलोभन में पड़ गये, लेकिन मुझमें वह त्याग, वह सेवा-भाव, वह आत्मोत्सर्ग नहीं है। मैं आपको प्रसन्न रख सकती हूँ, पर आपके जीवन को उन्नत नहीं कर सकती, उसे पवित्र और यशस्वी नहीं बना सकती। लज्जा देवी है, वह आपको देवता बना देगी। मैं अपने को इस योग्य नहीं समझती। कल मुझसे भेंट करने का विचार न कीजिए। रोने-रुलाने से क्या लाभ। क्षमा कीजिएगा।

आपकी—

सुशीला

मैंने यह पत्र लज्जा के हाथ में रख दिया। वह पढ़कर बोली—मैं उससे आज ही मिलने जाऊँगी।

मैंने उसका आशय समझकर कहा—क्षमा करो। तुम्हारी उदारता की दूसरी बार परीक्षा नहीं लेना चाहता।

यह कहकर मैं प्रोफेसर भाटिया के पास गया। वह मोटर पर मुँह फुलाये बैठे थे। मेरे बदले लज्जावती आयी होती तो उस पर जरूर ही बरस पड़ते।

मैंने उनके पद स्पर्श किये और सिर झुकाकर बोला—आपने मुझे सदैव अपना पुत्र समझा है। अब उस नाते को और भी सुदृढ़ कर दीजिए।

प्रोफेसर भाटिया ने पहले तो मेरी ओर अविश्वासपूर्ण नेत्रों से देखा। तब मुसकराकर बोले—यह तो मेरे जीवन की सबसे बड़ी अभिलाषा थी।

—:o:—

दफ्तरी

(१)

रफाकत हुसेन मेरे दफ्तर का दफ्तरी था। १०) मासिक वेतन पाता था। दो-तीन रुपये बाहर के फुटकर काम से मिल जाते थे। यही उसकी जीविका थी, पर वह अपनी दशा पर सन्तुष्ट था। उसकी आन्तरिक अवस्था तो ज्ञात नहीं, पर वह सदैव साफ-सुथरे कपड़े पहनता और प्रसन्न-चित्त रहता। कर्ज इस श्रेणी के मनुष्यों का आभूषण है। रफाकत पर इसका जादू न चलता था। उसकी बातों में कृत्रिम शिष्टाचार की झलक भी न होती। वेलाग और खरी कहता था। अमलों में जो बुराइयाँ देखता, साफ कह देता। इसी साफगोई के कारण लोग उसका सम्मान हैसियत से ज्यादा करते थे। उसे पशुओं से विशेष प्रेम था। एक घोड़ी, एक गाय, कई बकरियाँ, एक बिल्ली और एक कुत्ता और कुछ मुर्गियाँ पाल रखी थीं। इन पशुओं पर जान देता था। बकरियों के लिए पत्तियाँ तोड लाता, घोड़ी के लिए घास छील लाता। यद्यपि उसे आये दिन मवेशीखाने के दर्शन करने पड़ते थे, और बहुधा लोग उसके पशु-प्रेम की हँसी उड़ाते थे, पर वह किसी की न सुनता था और उसका यह निःस्वार्थ प्रेम था। किसी ने उसे मुर्गियों के अण्डे बेचते नहीं देखा। उसकी बकरियों के बच्चे कभी बूचड की छुरी के नीचे नहीं गये और उसकी घोड़ी ने कभी लगाम का मुँह नहीं देखा। गाय का दूध कुत्ता पीता था। बकरी का दूध बिल्ली के हिस्से में जाता था। जो कुछ बचा रहता, वह आप पीता था।

सौभाग्य से उसकी पत्नी भी साध्वी थी। यद्यपि उसका घर बहुत छोटा था, पर किसी ने द्वार पर उसकी आवाज नहीं सुनी। किसी ने उसे द्वार पर झाँकते नहीं देखा। वह गहने-कपडों के तगादों से पति की नींद हराम न करती थी। दफ्तरी उसकी पूजा करता था। वह गाय का गोबर उठाती, घोड़ों को घास डालती, बिल्ली को अपने साथ बिठाकर खिलाती, यहाँ तक की कुत्ते को नहलाने से भी उसे घृणा न होती थी।

(२)

बरसात थी, नदियों में बाढ आयी हुई थी। दफ्तर के कर्मचारी मछलियों का शिकार खेलने चले। शामत का मारा रफाकत भी उनके साथ हो लिया। दिन-भर लोग शिकार खेला किये, शाम को मूसलाधार पानी बरसने लगा। कर्मचारियों ने तो एक गाँव मे रात काटी, दफ्तरी घर चला, पर अँधेरी रात, राह भूल गया और सारी रात भटकता फिरा। प्रातःकाल घर पहुँचा तो अभी अन्धेरा ही था, लेकिन दोनों द्वार-पट खुले हुए थे। उसका कुत्ता पूँछ दबाये करुण-स्वर से कराहता हुआ आकर उसके पैरों पर लोट गया। द्वार खुले देखकर दफ्तरी का कलेजा सन्न से हो गया। घर मे कदम रखे तो बिलकुल सन्नाटा था। दो-तीन बार स्त्री को पुकारा, किन्तु कोई उत्तर न मिला। घर भाँय-भाँय कर रहा था। उसने दोनों कोठरियों में जाकर देखा। जब वहाँ भी उसका पता न मिला तो पशुशाला में गया। भीतर जाते हुए उसे अज्ञात भय हो रहा था जो किसी अँधेरे खोह मे जाते हुए होता है। उसकी स्त्री वहाँ भूमि पर चित पड़ी हुई थी। मुँह पर मक्खियाँ बैठी हुई थीं, होंठ नीले पड़ गये थे, आँखें पथरा गयी थीं। लक्षणों से अनुमान होता था कि साँप ने डस लिया है।

दूसरे दिन रफाकत आया तो उसे पहचानना मुश्किल था। मालूम होता था, बरसों का रोगी है। बिलकुल खोया हुआ, गुम-सुम बैठा रहा मानों किसी दूसरी ही दुनिया मे है। सन्ध्या होते ही वह उठा और स्त्री की कब्र पर जाकर बैठ गया। अँधेरा हो गया। तीन-चार घड़ी रात बीत गयी, पर वह दीपक के टिमटिमाते हुए प्रकाश में उसी कब्र पर नैराश्य और दुःख की मूर्ति बना बैठा रहा, मानों मृत्यु की राह देख रहा हो। मालूम नहीं, कब घर आया। अब यही उसका नित्य का नियम हो गया। प्रातःकाल उठकर मजार पर जाता, झाड़ू लगाता, फूलों के हार चढाता, लोबान जलाता और नौ बजे तक कुरान का पाठ करता। सन्ध्या समय फिर यही काम शुरू होता। अब यही उसके जीवन का नियमित कर्म था। अब वह अन्तर्जगत में बसता था। बाह्य जगत् से उसने मुँह मोड़ लिया था। शोक ने जीवन से विरक्त कर दिया था।

(३)

कई महीनों तक यही हाल रहा। कर्मचारियों को दफ्तरी से सहानुभूति हो

गयी थी। उसके काम कर लेते, उसे कष्ट न देते। उसकी पत्नी-भक्ति पर लोगों को विस्मय होता था।

लेकिन मनुष्य सर्वदा प्राणलोक में नहीं रह सकता। वहाँ का जलवायु उसके अनुकूल नहीं। वहाँ वह रूपमय; रसमय भावनायें कहाँ? विराग में वह चिन्तामय उल्लास कहाँ? वह आशामय आनन्द कहाँ? दफ्तरी को आधी रात तक ध्यान में डूबे रहने के बाद चूल्हा जलाना पडता, प्रातःकाल पशुओं की देख-माल करनी पड़ती। यह बोझा उसके लिए असह्य था। अवस्था ने भावुकता पर विजय पायी। मरुभूमि के प्यासे से पथिक की भाँति दफ्तरी फिर दाम्पत्य-सुख के जल-स्रोत की ओर दौड़ा। वह फिर जीवन का वही सुखद अभिनय देखना चाहता था। पत्नी की स्मृति दाम्पत्य-सुख के रूप में विलीन होने लगी। यहाँ तक कि छः महीनों में उस स्मृति का चिह्न भी शेष न रहा।

इस मुहल्ले के दूसरे सिरे पर बड़े साहब का एक अरदली रहता था। उसके यहाँ से विवाह की बातचीत होने लगी, मियाँ रफाकत फूले न समाये। अरदली साहब का सम्मान मुहल्ले में किसी वकील से कम न था। उनकी आमदनी पर अनेक कल्पनाएँ की जाती थीं। साधारण बोलचाल में कहा जाता था—"जो कुछ मिल जाय वह थोड़ा है!" वह स्वय कहा करते थे कि तकावी के दिनों में मुझे जेब की जगह थैली रखनी पड़ती थी। दफ्तरी ने समझा भाग्य उदय हुआ। इस तरह टूटे जैसे बच्चे खिलौने पर टूटते हैं। एक ही सप्ताह में सारा विधान पूरा हो गया और नववधू घर में आ गयी। जो मनुष्य कभी एक सप्ताह पहले संसार से विरक्त, जीवन से निराश बैठा हो, उसे मुँह पर सेहरा डाले घोडे पर सवार नवकुसुम की भाँति विकसित देखना मानव-प्रकृति की एक विलक्षण विवेचना थी।

(४)

किन्तु एक ही अठवारे में नववधू के जौहर खुलने लगे। विधाता ने उसे रूपेन्द्रिय से वंचित रखा था। पर उसकी कसर पूरी करने के लिए अति-तीक्ष्ण वाक्येन्द्रिय प्रदान की थी। इसका सबूत उसकी वह वाक्पटुता थी जो अब बहुधा पड़ोसियों को विनोदित और दफ्तरी को अपमानित किया करती थी। उसने आठ दिन तक दफ्तरी के चरित्र का तात्विक दृष्टि से अध्ययन किया

और तब एक दिन उससे बोली—तुम तो विचित्र जीव हो। आदमी पशु पालता है अपने आराम के लिए न कि जंजाल के लिए। यह क्या कि गाय का दूध कुत्ते पियें, बकरियों का दूध बिल्ली चट कर जाय। आज से सब दूध घर में लाया करो।

दफ्तरी निरुत्तर हो गया। दूसरे दिन घोड़ी का रातिब बन्द हो गया। वह चने अब भाड़ में भुनने और नमक-मिर्च से खाये जाने लगे। प्रातःकाल ताजे दूध का नाश्ता होता, आये दिन तस्मई बनती। बड़े घर की बेटी, पान बिना क्योंकर रहती? घी, मसाले का भी खर्च बढ़ा। पहले ही महीने में दफ्तरी को विदित हो गया कि मेरी आमदनी गुजर के लिए काफी नहीं है। उसकी दशा उस मनुष्य की-सी थी, जो शक्कर के धोखे में कुनैन फाँक गया हो।

दफ्तरी बड़ा धर्मपरायण मनुष्य था। दो-तीन महीने तक वह विषम वेदना सहता रहा। पर उसकी सूरत उसकी अवस्था को शब्दों से अधिक व्यक्त कर देती थी। वह दफ्तरी, जो अभाव में भी सन्तोष का आनन्द उठाता था, अब चिन्ता की सजीव मूर्ति था। कपड़े मैले, सिर के बाल बिखरे हुए, चेहरे पर उदासी छायी हुई, अहर्निश हाय-हाय किया करता था। उसकी गाय अब हड्डियों की ढाँचा थी, घोड़ी को जगह से हिलना कठिन था, बिल्ली पड़ोसियों के छींकों पर उचकती और कुत्ता घूरों पर हड्डियाँ नोचता फिरता था। पर अब भी वह हिम्मत का धनी इन पुराने मित्रों को अलग न करता था। सबसे बड़ी विपत्ति पत्नी की वह वाक्प्रचुरता थी जिसके सामने कभी उसका धैर्य, उसकी कर्मनिष्ठा, उसकी उत्साहशीलता प्रस्थान कर जाती और अपनी अँधेरी कोठरी के एक कोने में बैठकर खूब फूट-फूटकर रोता। सन्तोष के आनन्द को दुर्लभ पाकर रफाकत का पीड़ित हृदय उच्छृंखलता की ओर प्रवृत्त हुआ। आत्माभिमान जो सन्तोष का प्रसाद है, उसके चित्त से लुप्त हो गया। उसने फाकेमस्ती का पथ ग्रहण किया। अब उसके पास पानी रखने के लिए कोई बरतन न था। वह उस कुएँ से पानी खींचकर उसी दम पी जाना चाहता था जिसमें वह जमीन पर बह न जाय। वेतन पाकर अब वह महीने-भर का सामान न जुटाता, ठण्डे पानी और रूखी रोटियों से अब उसे तस्कीन न होती, बाजार से बिस्कुट लाता, मलाई के दोनों और कलमी आमों की ओर लपकता। दस

रुपये की भुगुत ही क्या ? एक सप्ताह में सब रुपये उड़ जाते, तब जिल्द-बन्दियों की पेशगी पर हाथ बढाता, फिर दो-एक उपवास होता, अन्त में उधार माँगने लगता। शनैः-शनैः यह दशा हो गयी कि वेतन देनदारों ही के हाथों में चला जाता और महीने के पहले ही दिन वह कर्ज लेना शुरू करता। वह पहले दूसरों को मितव्ययिता का उपदेश दिया करता था, अब लोग उसे समझाते, पर वह लापरवाही से कहता था—साहब, आज मिलता है खाते हैं, कल का खुदा मालिक है, मिलेगा खायेंगे, नहीं पड कर सो रहेंगे। उसकी अवस्था अब उस रोगी की-सी हो गयी जो आरोग्य-लाभ से निराश होकर पथ्यापथ्य का विचार त्याग दे, जिसमें मृत्यु के आने तक वह भोज्य-पदार्थों से भलीभाँति तृप्त हो जाय।

लेकिन अभी तक उसने घोड़ी और गाय न बेची, यहाँ तक कि एक दिन दोनो मवेशीखाने में दाखिल हो गयीं। बकरियाँ भी तृष्णा व्याघ्र के पंजे में फँस गयीं। पोलाव और सरदे के चस्के ने नानबाई का ऋणी बना दिया था। जब उसे मालूम हो गया कि नगद रुपये वसूल न होंगे तो एक दिन सभी बकरियाँ हाँक ले गया। दफ्तरी मुँह ताकता रह गया। बिल्ली ने भी स्वामि-भक्ति से मुँह मोड़ा। गाय और बकरियों के जाने के बाद अब उसे दूध के बर्तनों को चाटने की भी आशा न रही, जो उसके स्नेह-बन्धन का अन्तिम सूत्र था। हाँ, कुत्ता पुराने सद्व्यवहारों की याद करके अभी तक आत्मीयता का पालन करता जाता था; किन्तु उसकी सजीवता विदा हो गयी थी। यह वह कुत्ता न था जिसके सामने द्वार पर से किसी अपरिचित मनुष्य या कुत्ते का निकल जाना असम्भव था। वह अब भी भूँकता था, लेकिन लेटे-लेटे और प्रायः छाती में सिर छिपाये हुए, मानों अपनी वर्तमान स्थिति पर रो रहा हो। या तो उसमें अब उठने की शक्ति ही न थी, या वह चिरकालीन कृपाओं के लिए इतना कीर्तिगान पर्याप्त समझता था।

(५)

सन्ध्या का समय था। मैं द्वार पर बैठा हुआ पत्र पढ रहा था कि अकस्मात् दफ्तरी को आते देखा। कदाचित् कोई किसान सम्मन लानेवाले चपरासी से भी इतना भयभीत न होगा, बाल-वृन्द टीका लगानेवाले से भी इतना न डरते होंगे। मैं अव्यवस्थित होकर उठा और चाहा कि अन्दर जाकर द्वार बन्द कर

लूँ कि इतने में दफ्तरी लपककर सामने आ पहुँचा। अब कैसे भागता ? कुर्सी पर बैठ गया, पर नाक-भौं चढाये हुए। दफ्तरी किस लिए आ रहा था इसमें मुझे लेशमात्र भी शङ्का न थी। ऋणेच्छुओं की हृदय-चेष्टा उनकी मुखाकृति पर, उनके आचार-व्यवहार पर उज्ज्वल रङ्गों से अङ्कित होती है। वह एक विशेष नम्रता, सङ्कोचमय परवशता होती है जिसे एक बार देखकर फिर नही भुलाया जा सकता।

दफ्तरी ने आते ही बिना किसी प्रस्तावना के अभिप्राय कह सुनाया जो मुझे पहले ही ज्ञात हो चुका था।

मैंने रुखाई से उत्तर दिया—मेरे पास रुपये नहीं हैं।

दफ्तरी ने सलाम किया और उल्टे पाँव लौटा। उसके चेहरे पर ऐसी दीनता और बेकसी छाई हुई थी कि मुझे उस पर दया आ गयी। उसका इस भाँति बिना कुछ कहे-सुने लौटना कितना सारपूर्ण था। इसमे लज्जा थी, सन्तोष था, पछतावा था। उसके मुँह से एक शब्द भी न निकला, लेकिन उसका चेहरा कह रहा था, मुझे विश्वास था कि आप यही उत्तर देंगे। इसमें मुझे जरा भी सन्देह न था। लेकिन यह जानते हुए भी मैं यहाँ तक आया, मालूम नहीं क्यों ? मेरी समझ में स्वयं नहीं आता। कदाचित् आपकी दयाशीलता, आपकी वात्सल्यता मुझे यहाँ तक लाई। अब जाता हूँ, वह मुँह ही नहीं रहा कि अपनी कुछ कथा सुनाऊँ।

मैंने दफ्तरी को आवाज दी—जरा सुनो तो, क्या काम है ?

दफ्तरी को कुछ उम्मेद हुई। बोला—आपसे क्या अर्ज करूँ, दो दिन से उपवास हो रहा है।

मैंने बडी नम्रता से समझाया—इस तरह कर्ज लेकर कै दिन तुम्हारा काम चलेगा। तुम समझदार आदमी हो, जानते हो कि आजकल सभी को अपनी फिक्र सवार रहती है किसी के पास फालतू रुपये नहीं रहते और यदि हों भी तो वह ऋण देकर राड़ क्यों लेने लगा। तुम अपनी दशा सुधारते क्यों नहीं ?

दफ्तरी ने विरक्त भाव से कहा—यह सब दिनों का फेर है और क्या कहूँ। जो चीज महीने-भर के लिए लाता हूँ, वह एक दिन में उड़ जाती है। मैं घरवाली के चटोरेपन से लाचार हूँ। अगर एक दिन दूध न मिले तो महनामथ मचा

दे, बाजार से मिठाइयाँ न लाऊँ तो घर में रहना मुश्किल हो जाय, एक दिन गोश्त न पके तो मेरी बोटियाँ नोच खाय। खानदान का शरीफ हूँ। यह वेइज्जती नहीं सही जाती कि खाने के पीछे स्त्री से झगड़ा-तकरार करूँ। जो कुछ कहती है सिर के बल पूरा करता हूँ, अब खुदा से यही दुआ है कि मुझे इस दुनिया से उठा ले। इसके सिवाय मुझे दूसरी कोई सूरत नहीं नजर आती, सब कुछ करके हार गया।

मैंने सन्दूक से ५) निकाले और उसे देकर बोला—यह लो, यह तुम्हारे पुरुषार्थ का इनाम है। मैं नहीं जानता था कि तुम्हारा हृदय इतना उदार, इतना वीररसपूर्ण है।

गृहदाह में जलनेवाले वीर, रणक्षेत्र के वीरों से कम महत्वशाली नहीं होते।

विध्वंस

(१)

जिला बनारस में वीरा नाम का एक गाँव है। वहाँ एक विधवा वृद्धा, सन्तानहीन, गोंडिन रहती थी, जिसका भुनगी नाम था। उसके पास एक धुर भी जमीन न थी और न रहने को घर ही था। उसके जीवन का सहारा केवल एक भाड़ था। गाँव के लोग प्रायः एक वेला चबैना या सत्तू पर निर्वाह करते ही हैं, इसलिए भुनगी के भाड़ पर नित्य भीड़ लगी रहती थी। वह जो कुछ भुनाई पाती वही भून या पीसकर खा लेती और भाड़ ही की झोंपड़ी के एक कोने में पड़ रहती। वह प्रातःकाल उठती और चारों ओर से भाड़ झोंकने के लिए सूखी पत्तियाँ बटोर लाती। भाड के पास ही पत्तियों का एक बड़ा ढेर लगा रहता था। दोपहर के बाद उसका भाड़ जलता था। लेकिन जब एकादशी या पूर्णमासी के दिन प्रथानुसार भाड़ न जलता, या गाँव के जमींदार पण्डित उदयभानु पाण्डे के दाने भुनने पड़ते, उस दिन उसे भूखे ही सो रहना पड़ता था। पंडितजी उससे वेगार में दाने ही न भुनवाते थे, उसे उनके घर का पानी भी भरना पड़ता था। और कभी-कभी इस हेतु से भी भाड़ बन्द रहता था। वह पण्डितजी के गाँव में रहती थी, इसलिए उन्हें उससे सभी प्रकार की वेगार लेने का पूरा अधिकार था। इसे अन्याय नहीं कहा जा सकता। अन्याय केवल इतना था कि सूखी वेगार लेते थे। उनकी धारणा थी कि जब खाने ही को दिया गया तो वेगार कैसी। किसान को पूरा अधिकार है कि बैलों को दिन भर जोतने के बाद शाम को खूँटे से भूखा बाँध दे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो यह उसकी दयालुता नहीं है, केवल अपनी हित-चिन्ता है। पण्डितजी को इसकी बहुत चिन्ता न थी, क्योंकि एक तो भुनगी दो-एक दिन भूखी रहने से मर नहीं सकती थी और यदि दैवयोग से मर भी जाती तो उसकी जगह दूसरा गोंड बड़ी आसानी से बसाया जा सकता था। पण्डितजी की यही क्या कम कृपा थी कि वह भुनगी को अपने गाँव में बसाये हुए थे।

चैत का महीना था और सक्रान्ति का पर्व। आज के दिन नये अन्न का सत्तू खाया और दान दिया जाता है। घरों में आग नहीं जलती। भुनगी का भाड़ आज बड़े जोरों पर था। उसके सामने एक मेला-सा लगा हुआ था। साँस लेने का भी अवकाश न था। गाहकों की जल्दबाजी पर कभी-कभी झुँझला पड़ती थी, कि इतने में जमींदार साहब के यहाँ से दो बड़े-बड़े टोकरे अनाज से भरे हुए आ पहुँचे और हुक्म हुआ कि अभी भून दे। भुनगी दोनों टोकरे देखकर सहम उठी। अभी दोपहर था, पर सूर्यास्त से पहले इतना अनाज भूनना असभव था। घडी-दो-घड़ी और मिल जाते तो एक अठवारे के खाने भर को अनाज हाथ आता। दैव से इतना भी न देखा गया, इन यमदूतों को भेज दिया। अब पहर रात तक सेंत-मेत में भाड़ में जलना पडेगा, एक नैराश्य भाव से दोनों टोकरे ले लिये।

चपरासी ने डाँटकर कहा—देर न लगे, नहीं तो तुम जानोगी।

भुनगी—यहीं बैठे रहो, जब भून जाय तो लेकर जाना। किसी दूसरे के दाने छुऊँ तो हाथ काट लेना।

चपरासी—बैठने की हमें छुट्टी नहीं है, लेकिन तीसरे पहर तक दाना भून जाय।

चपरासी तो यह ताकीद करके चलते बने और भुनगी अनाज भूनने लगी। लेकिन मन भर अनाज भूनना कोई हँसी तो थी नहीं, उसपर बीच-बीच में भुनाई बन्द करके भाड़ भी झोंकना पड़ता था। अतएव तीसरा पहर हो गया और आधा काम भी न हुआ। उसे भय हुआ कि जमींदार के आदमी आते होंगे। आते-ही-आते गालियाँ देंगे, मारेंगे। उसने और वेग से हाथ चलाना शुरू किया। रास्ते की ओर ताकती और बालू नाँद में छोड़ती जाती थी। यहाँ तक कि बालू ठडी हो गयी, सेवड़े निकलने लगे। उसकी समझ में न आता था, क्या करे। न भूनते बनता था न छोड़ते बनता था। सोचने लगी, कैसी विपत्ति है। पण्डितजी कौन मेरी रोटियाँ चला देते हैं, कौन मेरे आँसू पोंछ देते हैं। अपना रक्त जलाती हूँ तब कहीं दाना मिलता है। लेकिन जब देखो खोपड़ी पर सवार रहते हैं, इसी लिए न कि उनकी चार अगुल धरती से

मेरा निस्तार हो रहा है। क्या इतनी-सी जमीन का इतना मोल है? ऐसे कितने ही टुकड़े गाँव में बेकाम पड़े हैं, कितनी ही बखरियाँ उजाड़ पड़ी हुई हैं। वहाँ तो केसर नहीं उपजती, फिर मुझी पर क्यों यह आठों पहर धौंस रहती है। कोई बात हुई और यही धमकी मिली कि भाड़ खोदकर फेंक दूँगा, उजाड़ दूँगा, मेरे सिर पर भी कोई होता तो क्यों बौछारें सहनी पड़तीं।

वह इन्हीं कुत्सित विचारों में पड़ी हुई थी कि दोनों चपरासियों ने आकर कर्कश स्वर में कहा—क्यों री, दाने भून गये?

भुनगी ने निडर होकर कहा—भून तो रही हूँ। देखते नहीं हो।

चपरासी—सारा दिन बीत गया और तुमसे इतना अनाज न भूना गया? यह तू दाना भून रही है कि उसे चौपट कर रही है। यह तो बिलकुल सेवड़े हैं, इनका सत्तू कैसे बनेगा। हमारा सत्यानाश कर दिया। देख तो आज महाराज तेरी क्या गति करते हैं।

परिणाम यह हुआ कि उसी रात को भाड़ खोद डाला गया और वह अभागिनी विधवा निरावलम्ब हो गयी।

(२)

भुनगी को अब रोटियों का कोई सहारा न रहा। गाँववालों को भी भाड़ के विध्वंस हो जाने से बहुत कष्ट होने लगा। कितने ही घरों में तो दोपहर को दाना ही न मयस्सर होता। लोगों ने जाकर पण्डितजी से कहा कि बुढ़िया को भाड़ जलाने की आज्ञा दे दीजिए, लेकिन पंडितजी ने कुछ ध्यान न दिया। वह अपना रोब न घटा सकते थे। बुढ़िया से उसके कुछ शुभचिन्तकों ने अनुरोध किया कि जाकर किसी दूसरे गाँव में क्यों नहीं बस जाती। लेकिन उसका हृदय इस प्रस्ताव को स्वीकार न करता। इस गाँव में उसने अपने अदिन के पचास वर्ष काटे थे। यहाँ के एक-एक पेड़-पत्ते से उसे प्रेम हो गया था। जीवन के सुख-दुःख इसी गाँव में भोगे थे। अब अन्तिम समय वह इसे कैसे त्याग दे! यह कल्पना ही उसे संकटमय जान पड़ती थी। दूसरे गाँव के सुख से यहाँ का दुःख भी प्यारा था।

इस प्रकार एक पूरा महीना गुजर गया। प्रातःकाल था। पंडित उदय-भान अपने दो-तीन चपरासियों को लिये लगान वसूल करने जा रहे थे।

कारिन्दों पर उन्हें विश्वास न था। नजराने में, डाँड़-बाँध में, रसूम में वह किसी अन्य व्यक्ति को शरीक न करते थे। बुढिया के भाड़ की ओर ताका तो वदन में आग-सी लग गयी। उसका पुनरुद्धार हो रहा था। बुढ़िया बड़े वेग से उसपर मिट्टी के लोंदे रख रही थी। कदाचित् उसने कुछ रात रहते ही काम में हाथ लगा दिया था और सूर्योदय से पहले ही उसे समाप्त कर देना चाहती थी। उसे लेशमात्र भी शका न थी कि मैं जमींदार के विरुद्ध कोई काम कर रही हूँ। क्रोध इतना चिरजीवी हो सकता है इसकी सभावना भी उसके मन में न थी। एक प्रतिभाशाली पुरुष किसी दीन अवला से इतना कीना रख सकता है उसे इसका ध्यान भी न था। वह स्वभावतः मानव-चरित्र को इससे कहीं ऊँचा समझती थी। लेकिन हा! हतभागिनी! तूने धूप में ही बाल सफेद किये।

सहसा उदयभान ने गरजकर कहा—किसके हुक्म से?

भुनगी ने हकबकाकर देखा तो सामने जमींदार महोदय खड़े हैं।

उदयभान ने फिर पूछा—किसके हुक्म से बना रही है?

भुनगी डरते हुए बोली—सब लोग कहने लगे बना लो, तो बना रही हूँ।

उदयभान—मैं अभी इसे फिर खुदवा डालूँगा। यह कह उन्होंने भाड़ में एक ठोकर मारी। गीली मिट्टी सब कुछ लिये-दिये बैठ गयी। दूसरी ठोकर नाद पर चलायी, लेकिन बुढिया सामने आ गयी और ठोकर उसकी कमर पर पड़ी। अब उसे क्रोध आया। कमर सुहलाते हुए बोली—महाराज, तुम्हें आदमी का डर नहीं है तो भगवान का डर तो होना चाहिए। मुझे इस तरह उजाडकर क्या पाओगे? क्या इस चार अगुल धरती में सोना निकल आयेगा? मैं तुम्हारे ही भले को कहती हूँ, दीन की हाय मत लो। मेरा रोआँ दुखी मत करो।

उदयभान—अब तो यहाँ फिर भाड़ न बनायेगी।

भुनगी—भाड न बनाऊँगी तो खाऊँगी क्या?

उदयभान—तेरे पेट का हमने ठेका नहीं लिया है।

भुनगी—टहल तो तुम्हारी करती हूँ खाने कहाँ जाऊँ?

उदयभान—गाँव में रहोगी तो टहल करनी पड़ेगी।

भुनगी—टहल तभी करूँगी जब भाड बनाऊँगी। गाँव में रहने के नाते टहल नहीं कर सकती।

उदयभान—तो छोड़कर निकल जा।

भुनगी—क्यों छोडकर निकल जाऊँ! बारह साल खेत जोतने से असामी काश्तकार हो जाता है। मैं तो इस झोपडे मे बूढी हो गयी। मेरे सास-ससुर और उनके बाप-दादे इसी झोपड़े में रहे। अब इसे यमराज को छोडकर और कोई मुझसे नहीं ले सकता।

उदयभान—अच्छा तो अब कानून भी बघारने लगी। हाथ-पैर पडती तो चाहे मैं रहने भी देता, लेकिन अब तुझे निकालकर तभी दम लूँगा। (चपरासियों से) अभी जाकर इसके पत्तियों के ढेर में आग लगा दो, देखें कैसे भाड बनता है।

(४)

एक क्षण में हाहाकार मच गया! ज्वाला-शिखर आकाश से बातें करने लगा। उसकी लपटें किसी उन्मत्त की भाँति इधर-उधर दौड़ने लगीं। सारे गाँव के लोग उस अग्नि-पर्वत के चारों ओर जमा हो गये। भुनगी अपने भाड़ के पास उदासीन भाव से खड़ी यह लङ्का-दहन देखती रही। अकस्मात् वह वेग से आकर उसी अग्नि कुण्ड में कूद पड़ी! लोग चारों तरफ से दौडे, लेकिन किसी की हिम्मत न पडी कि आग के मुँह में जाय। क्षणमात्र में उसका सूखा हुआ शरीर अग्नि में समाविष्ट हो गया।

उसी दम पवन भी वेग से चलने लगा। उर्द्धगामी लपटें पूर्व दिशा की ओर दौड़ने लगीं। भाड के समीप ही किसानों की कई झोपड़ियाँ थीं, वह सब उन्मत्त ज्वालाओं का ग्रास बन गयीं। इस भाँति प्रोत्साहित होकर लपटें और आगे बढीं। सामने पण्डित उदयभान की बखार थी, उस पर झपटीं। अब गाँव में हलचल पड़ी। आग बुझाने की तैयारियाँ होने लगीं। लेकिन पानी के छींटों ने आग पर तेल का काम किया। ज्वालाएँ और भी भड़कीं और पण्डितजी के विशाल भवन को दबोच बैठीं। देखते-ही-देखते वह भवन उस नौका की भाँति जो उन्मत्त तरगों के बीच में झकोरे खा रही हो, अग्नि-सागर में विलीन हो गया और वह क्रन्दन-ध्वनि जो उसके भस्म-विशेष से प्रस्फुटित होने लगी, भुनगी के शोकमय विलाप से भी अधिक करुणाकारी थी।

———

स्वत्व-रक्षा

(१)

मीर दिलावर अली के पास एक बड़ी रास का कुम्मैत घोड़ा था। कहते तो वह यही थे कि मैंने अपनी जिन्दगी की आधी कमाई इस पर खर्च की है, पर वास्तव में उन्होंने इसे पलटन में सस्ते दामों मोल लिया था। यों कहिए कि यह पलटन का निकाला हुआ घोडा था। शायद पलटन के अधिकारियों ने इसे अपने यहाँ रखना उचित न समझकर नीलाम कर दिया था। मीर साहब कचहरी में मुहर्रिर थे। शहर के बाहर मकान था। कचहरी तक आने में तीन मील की मञ्जिल तय करनी पड़ती थी, एक जानवर की फिक्र थी। यह घोडा सुभीते से मिल गया, ले लिया। पिछले तीन वर्षों से वह मीर साहब की ही सवारी में था। देखने में तो उसमें कोई ऐब न था, पर कदाचित् आत्म-सम्मान की मात्रा अधिक थी। उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध या अपमान-सूचक काम में लगाना दुस्तर था। खैर, मीरसाहब ने सस्ते दामों में कलाँ रास का घोड़ा पाया, तो फूले न समाये। लाकर द्वार पर बाँध दिया। साईस का इन्तजाम करना कठिन था। बेचारे खुद ही शाम-सवेरे उस पर दो-चार हाथ फेर लेते थे। शायद घोड़ा इस सम्मान से प्रसन्न होता था। और इसी कारण रातिब की मात्रा बहुत कम होने पर भी वह असतुष्ट नहीं जान पड़ता था। उसे मीर साहब से कुछ सहानुभूति हो गयी थी। इस स्वामि-भक्ति में उसका शरीर बहुत क्षीण हो चुका था, पर वह मीर साहब को नियत समय पर प्रसन्नतापूर्वक कचहरी पहुँचा दिया करता था। उसकी चाल उसके आत्मिक सन्तोष की द्योतक थी। दौड़ना वह अपनी स्वाभाविक गम्भीरता के प्रतिकूल समझता था, उसकी दृष्टि में उच्छृङ्खलता थी। स्वामि-भक्ति में उसने अपने कितने ही चिर-सचित स्वत्वों को बलिदान कर दिया था। अब अगर किसी स्वत्व से प्रेम था, तो वह रविवार का शान्ति-निवास था। मीर साहब एतवार को कचहरी न जाते थे। घोड़े को मलते, नहलाते, तैराते थे। इसमें उसे हार्दिक आनन्द प्राप्त होता था। कहाँ कचहरी में

पेड़ के नीचे बँधे हुए सूखी घास पर मुँह मारना पड़ता था, लूह से सारा शरीर झुलस जाता था; कहाँ इस दिन छप्परों की शीतल छाँह में हरी-हरी दूब खाने को मिलती थी। अतएव एतवार को आराम करना वह अपना हक समझता था और मुमकिन न था कि कोई उसका यह हक छीन सके। मीर साहब ने कभी-कभी बाजार जाने के लिए इस दिन उसपर सवार होने की चेष्टा की, पर इस उद्योग में बुरी तरह मुँह की खायी। घोडे ने मुँह में लगाम तक न ली। अन्त को मीर साहब ने अपनी हार स्वीकार कर ली। वह उसके आत्म-सम्मान को आघात पहुँचाकर अपने अवयवों को परीक्षा में न डालना चाहते थे।

(२)

मीर साहब के पड़ोस में एक मुन्शी सौदागरलाल रहते थे। उनका भी कचहरी से ही कुछ सम्बन्ध था। वह मुहर्रिर न थे, कर्मचारी भी न थे। उन्हें किसी ने कभी कुछ लिखते-पढ़ते न देखा था। पर उनका वकीलों और मुख्तारों के समाज में बड़ा मान था। मीर साहब से उनकी दाँत-काटी रोटी थी।

जेठ का महीना था। बरातों की धूम थी। बाजेवाले सीधे मुँह बात न करते थे। आतिशबाज के द्वार पर गरज के बावले लोग चर्खी की भाँति चक्कर लगाते थे। भाँड और कथक लोगों को उँगलियों पर नचाते थे। पालकी के कहार पत्थर के देवता बने हुए थे; भेंट लेकर भी न पसीजते थे। इसी सहालगों की धूम में मुन्शीजी ने भी लड़के का विवाह ठान दिया। दबाववाले आदमी थे। धीरे-धीरे बरात के और सब सामान तो जुटा लिये, पर पालकी का प्रबन्ध न कर सके। कहारों ने ऐन वक्त पर बयाना लौटा दिया। मुन्शीजी बहुत गरम पडे, हरजाने की धमकी दी, पर कुछ फल न हुआ। विवश होकर यही निश्चय किया कि वर को घोड़े पर बिठाकर बरयात्रा की रस्में पूरी कर ली जायँ। छः बजे शाम को बरात चलने का मुहूर्त्त था। चार बजे मुन्शीजी ने आकर मीर साहब से कहा—यार, अपना घोड़ा दे दो, वर को स्टेशन तक पहुँचा दे। पालकी तो कहीं मिलती ही नहीं।

मीर साहब—आपको मालूम नहीं, आज एतवार का दिन है।

मुन्शीजी—मालूम क्यों नहीं है, पर आखिर घोड़ा ही तो ठहरा। किसी-न-किसी तरह स्टेशन तक पहुँचा ही देगा। कौन दूर जाना है!

स्वत्व-रक्षा

(१)

मीर दिलावर अली के पास एक बड़ी रास का कुम्मैत घोड़ा था। कहते तो वह यही थे कि मैंने अपनी जिन्दगी की आधी कमाई इस पर खर्च की है, पर वास्तव में उन्होंने इसे पलटन में सस्ते दामों मोल लिया था। यों कहिए कि यह पलटन का निकाला हुआ घोडा था। शायद पलटन के अधिकारियों ने इसे अपने यहाँ रखना उचित न समझकर नीलाम कर दिया था। मीर साहब कचहरी में मुहर्रिर थे। शहर के बाहर मकान था। कचहरी तक आने में तीन मील की मञ्जिल तय करनी पड़ती थी, एक जानवर की फ़िक्र थी। यह घोड़ा सुभीते से मिल गया, ले लिया। पिछले तीन वर्षों से वह मीर साहब की ही सवारी में था। देखने में तो उसमें कोई ऐब न था, पर कदाचित् आत्म-सम्मान की मात्रा अधिक थी। उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध या अपमान-सूचक काम में लगाना दुस्तर था। खैर, मीरसाहब ने सस्ते दामों में कलाँ रास का घोड़ा पाया, तो फूले न समाये। लाकर द्वार पर बाँध दिया। साईस का इन्तजाम करना कठिन था। बेचारे खुद ही शाम-सवेरे उस पर दो-चार हाथ फेर लेते थे। शायद घोड़ा इस सम्मान से प्रसन्न होता था। और इसी कारण रातिब की मात्रा बहुत कम होने पर भी वह असन्तुष्ट नहीं जान पड़ता था। उसे मीर साहब से कुछ सहानुभूति हो गयी थी। इस स्वामि-भक्ति में उसका शरीर बहुत क्षीण हो चुका था, पर वह मीर साहब को नियत समय पर प्रसन्नतापूर्वक कचहरी पहुँचा दिया करता था। उसकी चाल उसके आत्मिक सन्तोष की द्योतक थी। दौड़ना वह अपनी स्वाभाविक गम्भीरता के प्रतिकूल समझता था, उसकी दृष्टि में उच्छृङ्खलता थी। स्वामि-भक्ति में उसने अपने कितने ही चिर-सञ्चित स्वत्वों को बलिदान कर दिया था। अब अगर किसी स्वत्व से प्रेम था, तो वह रविवार का शान्ति-निवास था। मीर साहब एतवार को कचहरी न जाते थे। घोड़े को मलते, नहलाते, तैराते थे। इसमें उसे हार्दिक आनन्द प्राप्त होता था। कहाँ कचहरी में

पेड़ के नीचे बँधे हुए सूखी घास पर मुँह मारना पड़ता था, लूह से सारा शरीर झुलस जाता था; कहाँ इस दिन छप्परों की शीतल छाँह में हरी-हरी दूब खाने को मिलती थी। अतएव एतवार को आराम करना वह अपना हक समझता था और मुमकिन न था कि कोई उसका यह हक छीन सके। मीर साहब ने कभी-कभी बाजार जाने के लिए इस दिन उसपर सवार होने की चेष्टा की, पर इस उद्योग में बुरी तरह मुँह की खायी। घोड़े ने मुँह में लगाम तक न ली। अन्त को मीर साहब ने अपनी हार स्वीकार कर ली। वह उसके आत्म-सम्मान को आघात पहुँचाकर अपने अवयवों को परीक्षा में न डालना चाहते थे।

(२)

मीर साहब के पड़ोस में एक मुन्शी सौदागरलाल रहते थे। उनका भी कचहरी से ही कुछ सम्बन्ध था। वह मुहर्रिर न थे, कर्मचारी भी न थे। उन्हें किसी ने कभी कुछ लिखते-पढ़ते न देखा था। पर उनका वकीलों और मुख्तारों के समाज में बड़ा मान था। मीर साहब से उनकी दाँत-काटी रोटी थी।

जेठ का महीना था। बरातों की धूम थी। बाजेवाले सीधे मुँह बात न करते थे। आतिशबाज के द्वार पर गरज के बावले लोग चर्खी की भाँति चक्कर लगाते थे। भाँड और कथक लोगों को उँगलियों पर नचाते थे। पालकी के कहार पत्थर के देवता बने हुए थे, भेंट लेकर भी न पसीजते थे। इसी सहालगों की धूम में मुन्शीजी ने भी लड़के का विवाह ठान दिया। दबाववाले आदमी थे। धीरे-धीरे बरात के और सब सामान तो जुटा लिये, पर पालकी का प्रबन्ध न कर सके। कहारों ने ऐन वक्त पर बयाना लौटा दिया। मुन्शीजी बहुत गरम पड़े, हरजाने की धमकी दी, पर कुछ फल न हुआ। विवश होकर यही निश्चय किया कि वर को घोड़े पर बिठाकर वरयात्रा की रस्में पूरी कर ली जायँ। छः बजे शाम को बरात चलने का मुहूर्त था। चार बजे मुन्शीजी ने आकर मीर साहब से कहा—यार, अपना घोड़ा दे दो, वर को स्टेशन तक पहुँचा दे। पालकी तो कहीं मिलती ही नहीं।

मीर साहब—आपको मालूम नहीं, आज एतवार का दिन है।

मुन्शीजी—मालूम क्यों नहीं है, पर आखिर घोड़ा ही तो ठहरा। किसी-न-किसी तरह स्टेशन तक पहुँचा ही देगा। कौन दूर जाना है!

स्वत्व-रक्षा

(१)

मीर दिलावर अली के पास एक बड़ी रास का कुम्मैत घोड़ा था। कहते तो वह यही थे कि मैंने अपनी जिन्दगी की आधी कमाई इस पर खर्च की है, पर वास्तव में उन्होंने इसे पलटन में सस्ते दामों मोल लिया था। यों कहिए कि यह पलटन का निकाला हुआ घोड़ा था। शायद पलटन के अधिकारियों ने इसे अपने यहाँ रखना उचित न समझकर नीलाम कर दिया था। मीर साहब कचहरी में मुहर्रिर थे। शहर के बाहर मकान था। कचहरी तक आने में तीन मील की मञ्जिल तय करनी पड़ती थी, एक जानवर की फिक्र थी। यह घोड़ा सुभीते से मिल गया, ले लिया। पिछले तीन वर्षों से वह मीर साहब की ही सवारी में था। देखने में तो उसमें कोई ऐब न था, पर कदाचित् आत्म-सम्मान की मात्रा अधिक थी। उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध या अपमान-सूचक काम में लगाना दुस्तर था। खैर, मीरसाहब ने सस्ते दामों में कलाँ रास का घोड़ा पाया, तो फूले न समाये। लाकर द्वार पर बाँध दिया। साईस का इन्तजाम करना कठिन था। बेचारे खुद ही शाम-सवेरे उस पर दो-चार हाथ फेर लेते थे। शायद घोड़ा इस सम्मान से प्रसन्न होता था। और इसी कारण रातिब की मात्रा बहुत कम होने पर भी वह असतुष्ट नहीं जान पड़ता था। उसे मीर साहब से कुछ सहानुभूति हो गयी थी। इस स्वामि-भक्ति में उसका शरीर बहुत क्षीण हो चुका था, पर वह मीर साहब को नियत समय पर प्रसन्नतापूर्वक कचहरी पहुँचा दिया करता था। उसकी चाल उसके आत्मिक सन्तोष की द्योतक थी। दौड़ना वह अपनी स्वाभाविक गम्भीरता के प्रतिकूल समझता था, उसकी दृष्टि में उच्छृङ्खलता थी। स्वामि-भक्ति में उसने अपने कितने ही चिर-सञ्चित स्वत्वों को बलिदान कर दिया था। अब अगर किसी स्वत्व से प्रेम था, तो वह रविवार का शान्ति-निवास था। मीर साहब एतवार को कचहरी न जाते थे। घोड़े को मलते, नहलाते, तैराते थे। इसमें उसे हार्दिक आनन्द प्राप्त होता था। कहाँ कचहरी में

पेड़ के नीचे बँधे हुए सूखी घास पर मुँह मारना पड़ता था, लूह से सारा शरीर झुलस जाता था; कहाँ इस दिन छप्परों की शीतल छाँह में हरी-हरी दूब खाने को मिलती थी। अतएव एतवार को आराम करना वह अपना हक समझता था और मुमकिन न था कि कोई उसका यह हक छीन सके। मीर साहब ने कभी-कभी बाजार जाने के लिए इस दिन उसपर सवार होने की चेष्टा की, पर इस उद्योग में बुरी तरह मुँह की खायी। घोड़े ने मुँह में लगाम तक न ली। अन्त को मीर साहब ने अपनी हार स्वीकार कर ली। वह उसके आत्म-सम्मान को आघात पहुँचाकर अपने अवयवों को परीक्षा मे न डालना चाहते थे।

(२)

मीर साहब के पड़ोस में एक मुन्शी सौदागरलाल रहते थे। उनका भी कचहरी से ही कुछ सम्बन्ध था। वह मुहर्रिर न थे, कर्मचारी भी न थे। उन्हें किसी ने कभी कुछ लिखते-पढ़ते न देखा था। पर उनका वकीलों और मुख्तारों के समाज में बड़ा मान था। मीर साहब से उनकी दाँत-काटी रोटी थी।

जेठ का महीना था। बरातों की धूम थी। बाजेवाले सीधे मुँह बात न करते थे। आतिशबाज के द्वार पर गरज के बावले लोग चर्खी की भाँति चक्कर लगाते थे। भाँड़ और कथक लोगों को उँगलियों पर नचाते थे। पालकी के कहार पत्थर के देवता बने हुए थे; भेंट लेकर भी न पसीजते थे। इसी सहालगों की धूम में मुन्शीजी ने भी लड़के का विवाह ठान दिया। दबाववाले आदमी थे। धीरे-धीरे बरात के और सब सामान तो जुटा लिये, पर पालकी का प्रबन्ध न कर सके। कहारों ने ऐन वक्त पर बयाना लौटा दिया। मुन्शीजी बहुत गरम पड़े, हरजाने की धमकी दी, पर कुछ फल न हुआ। विवश होकर यही निश्चय किया कि वर को घोड़े पर बिठाकर बरयात्रा की रस्में पूरी कर ली जायँ। छः बजे शाम को बरात चलने का मुहूर्त्त था। चार बजे मुन्शीजी ने आकर मीर साहब से कहा—यार, अपना घोड़ा दे दो, वर को स्टेशन तक पहुँचा दे। पालकी तो कहीं मिलती ही नहीं।

मीर साहब—आपको मालूम नहीं, आज एतवार का दिन है।

मुन्शीजी—मालूम क्यों नहीं है, पर आखिर घोड़ा ही तो ठहरा। किसी-न-किसी तरह स्टेशन तक पहुँचा ही देगा। कौन दूर जाना है!

स्वत्व-रक्षा

(१)

मीर दिलावर अली के पास एक बड़ी रास का कुम्मैत घोड़ा था। कहते तो वह यही थे कि मैंने अपनी जिन्दगी की आधी कमाई इस पर खर्च की है, पर वास्तव में उन्होंने इसे पलटन में सस्ते दामों मोल लिया था। यों कहिए कि यह पलटन का निकाला हुआ घोड़ा था। शायद पलटन के अधिकारियों ने इसे अपने यहाँ रखना उचित न समझकर नीलाम कर दिया था। मीर साहब कचहरी में मुहर्रिर थे। शहर के बाहर मकान था। कचहरी तक आने में तीन मील की मञ्जिल तय करनी पड़ती थी, एक जानवर की फिक्र थी। यह घोड़ा सुभीते से मिल गया, ले लिया। पिछले तीन वर्षों से वह मीर साहब की ही सवारी में था। देखने में तो उसमें कोई ऐब न था, पर कदाचित् आत्म-सम्मान की मात्रा अधिक थी। उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध या अपमान-सूचक काम में लगाना दुस्तर था। खैर, मीरसाहब ने सस्ते दामों में कलाँ रास का घोड़ा पाया, तो फूले न समाये। लाकर द्वार पर बाँध दिया। साईस का इन्तजाम करना कठिन था। वेचारे खुद ही शाम-सवेरे उस पर दो-चार हाथ फेर लेते थे। शायद घोड़ा इस सम्मान से प्रसन्न होता था। और इसी कारण रातिब की मात्रा बहुत कम होने पर भी वह असन्तुष्ट नहीं जान पड़ता था। उसे मीर साहब से कुछ सहानुभूति हो गयी थी। इस स्वामि-भक्ति में उसका शरीर बहुत क्षीण हो चुका था, पर वह मीर साहब को नियत समय पर प्रसन्नतापूर्वक कचहरी पहुँचा दिया करता था। उसकी चाल उसके आत्मिक सन्तोष की द्योतक थी। दौड़ना वह अपनी स्वाभाविक गम्भीरता के प्रतिकूल समझता था, उसकी दृष्टि में उच्छृङ्खलता थी। स्वामि-भक्ति में उसने अपने कितने ही चिर-सञ्चित स्वत्वों को बलिदान कर दिया था। अब अगर किसी स्वत्व से प्रेम था, तो वह रविवार का शान्ति-निवास था। मीर साहब एतवार को कचहरी न जाते थे। घोड़े को मलते, नहलाते, तैराते थे। इसमें उसे हार्दिक आनन्द प्राप्त होता था। कहाँ कचहरी में

पेड़ के नीचे बँधे हुए सूखी घास पर मुँह मारना पड़ता था, लूह से सारा शरीर झुलस जाता था; कहाँ इस दिन छप्परों की शीतल छाँह में हरी-हरी दूब खाने को मिलती थी। अतएव एतवार को आराम करना वह अपना हक समझता था और मुमकिन न था कि कोई उसका यह हक छीन सके। मीर साहब ने कभी-कभी बाजार जाने के लिए इस दिन उसपर सवार होने की चेष्टा की, पर इस उद्योग में बुरी तरह मुँह की खायी। घोडे ने मुँह में लगाम तक न ली। अन्त को मीर साहब ने अपनी हार स्वीकार कर ली। वह उसके आत्म-सम्मान को आघात पहुँचाकर अपने अवयवों को परीक्षा में न डालना चाहते थे।

(२)

मीर साहब के पड़ोस में एक मुन्शी सौदागरलाल रहते थे। उनका भी कचहरी से ही कुछ सम्बन्ध था। वह मुहर्रिर न थे, कर्मचारी भी न थे। उन्हें किसी ने कभी कुछ लिखते-पढ़ते न देखा था। पर उनका वकीलों और मुख्तारों के समाज में बड़ा मान था। मीर साहब से उनकी दाँत-काटी रोटी थी।

जेठ का महीना था। बरातों की धूम थी। बाजेवाले सीधे मुँह बात न करते थे। आतिशबाज के द्वार पर गरज के बावले लोग चर्खी की भाँति चक्कर लगाते थे। भाँड और कथक लोगों को उँगलियों पर नचाते थे। पालकी के कहार पत्थर के देवता बने हुए थे; भेंट लेकर भी न पसीजते थे। इसी सहालगों की धूम में मुन्शीजी ने भी लड़के का विवाह ठान दिया। दबाववाले आदमी थे। धीरे-धीरे बरात के और सब सामान तो जुटा लिये, पर पालकी का प्रबन्ध न कर सके। कहारों ने ऐन वक्त पर बयाना लौटा दिया। मुन्शीजी बहुत गरम पडे, हरजाने की धमकी दी, पर कुछ फल न हुआ। विवश होकर यही निश्चय किया कि वर को घोडे पर बिठाकर वरयात्रा की रस्में पूरी कर ली जायँ। छः बजे शाम को बरात चलने का मुहूर्त्त था। चार बजे मुन्शीजी ने आकर मीर साहब से कहा—यार, अपना घोड़ा दे दो, वर को स्टेशन तक पहुँचा दें। पालकी तो कहीं मिलती ही नहीं।

मीर साहब—आपको मालूम नहीं, आज एतवार का दिन है।

मुन्शीजी—मालूम क्यों नहीं है, पर आखिर घोडा ही तो ठहरा। किसी-न-किसी तरह स्टेशन तक पहुँचा ही देगा। कौन दूर जाना है!

मीर साहब—यों आपका जानवर है ले जाइए। पर मुझे उम्मीद नहीं कि आज वह पुट्टे पर हाथ तक रखने दे।

मुन्शीजी—अजी मार के आगे भूत भागता है। आप डरते हैं, इसलिए आपसे बदमाशी करता है। बच्चा पीठ पर बैठ जायँगे तो कितना ही उछले-कूदे पर उन्हें हिला न सकेगा।

मीर साहब—अच्छी बात है, ले जाइए। और अगर उसकी यह जिद आप लोगों ने तोड़ दी, तो मैं आपका बड़ा एहसान मानूँगा।

(३)

मगर ज्योंही मुन्शीजी अस्तबल में पहुँचे, घोडे ने सशङ्क नेत्रों से देखा और एक बार हिनहिनाकर घोषित किया कि तुम आज मेरी शान्ति में विघ्न डालने वाले कौन होते हो। बाजे की धड-धड, पों-पों से वह पहले ही उत्तेजित हो रहा था। मुन्शीजी ने जब उसके पगहे को खोलना शुरू किया तो उसने कनौतियाँ खडी कीं और अभिमान-सूचक भाव से फिर हरी-हरी घास खाने लगा।

लेकिन मुन्शीजी भी चतुर खिलाड़ी थे। तुरन्त घर से थोड़ा-सा दाना मँगवाया और घोडे के सामने रख दिया। घोड़े ने इधर बहुत दिनों से दाने की सूरत न देखी थी। बडी रुचि से खाने लगा और तब कृतज्ञ नेत्रों से मुन्शीजी की ओर ताका, मानों अनुमति दी कि मुझे आपके साथ चलने में कोई आपत्ति नहीं है।

मुन्शीजी के द्वार पर बाजे बज रहे थे। वर वस्त्राभूषण पहने हुए घोडे की प्रतीक्षा कर रहा था। मुहल्ले की स्त्रियाँ उसे विदा करने के लिए आरती लिये खड़ी थीं। पाँच बज गये थे। सहसा मुन्शीजी घोडा लाते हुए दिखाई दिये। बाजेवालों ने आगे की तरफ कदम बढाया। एक आदमी मीर साहब के घर से दौड़कर साज लाया।

घोडे को खींचने की ठहरी, मगर वह लगाम देखकर मुँह फेर-फेर लेता था। मुन्शीजी ने चुमकारा-पुचकारा, पीठ सुहलायी, फिर दाना दिखलाया। पर घोडे ने मुँह तक न खोला, तब उन्हें क्रोध आ गया। ताबड़तोड़ कई चाबुक लगाये। घोडे ने जब अब भी मुँह में लगाम न ली, तो उन्होंने उसके नथनों पर चाबुक के बेंट से कई बार मारा। नथनों से खून निकलने लगा। घोडे ने

इधर-उधर दीन और विवश आँखों से देखा। समस्या कठिन थी। इतनी मार उसने कभी न खायी थी। मीर साहब की अपनी चीज थी। वह इतनी निर्दयता से कभी न पेश आते थे। सोचा मुँह नहीं खोलता तो नहीं मालूम और कितनी मार पड़े। लगाम ले ली। फिर क्या था, मुन्शीजी की फतह हो गयी। उन्होंने तुरन्त जीन भी कस दी। दूल्हा कूदकर घोड़े पर सवार हो गया।

(४)

जब वर ने घोड़े की पीठ पर आसन जमा लिया, तो घोड़ा मानों नींद से जागा। विचार करने लगा, थोड़े-से दाने के बदले अपने इस स्वत्व से हाथ धोना एक कटोरे कढ़ी के लिए अपने जन्म-सिद्ध अधिकारों को बेचना है। उसे याद आया कि मैं कितने दिनों से आज के दिन आराम करता हूँ, तो आज क्यों यह बेगार करूँ! ये लोग मुझे न जाने कहाँ ले जायँगे; लौंडा आसन का पक्का जान पड़ता है; मुझे दौड़ाएगा, एड़ें लगाएगा, चाबुक से मार-मारकर अधमुआँ कर देगा, फिर न जाने भोजन मिले या नहीं। यह सोच-विचारकर उसने निश्चय किया कि मैं यहाँ से कदम ही न उठाऊँगा। यही न होगा मारेंगे, सवार को लिये हुए जमीन पर लोट जाऊँगा, आप ही छोड़ देंगे। मेरे मालिक मीर साहब भी तो यहीं कहीं होंगे। उन्हें मुझ पर इतनी मार पड़ती कभी पसन्द न आयेगी कि कल उन्हें कचहरी भी न ले जा सकूँ।

वर ज्योंही घोड़े पर सवार हुआ स्त्रियों ने मंगल गान किया, फूलों की वर्षा हुई। बारात के लोग आगे बढ़े। मगर घोड़ा ऐसा अड़ा कि पैर ही नहीं उठाता। वर उसे एड़ें लगाता है, चाबुक मारता है, लगाम के झटके देता है, मगर घोड़े के कदम मानों जमीन में ऐसे गड़ गये हैं कि उखड़ने का नाम नहीं लेते।

मुन्शीजी को ऐसा क्रोध आता था कि अपना जानवर होता तो गोली मार देते। एक मित्र ने कहा—अड़ियल जानवर है, यों न चलेगा। इसके पीछे से डंडे लगाओ, आप दौड़ेगा।

मुन्शीजी ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। पीछे से जाकर कई डंडे लगाये, पर घोड़े ने पैर न उठाये, उठाये भी तो अगले पैर, और आकाश की

ओर। दो-एक बार पिछले पैर भी, जिससे विदित होता था कि वह बिलकुल प्राणहीन नहीं है। मुन्शीजी बाल-बाल बच गये।

तब दूसरे मित्र ने कहा—इसकी पूँछ के पास एक जलता हुआ कुन्दा चलाओ, आँच के डर से भागेगा।

यह प्रस्ताव भी स्वीकृत हुआ। फल यह हुआ कि घोड़े की पूँछ जल गयी। वह दो-तीन बार उछला-कूदा पर आगे न बढ़ा। पक्का सत्याग्रही था। कदाचित् इन यन्त्रणाओं ने उसके सङ्कल्प को और भी दृढ कर दिया।

इतने में सूर्यास्त होने लगा। पण्डितजी ने कहा—जल्दी कीजिए 'नहीं तो मुहूर्त्त टल जायगा।' लेकिन अपने वश की बात तो थी नहीं। जल्दी कैसे होती। बाराती लोग गाँव के बाहर जा पहुँचे। यहाँ स्त्रियों और बालकों का मेला लग गया। लोग कहने लगे—'कैसा घोड़ा है कि पग ही नहीं उठाता।' एक अनुभवी महाशय ने कहा—'मार-पीट से काम न चलेगा। थोड़ा-सा दाना मँगवाइए। एक आदमी इसके सामने तोबड़े में दाना दिखाता हुआ चले। दाने के लालच से खट-खट चला जायगा।' मुन्शीजी ने यह उपाय भी करके देखा, पर सफल मनोरथ न हुए। घोड़ा अपने स्वत्व को किसी दाम पर बेचना न चाहता था। एक महाशय ने कहा—'इसे थोड़ी-सी शराब पिला दीजिए। नशे में आकर खूब चौकड़ियाँ भरने लगेगा।' शराब की बोतल आयी। एक तसले में शराब उँडेलकर घोड़े के सामने रखी गयी, पर उसने सूँघी तक नहीं।

अब क्या हो ? चिराग जल गये। मुहूर्त्त टल चुका था। घोड़ा यह नाना दुर्गतियाँ सहकर दिल में खुश होता था और अपने सुख में विघ्न डालनेवालों की दुरवस्था और व्यग्रता का आनन्द उठा रहा था। उसे इस समय इन लोगों की यत्नशीलता पर एक दार्शनिक आनन्द प्राप्त हो रहा था। देखें आप लोग अब क्या करते हैं। वह जानता था कि अब मार खाने की सम्भावना नहीं है। लोग जान गये कि मारना व्यर्थ है। वह केवल उनकी सुयुक्तियों की विवेचना कर रहा था।

पाँचवें सज्जन ने कहा—अब एक ही तरकीब और है। वह जो खेतों में खाद फेंकने की दो-पहिया गाड़ी होती है, उसे घोड़े के सामने लाकर रखिए।

इसके दोनों अगले पैर उसमें रख दिये जायँ और हम लोग गाड़ी को खींचें। तब तो जरूर ही इसके पैर उठ जायँगे। अगले पैर आगे बढ़े, तो पिछले पैर भी झख मारकर उठेंगे ही। घोड़ा चल निकलेगा।

मुंशीजी डूब रहे थे। कोई तिनका सहारे के लिए काफी था। दो आदमी गये। दो-पहिया गाडी निकाल लाये। वर ने लगाम तानी। चार-पाँच आदमी घोडे के पास डंडे लेकर खड़े हो गये। दो आदमियों ने उसके अगले पाँव जबर्दस्ती उठाकर गाड़ी पर रखे। घोड़ा अभी तक यही समझ रहा था कि मैं यह उपाय भी न चलने दूँगा; लेकिन जब गाड़ी चली, तो उसके पिछले पैर आप-ही-आप उठ गये। उसे ऐसा जान पड़ा, मानों पानी में बहा जा रहा हूँ। कितना ही चाहता था कि पैरों को जमा लूँ पर कुछ अक्ल काम न करती थी। चारों ओर शोर मचा—'चला-चला।' तालियाँ पड़ने लगीं। लोग ठट्ठे मार-मारकर हँसने लगे। घोड़े को यह उपहास और यह अपमान असह्य था; पर करता क्या? हाँ, उसने धैर्य न छोड़ा। मन में सोचा, इस तरह कहाँ तक ले जायँगे। ज्योंही गाड़ी रुकेगी मैं भी रुक जाऊँगा। मुझसे बड़ी भूल हुई, मुझे गाड़ी पर पैर ही न रखना चाहिए था।

अन्त में वही हुआ जो उसने सोचा था। किसी तरह लोगों ने सौ क़दम तक गाड़ी खींची, आगे न खींच सके। सौ-दो-सौ कदम ही खींचना होता, तो शायद लोगों की हिम्मत बँध जाती पर स्टेशन पूरे तीन मील पर था। इतनी दूर घोडे को खींच ले जाना दुस्तर था। ज्योंही गाड़ी रुकी घोड़ा भी रुक गया। वर ने फिर लगाम को झटके दिये, एँड़ लगायी। चाबुकों की वर्षा कर दी, पर घोडे ने अपनी टेक न छोडी। उसके नथनों से खून निकल रहा था, चाबुकों से सारा शरीर छिल गया था, पिछले पैरों में घाव हो गये थे, पर वह दृढ़-प्रतिज्ञ घोड़ा अपनी आन पर अड़ा हुआ था।

(५)

पुरोहितजी ने कहा—'आठ बज गये। मुहूर्त्त टल गया।' दीन दुर्बल घोडे ने मैदान मार लिया। मुंशीजी क्रोधोन्मत्त होकर रो पड़े। वर एक कदम भी पैदल नहीं चल सकता। विवाह के अवसर पर भूमि पर पाँव रखना वर्जित है, प्रतिष्ठा भंग होती है, निन्दा होती है, कुल को कलंक लगता है। पर अब

पैदल चलने के सिवा अन्य उपाय न था। आकर घोड़े के सामने खड़े हो गये और कुण्ठित स्वर से बोले—महाशय, अपना भाग्य बखानो कि मीर साहब के घर हो। यदि मैं तुम्हारा मालिक होता तो तुम्हारी हड्डी-पसली का भी पता न लगता। इसके साथ ही मुझे आज मालूम हुआ कि पशु भी अपने स्वत्व की रक्षा किस प्रकार कर सकता है। मैं न जानता था, तुम व्रतधारी हो। बेटा, उतरो, बारात स्टेशन पहुँच रही होगी। चलो, पैदल ही चलें। हम आपस ही के दस-बारह आदमी हैं। हँसनेवाला कोई नहीं। ये रंगीन कपड़े उतार दो। रास्ते में लोग देखेंगे तो हँसेंगे कि पाँव-पाँव ब्याह करने जाता है। चल बे अड़ियल घोड़े, तुझे मीर साहब के हवाले कर आऊँ।

पूर्व-संस्कार

(१)

सज्जनों के हिस्से में भौतिक उन्नति कभी भूल कर ही आती है। रामटहल विलासी, दुर्व्यसनी, चरित्र-हीन आदमी थे, पर सांसारिक व्यवहारों में चतुर, सूद-ब्याज के मामले में दक्ष और मुकद्दमे-अदालत में कुशल थे। उनका धन बढ़ता जाता था। सभी उनके असामी थे। उधर उन्हीं के छोटे भाई शिवटहल साधु-भक्त, धर्म-परायण और परोपकारी जीव थे। उनका धन घटता जाता था। उनके द्वार पर दो-चार अतिथि बने ही रहते थे। बड़े भाई का सारे महल्ले पर दबाव था। जितने नीच श्रेणी के आदमी थे, उनका हुक्म पाते ही फौरन उनका काम करते। उनके घर की मरम्मत बेगार में हो जाती। ऋणी कुँजड़े साग-भाजी भेंट में दे जाते। ऋणी ग्वाला उन्हें बाजार-भाव से ड्योढ़ा दूध देता। छोटे भाई को किसी पर रोष न था। साधु-सन्त आते और इच्छा-पूर्ण भोजन करके अपनी राह लेते। दो-चार आदमियों को रुपये उधार दिये भी, तो सूद के लालच से नहीं, बल्कि सङ्कट से छुड़ाने के लिए। कभी जोर देकर तगादा न करते कि कहीं उन्हें दुःख न हो।

इस तरह कई साल गुजर गये। यहाँ तक कि शिवटहल की सारी सम्पत्ति परमार्थ में उड़ गयी। रुपये भी बहुत डूब गये। उधर रामटहल ने नया मकान बनवा लिया। सोने-चाँदी की दूकान खोल ली। थोड़ी जमीन भी खरीद ली और खेती-बारी भी करने लगे।

शिवटहल को अब चिन्ता हुई। निर्वाह कैसे होगा? धन न था कि कोई रोजगार करते। वह व्यावहारिक बुद्धि भी न थी, जो बिना धन के भी अपनी राह निकाल लेती है। किसी से ऋण लेने की हिम्मत न पड़ती थी। रोजगार में घाटा हुआ, तो देंगे कहाँ से? किसी दूसरे आदमी की नौकरी भी न कर सकते थे। कुल-मर्यादा भंग होती थी। दो-चार महीने तो ज्यों-त्यों करके काटे, अन्त में चारों ओर से निराश होकर बड़े भाई के पास गये। और कहा—भैया, अब

मेरा और मेरे परिवार के पालन का भार आपके ऊपर है। आपके सिवा अब किसकी शरण लूँ।

रामटहल ने कहा—इसकी कोई चिन्ता नहीं। तुमने कुकर्म में तो धन उड़ाया नहीं। जो कुछ किया, उससे कुल-कीर्ति ही फैली है। मैं धूर्त हूँ, संसार को ठगना जानता हूँ। तुम सीधे-सादे आदमी हो। दूसरों ने तुम्हें ठग लिया। यह तुम्हारा ही घर है। मैंने जो जमीन ली है, उसकी तहसील-वसूल करो; खेती-बारी का काम सँभालो। महीने में तुम्हें जितना खर्च पड़े, मुझसे ले जाओ। हाँ, एक बात मुझसे न होगी। मैं साधु-सन्तों का सत्कार करने को एक पैसा भी न दूँगा और न तुम्हारे मुँह से अपनी निन्दा सुनूँगा।

शिवटहल ने गद्‌गद कण्ठ से कहा—भैया, मुझसे इतनी भूल अवश्य हुई है कि मैं सबसे आपकी निन्दा करता रहा हूँ, उसे क्षमा करो। अब से मुझे अपनी निन्दा करते सुनना तो जो चाहे दण्ड देना। हाँ, आपसे भी मेरी एक विनय है। मैंने अब तक अच्छा किया या बुरा, पर भाभीजी को मना कर देना कि उसके लिए मेरा तिरस्कार न करें।

रामटहल—अगर वह कभी तुम्हें ताना देंगी, तो मैं उनकी जीभ खींच लूँगा।

(२)

रामटहल की जमीन शहर से दस-बारह कोस पर थी। वहाँ एक कच्चा मकान भी था। बैल, गाड़ी, खेती की अन्य सामग्रियाँ वहीं रहती थीं। शिवटहल ने अपना घर भाई को सौंपा और अपने बाल-बच्चों को लेकर गाँव में चले गये। वहाँ उत्साह के साथ काम करने लगे। नौकरों ने काम में चौकसी की। परिश्रम का फल मिला। पहले ही साल उपज ड्योढ़ी हो गयी और खेती का खर्च आधा रह गया।

पर स्वभाव को कैसे बदलें? पहले की तरह तो नहीं, पर अब भी दो-चार मूर्तियाँ शिवटहल की कीर्ति सुनकर आ ही जाती थीं और शिवटहल को विवश होकर उनकी सेवा और सत्कार करना ही पड़ता था। हाँ अपने भाई से यह बात छिपाते थे कि कहीं वह अप्रसन्न होकर जीविका का यह आधार भी न छीन लें। फल यह होता कि उन्हें भाई से छिपाकर नाज, भूसा, खली आदि बेचना

पड़ता। इस कमी को पूरा करने के लिए वह मजदूरों से और भी कड़ी मेहनत लेते थे और खुद भी कड़ी मेहनत करते। धूप-ठण्ड, पानी-बूँदी की बिलकुल परवाह न करते थे। मगर कभी इतना परिश्रम तो किया न था। शरीर शक्तिहीन होने लगा। भोजन भी रूखा-सूखा मिलता था। उस पर कोई ठीक समय नहीं। कभी दोपहर को खाया, तो कभी तीसरे पहर। कभी प्यास लगी, तो तालाब का पानी पी लिया। दुर्बलता रोग का पूर्व रूप है। बीमार पड़ गये। देहात में दवा-दारू का सुभीता न था। भोजन में भी कुपथ्य करना पड़ता था। रोग ने जड़ पकड़ ली। ज्वर ने प्लीहा का रूप धारण किया और प्लीहा ने छः महीने में काम तमाम कर दिया।

रामटहल ने यह शोक-समाचार सुना, तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। इन तीन वर्षों में उन्हें एक पैसे का नाज नहीं लेना पड़ा था। शक्कर, गुड़, घी, भूसा-चारा, उपले, ईंधन सब गाँव से चला आता था। बहुत रोये। पछतावा हुआ कि मैंने भाई के दवा-दरपन की कोई फिक्र नहीं की; अपने स्वार्थ की चिन्ता में उसे भूल गया। लेकिन मैं क्या जानता था कि मलेरिया का ज्वर प्राण-घातक ही होगा। नहीं तो यथा-शक्ति अवश्य इलाज करता। भगवान् की यही इच्छा थी फिर मेरा क्या वश!

(२)

अब कोई खेती का सँभालनेवाला न था। इधर रामटहल को खेती का मजा मिल गया था। उस पर विलासिता ने उनका स्वास्थ्य भी नष्ट कर डाला था। अब वह देहात के स्वच्छ जलवायु में रहना चाहते थे। निश्चय किया कि खुद ही गाँव में जाकर खेती-बारी करूँ। लड़का जवान हो गया था। शहर का लेन-देन उसे सौंपा और देहात चले आये।

यहाँ उनका समय और चित्त विशेषकर गौओं की देख-भाल में लगता था। उनके पास एक जमनापारी बड़ी रास की गाय थी। उसे कई साल हुए, बड़े शौक से खरीदा था। दूध खूब देती थी, और सीधी इतनी कि बच्चा भी सींग पकड़ ले, तो न बोलती। वह इन दिनों गाभिन थी। वह उसे बहुत प्यार करते थे। शाम-सबेरे उसकी पीठ सुहलाते, अपने हाथों से नाज खिलाते। कई आदमी उसके ड्योढ़े दाम देते थे, पर रामटहल ने न बेची। जब समय पर

गऊ ने बच्चा दिया, तो रामटहल ने धूमधाम से उसका जन्मोत्सव मनाया ; कितने ही ब्राह्मणों को भोजन कराया। कई दिन तक गाना-बजाना होता रहा। इस बछड़े का नाम रखा गया 'जवाहिर'। एक ज्योतिषी से उसका जन्म-पत्र भी बनवाया गया। उसके अनुसार बछड़ा बड़ा होनहार, बड़ा भाग्यशाली, स्वामि-भक्त निकला। केवल छठे वर्ष उस पर एक सङ्कट की शङ्का थी। उससे बच गया तो फिर जीवन-पर्यन्त सुख से रहेगा।

बछड़ा श्वेत-वर्ण था। उसके माथे पर एक लाल तिलक था। आँखें कजरी थीं। स्वरूप का अत्यन्त मनोहर और हाथ-पाँव का सुडौल था। दिन-भर किलोलें किया करता। रामटहल का चित्त उसे छलाँगें भरते देखकर प्रफुल्लित हो जाता था। वह उनसे इतना हिल-मिल गया कि उनके पीछे-पीछे कुत्ते की भाँति दौड़ा करता था। जब वह शाम या सुबह को अपनी खाट पर बैठकर असामियों से बातचीत करने लगते, तो जवाहिर उनके पास खड़ा होकर उनके हाथ या पाँव को चाटता था। वह प्यार से उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगते, तो उसकी पूँछ खड़ी हो जाती और आँखें हृदय के उल्लास से चमकने लगतीं! रामटहल को भी उससे इतना स्नेह था कि जब तक वह उनके सामने चौके में न बैठा हो, भोजन में स्वाद न मिलता। वह उसे बहुधा गोद में चिपटा लिया करते। उसके लिए चाँदी का हार, रेशमी झूल, चाँदी की झाँझें बनवायीं। एक आदमी उसे नित्य नहलाता और झाड़ता-पोंछता रहता था। जब कभी वह किसी काम से दूसरे गाँवों में चले जाते तो उन्हें घोड़े पर आते देखकर जवाहिर कुलेलें मारता हुआ उनके पास पहुँच जाता और उनके पैरों को चाटने लगता।

पशु और मनुष्य में यह पिता-पुत्र-सा प्रेम देखकर लोग चकित हो जाते।

(४)

जवाहिर की अवस्था ढाई वर्ष की हुई। रामटहल ने उसे अपनी सवारी की बहली के लिए निकालने का निश्चय किया। वह अब बछड़े से बैल हो गया था। उसका ऊँचा डील, गठे हुए अङ्ग, सुदृढ मांस-पेशियाँ, गर्दन के ऊपर ऊँचा डील, चौड़ी छाती और मस्तानी चाल थी। ऐसा दर्शनीय बैल सारे इलाके में न था। बड़ी मुश्किल से उसका जोड़ा मिला। पर देखनेवाले साफ

कहते थे कि जोड़ नहीं मिला। रुपये आपने बहुत खर्च किये हैं, पर कहाँ जवाहिर और कहाँ यह! कहाँ लैंप और कहाँ दीपक!

पर कौतूहल की बात यह थी कि जवाहिर को कोई गाड़ीवान हाँकता तो वह आगे पैर न उठाता। गर्दन हिला-हिलाकर रह जाता। मगर जब रामटहल आप पगहा हाथ में ले लेते और एक बार चुमकारकर कहते—चलो बेटा, तो जवाहिर उन्मत्त होकर गाड़ी को ले उड़ता। दो-दो कोस तक बिना रुके, एक ही साँस दौड़ता चला जाता। घोड़े भी उसका मुकाबला न कर सकते।

एक दिन सन्ध्या-समय जब जवाहिर नाँद में खली और भूसा खा रहा था और रामटहल उसके पास खड़े उसकी मक्खियाँ उड़ा रहे थे, एक साधु महात्मा आकर द्वार पर खड़े हो गये। रामटहल ने अविनय-पूर्ण भाव से कहा—यहाँ क्या खड़े हो महाराज, आगे जाओ!

साधु—कुछ नहीं बाबा, इसी बैल को देख रहा हूँ। मैंने ऐसा सुन्दर बैल नहीं देखा।

रामटहल—(ध्यान देकर) घर ही का बछड़ा है।

साधु—साक्षात् देवरूप है।

यह कहकर महात्माजी जवाहिर के निकट गये और उसके खूर चूमने लगे।

रामटहल—आपका शुभागमन कहाँ से हुआ? आज यहीं विश्राम कीजिए तो बड़ी दया हो।

साधु—नहीं बाबा, क्षमा करो। मुझे आवश्यक कार्य से रेलगाड़ी पर सवार होना है। रातों-रात चला जाऊँगा। ठहरने से विलम्ब होगा।

रामटहल—तो फिर और कभी दर्शन होंगे?

साधु—हाँ, तीर्थ-यात्रा से तीन वर्ष में लौटकर इधर से फिर जाना होगा। तब आपकी इच्छा होगी तो ठहर जाऊँगा। आप बड़े भाग्यशाली पुरुष हैं कि आपको ऐसे देवरूप नन्दी की सेवा का अवसर मिल रहा है। इन्हें पशु न समझिए, यह कोई महान् आत्मा हैं। इन्हें कोई कष्ट न दीजिएगा। इन्हें कभी फूल से भी न मारिएगा।

यह कहकर साधु ने फिर जवाहिर के चरणों पर सीस नवाया और चले गये।

(५)

उस दिन से जवाहिर की और भी खातिर होने लगी। वह पशु से देवता हो गया। रामटहल उसे पहले रसोई के सब पदार्थ खिलाकर तब आप भोजन करते। प्रातःकाल उठकर उसके दर्शन करते। यहाँ तक कि वह उसे अपनी बहली में भी न जोतना चाहते। लेकिन जब उनको कहीं जाना होता और बहली बाहर निकाली जाती, तो जवाहिर उसमें जुतने के लिए इतना अधीर और उत्कण्ठित हो जाता, सिर हिला-हिलाकर इस तरह अपनी उत्सुकता प्रकट करता कि रामटहल को विवश होकर उसे जोतना पड़ता। दो-एक-बार वह दूसरी जोड़ी जोतकर चले गये तो जवाहिर को इतना दुःख हुआ कि उसने दिन भर नाँद में मुँह नहीं डाला। इसलिए वह अब बिना किसी विशेष कार्य के कहीं जाते ही न थे।

उनकी श्रद्धा देखकर गाँव के अन्य लोगों ने भी जवाहिर को अन्न-ग्रास देना शुरू किया। सुबह उसके दर्शन करने को प्रायः सभी आ जाते थे।

इस प्रकार तीन साल और बीते। जवाहिर को छठा वर्ष लगा।

रामटहल को ज्योतिषी की बात याद थी। भय हुआ, कहीं उसकी भविष्यवाणी सत्य न हो। पशु-चिकित्सा की पुस्तकें मँगाकर पढ़ीं। पशु-चिकित्सक से मिले और कई औषधियाँ लाकर रखीं। जवाहिर को टीका लगवा दिया। कहीं नौकर उसे खराब चारा या गन्दा पानी न खिला-पिला दें, इस आशंका से वह अपने हाथों से उसे खोलने-बाँधने लगे। पशुशाला का फर्श पक्का करा दिया जिसमें कोई कीड़ा-मकोड़ा न छिप सके। उसे नित्यप्रति खूब धुलवाते भी थे।

सन्ध्या हो गयी थी। रामटहल नाँद के पास खड़े जवाहिर को खिला रहे थे कि इतने में सहसा वही साधु महात्मा आ निकले जिन्होंने आज से तीन वर्ष पहले दर्शन दिये थे। रामटहल उन्हें देखते ही पहचान गये। जाकर दण्डवत की, कुशल-समाचार पूछे और उनके भोजन का प्रबन्ध करने लगे। इतने में अकस्मात् जवाहिर ने जोर से डकार ली और धम से भूमि पर गिर पड़ा। रामटहल दौड़े हुए उसके पास आये। उसकी आँखें पथरा रही थीं। उसने एक स्नेहपूर्ण दृष्टि उनपर डाली और चित हो गया।

रामटहल घबराये हुए घर से दवाएँ लाने को दौड़े। कुछ समझ में न

आया कि खड़े-खड़े इसे क्या हो गया। जब वह घर में से दवाइयाँ लेकर निकले तब जवाहिर का अन्त हो चुका था।

रामटहल शायद अपने छोटे भाई की मृत्यु पर भी इतने शोकातुर न हुए थे। वह बार-बार लोगों के रोकने पर भी दौड़-दौड़कर जवाहिर के शव के पास जाते और उससे लिपटकर रोते।

रात उन्होंने रो-रोकर काटी। उसकी सूरत आँखों से न उतरती थी। रह-रहकर हृदय में एक वेदना-सी होती और शोक से विह्वल हो जाते।

प्रातःकाल लाश उठायी गयी; किन्तु गाँव की प्रथा के अनुसार उसे चमारों के हवाले नहीं किया। यथाविधि उसकी दाह-क्रिया की, स्वयं आग दी। शास्त्रानुसार सब संस्कार किये। तेरहवें दिन कई गाँवों के ब्राह्मणों को भोजन कराया गया। उक्त साधु महात्मा को उन्होंने अब तक नहीं जाने दिया था। उनकी शान्ति देनेवाली बातों से रामटहल को बड़ी सान्त्वना मिलती थी।

(६)

एक दिन रामटहल ने साधु से पूछा—महात्माजी, कुछ समझ में नहीं आता कि जवाहिर को कौन-सा रोग हुआ था। ज्योतिषीजी ने उसके जन्म-पत्र में लिखा था कि उसका छठा साल अच्छा न होगा। लेकिन मैंने इस तरह किसी जानवर को मरते नहीं देखा। आप तो योगी हैं, यह रहस्य कुछ आप-की समझ में नहीं आता है?

साधु—हाँ, कुछ थोड़ा-थोड़ा समझता हूँ।

रामटहल—कुछ मुझे भी बताइए। चित्त को धैर्य नहीं आता।

साधु—वह उस जन्म का कोई सच्चरित्र, साधु-भक्त, परोपकारी जीव था। उसने आपनी सारी सम्पत्ति धर्म-कार्यों में उड़ा दी थी। आपके सम्बन्धियों में ऐसा कोई सज्जन था?

रामटहल—हाँ महाराज, था।

साधु—उसने तुम्हें धोखा दिया। तुमसे विश्वासघात किया। तुमने उसे अपना कोई काम सौंपा था। वह तुम्हारी आँख बचाकर तुम्हारे धन से साधु-जनों की सेवा-सत्कार किया करता था।

रामटहल—मुझे उस पर इतना सन्देह नहीं होता। वह इतना सरल प्रकृति,

लिया, आत्म-रक्षा की आवाज़ें देश में गूँजने लगीं, किन्तु मुन्शीजी की अविरल शान्ति में जरा भी विघ्न न पड़ा। अदालत और शराब के सिवाय वह संसार की सभी चीज़ों को माया समझते थे, सभी से उदासीन रहते थे।

(२)

चिराग जल चुके थे। मुन्शी मैकूलाल की सभा जम गयी थी, उपासक-गण जमा हो गये थे, अभी तक मदिरा देवी प्रकट न हुई थी। अलगू बाजार से न लौटा था। सब लोग बार-बार उत्सुक नेत्रों से ताक रहे थे। एक आदमी बरामदे में प्रतीक्षा-स्वरूप खडा था, दो-तीन सज्जन टोह लेने के लिए सड़क पर खड़े थे, लेकिन अलगू आता नजर न आता था। आज जीवन में पहला अवसर था कि मुन्शीजी को इतनी इन्तजार खींचनी पडी। उनकी प्रतीक्षा-जनित उद्विग्नता ने गहरी समाधि का रूप धारण कर लिया था, न कुछ बोलते थे, न किसी ओर देखते थे। समस्त शक्तियाँ प्रतिक्षा-बिन्दु पर केन्द्रिभूत हो गयीं।

अकस्मात् सूचना मिली कि अलगू आ रहा है। मुन्शीजी जाग पडे, सहवासीगण खिल गये, आसन बदलकर सँभल बैठे, उनकी आँखें अनुरक्त हो गयीं। आशामय विलम्ब आनन्द को और बढा देता है।

एक क्षण में अलगू आकर सामने खड़ा हो गया। मुन्शीजी ने उसे डाँटा नहीं, यह पहला अपराध था, इसका कुछ-न-कुछ कारण अवश्य होगा, दबे हुए पर उत्कण्ठायुक्त नेत्रों से अलगू के हाथ की ओर देखा। बोतल न थी। विस्मय हुआ, विश्वास न आया, फिर गौर से देखा, बोतल न थी। यह अप्राकृतिक घटना थी, इस पर उन्हें क्रोध न आया, नम्रता के साथ पूछा—बोतल कहाँ है?

अलगू—आज नहीं मिली।

मैकूलाल—यह क्यों?

अलगू—दूकान के दोनों नाके रोके हुए सुराजवाले खड़े हैं, किसी को उधर जाने ही नहीं देते।

अब मुन्शीजी को क्रोध आया, अलगू पर नहीं, स्वराज्यवालों पर। उन्हें मेरी शराब बन्द करने का क्या अधिकार है? तर्क भाव से बोले—तुमने मेरा नाम नहीं लिया?

अलगू—बहुत कहा, लेकिन वहाँ कौन किसी की सुनता था ? सभी लोग लौटे आते थे, मैं भी लौट आया।

मुन्शी—चरस लाये ?

अलगू—वहाँ भी यही हाल था।

मुन्शी—तुम मेरे नौकर हो या स्वराज्यवालों के ?

अलगू—मुँह में कालिख लगवाने के लिए थोड़े ही नौकर हूँ ?

मुन्शी—तो क्या वहाँ बदमाश लोग मुँह में कालिख भी लगा रहे हैं ?

अलगू—देखा तो नहीं, लेकिन सब यही कहते थे।

मुन्शी—अच्छी बात है, मैं खुद जाता हूँ, देखूँ किसकी मजाल है जो रोके। एक-एक को लाल घर दिखा दूँगा, यह सरकार का राज है, कोई बदमली नहीं है। वहाँ कोई पुलिस का सिपाही नहीं था ?

अलगू—थानेदार साहब आप ही खड़े सबसे कहते थे, जिसका जी चाहे जाय, शराब ले या पीये; लेकिन लोग लौटे आते थे, उनकी कोई न सुनता था।

मुन्शी—थानेदार मेरे दोस्त हैं, चलो जी ईदू, चलते हो ! रामबली, बेचन, झिनकू सब चलो। एक-एक बोतल ले लो, देखूँ कौन रोकता है। कल ही तो मजा चखा दूँगा।

(३)

मुन्शीजी अपने चारों साथियों के साथ शराबखाने की गली के सामने पहुँचे तो वहाँ बहुत भीड़ थी। बीच में दो सौम्य मूर्त्तियाँ खड़ी थीं। एक मौलाना जामिन थे जो शहर के मशहूर मुजतहिद थे, दूसरे स्वामी घनानन्द थे, जो वहाँ की सेवासमिति के स्थापक और प्रजा के बड़े हितचिन्तक थे। उनके सम्मुख ही थानेदार साहब कई कानस्टेबलों के साथ खड़े थे। मुन्शीजी और उनके साथियों को देखते ही थानेदार साहब प्रसन्न होकर बोले—आइए मुख्तार साहब, क्या आज आप ही को तकलीफ करनी पड़ी ? यह चारों आप ही के हमराह हैं न ?

मुन्शीजी बोले—जी हाँ, पहले आदमी भेजा, वह नाकाम वापस गया। सुना, आज यहाँ हरबोंग मची हुई है, स्वराज्यवाले किसी को अन्दर जाने ही नहीं देते।

थानेदार—जी नहीं, यहाँ किसकी मजाल है जो किसी के काम में हाजिर हो सके। आप शौक से जाइए। कोई चूँ तक नहीं कर सकता। आखिर मैं यहाँ किस लिए हूँ?

मुन्शीजी ने गौरवोन्मत्त दृष्टि से अपने साथियों को देखा और गली में घुसे कि इतने में मौलाना जामिन ने ईदू से बड़ी नम्रता से कहा—दोस्त, यह तो तुम्हारी नमाज का वक्त है, यहाँ कैसे आये? क्या इसी दीनदारी के बल पर खिलाफत का मसला हल करेंगे?

ईदू के पैरों में जैसे लोहे की बेड़ी पड़ गयी। लज्जित भाव से खड़ा भूमि की ओर ताकने लगा। आगे कदम रखने का साहस न हुआ।

स्वामी घनानन्द ने मुन्शीजी और उनके बाकी तीनों साथियों से कहा—बच्चा, यह पञ्चामृत लेते जाओ, तुम्हारा कल्याण होगा। भिनकू, रामबली और बेचन ने अनिवार्य भाव से हाथ फैला दिये और स्वामीजी से पञ्चामृत लेकर पी गये। मुन्शीजी ने कहा—इसे आप खुद पी जाइए। मुझे जरूरत नहीं।

स्वामीजी उनके सामने हाथ जोड़ कर खडे हो गये और विनीत भाव से बोले—इस भिक्षुक पर आज दया कीजिए, उधर न जाइए।

लेकिन मुन्शीजी ने उनका हाथ पकड़कर सामने से हटा दिया और गली में दाखिल हो गये। उनके तीनों साथी स्वामीजी के पीछे सिर झुकाये खडे रहे।

मुन्शी—रामबली, भिनकू, आते क्यों नहीं? किसकी ताकत है कि हमें रोक सके।

भिनकू—तुम हीं काहे नाहीं लौट आवत हौ। साधु-सन्तन की बात माने का होत है।

मुन्शी—तो इसी हौसले पर घर से निकले थे?

रामबली—निकले थे कि कोई जबर्दस्ती रोकेगा तो उससे समझेंगे। साधु-सन्तों से लड़ाई करने थोड़े ही चले थे।

मुन्शी—सच कहा है, गँवार भेड़ होते हैं।

बेचन—आप शेर हो जायँ, हम भेड़ ही बने रहेंगे।

मुन्शीजी अकड़ते हुए शराबखाने में दाखिल हुए। दूकान पर उदासी

छायी हुई थी, कलवार अपनी गद्दी पर बैठा ऊँघ रहा था। मुन्शीजी की आहट पाकर चौंक पड़ा, उन्हें तीव्र दृष्टि से देखा मानों यह कोई विचित्र जीव है, बोतल भर दी और फिर ऊँघने लगा।

मुन्शीजी गली के द्वार पर आये तो अपने साथियों को न पाया। बहुत-से आदमियों ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया और निन्दा-सूचक बोलियाँ बोलने लगे।

एक ने कहा—दिलावर हो तो ऐसा हो।

दूसरा बोला—शर्मचे कुत्तीस्त कि पेशे मरदा बिवाअद (मरदों के सामने लज्जा नहीं आ सकती)।

तीसरा बोला—है कोई पुराना पियक्कड़ लतिहर।

इतने में थानेदार साहब ने आकर भीड़ हटा दी। मुन्शीजी ने उन्हें धन्य-वाद दिया और घर चले। एक कानस्टेबल भी रक्षार्थ उनके साथ चला।

(४)

मुशीजी के चारों मित्रों ने बोतलें फेंक दी और आपस में बातें करते हुए चले।

झिनकू—एक बेर हमारा एक्का बेगार में पकड़ जात रहे तो यही स्वामीजी चपरासी से कह-सुन के छुडाय दिहेन रहा।

रामबली—पिछले साल जब हमारे घर मे आग लगी थी तब भी तो यही सेवा-समितिवालों को लेकर पहुँच गये थे, नहीं तो घर में एक सूत न बचता।

बेचन—मुख्तार अपने सामने किसी को गिनते ही नहीं। आदमी कोई बुरा काम करता है, तो छुपा के करता है, यह नहीं कि बेहाई पर कमर बाँध ले।

झिनकू—भाई, पीठ पीछे कोऊ की बुराई न करै चाही। और जौन कुछ होय पर आदमी बड़ा अकबाली हौ। इतने आदमियन के बीच माँ कैसा घुसत चला गया।

रामबली—यह कोई अकबाल नहीं है। थानेदार न होता तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जाता।

बेचन—मुझे तो कोई पचास रुपये देता तो भी गली में पैर न रख सकता। शर्म से सिर ही नहीं उठता था।

ईदू—इनके साथ आकर आज बड़ी मुसीबत में फँस गया। मौलाना जहाँ देखेंगे वहाँ आडे हाथों लेंगे। दीन के खिलाफ ऐसा काम क्यों करें कि शरमिन्दा होना पड़े। मैं तो आज मारे शर्म के गड़ गया। आज तोबा करता हूँ। अब इसकी तरफ आँख उठाकर भी न देखूँगा।

रामबली—शराबियों की तोबा कच्चे धागे से मजबूत नहीं होती।

ईदू—अगर फिर कभी मुझे पीते देखना तो मुँह में कालिख लगा देना।

वेचन—अच्छा तो इसी बात पर आज से मैं भी इसे छोड़ता हूँ। अब पीऊँ तो गऊ-रक्त बराबर।

झिनकू—तो का हम ही सबसे पापी हन। फिर कभू जो हमका पियत देख्यो बैठाय के पचास जूता लगायो।

रामबली—अरे जा, अभी मुन्शीजी बुलाएँगे तो कुत्ते की तरह दौड़ते हुए जाओगे।

झिनकू—मुन्शीजी के साथ बैठे देख्यो तो सौ जूता लगायो, जिसके बात में फरक है उसके बाप में फरक है।

रामबली—तो भाई, मैं भी कसम खाता हूँ कि आज से गाँठ के पैसे निकालकर न पीऊँगा। हाँ, मुफ्त की पीने में इन्कार नहीं।

वेचन—गाँठ के पैसे तुमने कभी खर्च किये हैं?

इतने में मुन्शी मैकूलाल लपके हुए आते दिखायी दिये। यद्यपि वह बाजी मारकर आये थे, पर मुख पर विजय-गर्व की जगह खिसियानापन छाया हुआ था। किसी अव्यक्त कारण-वश वह इस विजय का हार्दिक आनन्द न उठा सकते थे। हृदय के किसी कोने में छिपी हुई लज्जा उन्हें चुटकियाँ ले रही थी। वह स्वयं अज्ञात थे, पर उस दुस्साहस का खेद उन्हें व्यथित कर रहा था।

रामबली ने कहा—आइए मुख्तार साहब, बड़ी देर लगायी।

मुन्शी—तुम सब-के-सब गावदी ही निकले, एक साधु के चकमे में आ गये।

रामबली—इन लोगों ने तो आज से शराब पीने की कसम खा ली है।

मुन्शी—ऐसा तो मैंने मर्द ही नहीं देखा जो एक बार इसके चंगुल में फँसकर फिर निकल जाय। मुँह से बकना दूसरी बात है।

ईदू—जिन्दगानी रही तो देख लीजिएगा।

झिनकू—दाना-पानी तो कोऊ से नाहीं छूट सकत है और बातन का जब मनसा आवे छोड़ देब। बस चोट लग जायका चाही, नसा खाये बिना कोऊ मर नहीं जात है।

मुन्शी—देखूँगा तुम्हारी बहादुरी भी।

बेचन—देखना क्या है, छोड़ देना कोई बड़ी बात नहीं। यही न होगा कि दो-चार दिन जी सुस्त रहेगा। लड़ाई में अङ्गरेजों ने छोड दिया था जो इसे पानी की तरह पीते हैं तो हमारे लिए कोई मुश्किल काम नहीं।

यही बातें करते हुए लोग मुख्तार साहब के मकान पर आ पहुँचे।

(५)

दीवानखाने में सन्नाटा था। मुवक्किल चले गये थे। अलगू पड़ा सो रहा था। मुन्शीजी मसनद पर जा बैठे और आलमारी से ग्लास निकालने लगे। उन्हें अभी तक अपने साथियों की प्रतिज्ञा पर विश्वास न आता था। उन्हें पूरा यकीन था कि शराब की सुगन्ध और लालिमा देखते ही सभों की तोबा टूट जायगी। जहाँ मैंने जरा बढ़ावा दिया वही सब-के-सब आकर डट जायँगे और महफिल जम जायगी। जब ईदू सलाम करके चलने लगा और झिनकू ने अपना डंडा सँभाला तो मुन्शीजी ने दोनों के हाथ पकड़ लिये और बडे मृदुल शब्दों में बोले—यारो, यों साथ छोडना अच्छा नहीं। आओ ज़रा आज इसका मज़ा तो चखो, खास तौरपर अच्छी है।

ईदू—अब तो बात ठान ली, वह ठान ली।

मुन्शी—अजी आओ तो, इन बातों में क्या धरा है?

ईदू—आप ही को मुबारक रहे, मुझे जाने दीजिए।

झिनकू—हम तो भगवान् चाही तो एके नियर न जाब; जूता कौन खाय?

यह कहकर दोनों अपने-अपने हाथ छोड़ाकर चले गये। तब मुख्तार साहब ने बेचन का हाथ पकड़ा जो बरामदे से नीचे उतर रहा था। बोले—बेचन, क्या तुम भी बेवफाई करोगे?

बेचन—मैंने तो बडी कसम खायी है। जब एक बार इसे गऊ-रक्त कह चुका तो फिर इसकी ओर ताक भी नहीं सकता। कितना ही गया बीता हूँ तो

क्या गऊ-रक्त की लाज भी न रखूँगा। अब आप भी छोड़िए, कुछ दिन राम-राम कीजिए। बहुत दिन तो पीते हो गये।

यह कहकर वह भी सलाम करके चलता हुआ। अब अकेले रामबली रह गया। मुन्शीजी ने उससे शोकातुर होकर कहा—देखा रामबली, इन सभों की बेवफाई। यह लोग ऐसे ढुलमुल होंगे, मैं न जानता था। आओ आज हमीं तुम सही। दो सच्चे दोस्त ऐसे दरजनों कचलोहियों से अच्छे हैं। आओ बैठ जाओ।

रामबली—मैं तो हाजिर ही हूँ, लेकिन मैंने भी कसम खाई है कि कभी गाँठ के पैसे खर्च करके न पीऊँगा।

मुन्शी—अजी जब तक मेरे दम-में-दम है, तुम जितना चाहो पीयो, गम क्या है।

रामबली—लेकिन आप न रहे तब? ऐसा सज्जन फिर कहाँ पाऊँगा।

मुन्शी—अजी तब देखी जायगी, मैं आज मरा थोडे ही जाता हूँ।

रामबली—जिन्दगी का कोई एतबार नहीं। आप मुझसे पहले जरूर ही मरेंगे तो उस वक्त मुझे कौन रोज़ पिलायेगा। तब तो छोड़ भी न सकूँगा। इससे बेहतर यही है कि अभी से फिक्र करूँ।

मुन्शी—यार, ऐसी बातें करके दिल न छोटा करो। आओ बैठ जाओ, एक ही गिलास ले लेना।

रामबली—मुख्तार साहब, मुझे अब ज्यादा मजबूर न कीजिए। जब ईदू और झिनकू जैसे लतियों ने कसम खा ली जो औरतों के गहने बेच-बेच पी गये और निरे मूर्ख हैं, तो मैं इतना निर्लज्ज नहीं हूँ कि इसका गुलाम बना रहूँ। स्वामीजी ने मेरा सर्वनाश होने से बचाया है। उनकी आज्ञा मैं किसी तरह नहीं टाल सकता। यह कहकर रामबली भी विदा हो गया।

(६)

मुन्शीजी ने प्याला मुँह से लगाया, लेकिन दूसरा प्याला भरने के पहले उनकी मद्यातुरता गायब हो गयी थी। जीवन में यह पहला अवसर था कि उन्हें एकान्त में बैठकर दवा की भाँति शराब पीनी पड़ी। पहले तो सहवासियों पर झँझलाये। दगाबाजों को मैंने सैकड़ों रुपये खिला दिये होंगे, लेकिन आज

ज़रा-सी बात पर सब-के-सब फिरण्ट हो गये। अब मैं भूत की भाँति अकेला पड़ा हुआ हूँ; कोई हँसने-बोलनेवाला नहीं। यह तो सोहबत की चीज है, जब सोहबत का आनन्द ही न रहा तो पीकर खाट पर पड़ रहने से क्या फायदा?

मेरा आज कितना अपमान हुआ! जब गली में घुसा हूँ तो सैकड़ों ही आदमी मेरी ओर आग्नेय दृष्टि से ताक रहे थे। शराब लेकर लौटा हूँ तब तो लोगों का वश चलता तो मेरी बोटियाँ नोच खाते। थानेदार न होता तो घर तक आना मुश्किल था। यह अपमान और लोकनिन्दा किस लिए? इसलिए कि घड़ी भर बैठकर मुँह कड़वा करूँ और कलेजा जलाऊँ। कोई हँसी-चुहल करनेवाला तक नहीं।

लोग इसे कितनी त्याज्य-वस्तु समझते है इसका अनुभव मुझे आज ही हुआ, नहीं तो एक सन्यासी के ज़रा-से इशारे पर बरसों के लती पियक्कड़ यों मेरी अवहेलना न करते। बात यही है कि अन्तःकरण से सभी इसे निषिद्ध समझते हैं। जब मेरे साथ के ग्वाले, एक्केवान और कहार तक इसे त्याग सकते हैं तो क्या मैं उनसे भी गया-गुजरा हूँ? इतना अपमान सहकर, जनता की निगाह में पतित होकर, सारे शहर में बदनाम होकर, नक्कू बनकर एक क्षण के लिए सिर में सरूर पैदा कर लिया तो क्या बड़ा काम किया! कुवासना के लिए आत्मा को इतना नीचे गिराना क्या अच्छी बात है? यह चारों इस घड़ी मेरी निन्दा कर रहे होंगे, मुझे दुष्ट बना रहे होंगे, मुझे नीच समझ रहे होंगे। इन नीचों की दृष्टि में मैं नीचा हो गया। यह दुरवस्था नहीं सही जाती। आज इस वासना का अन्त कर दूँगा, अपमान का अन्त कर दूँगा।

एक क्षण में धड़ाके की आवाज़ हुई। अलगू चौंककर उठा तो देखा कि मुन्शीजी बरामदे में खड़े हैं और बोतल जमीन पर टूटी पड़ी है।

बौड़म

(१)

मुझे देवीपुर गये पाँच दिन हो चुके थे, पर ऐसा एक दिन भी न होगा कि बौड़म की चर्चा न हुई हो। मेरे पास सुबह से शाम तक गाँव के लोग बैठे रहते थे। मुझे अपनी बहुज्ञता के प्रदर्शित करने का न कभी ऐसा अवसर ही मिला था और न प्रलोभन ही। मैं बैठा-बैठा इधर-उधर की गप्पें उड़ाया करता। बड़े लाट ने गाँधी बाबा से यह कहा और गाँधी बाबा ने यह जवाब दिया। अभी आप लोग क्या देखते हैं, आगे देखियेगा क्या-क्या गुल खिलते हैं। पूरे ५० हज़ार जवान जेल जाने को तैयार बैठे हुए हैं। गाँधीजी ने आज्ञा दी है कि हिन्दुओं में छूत-छात का भेद न रहे, नहीं तो देश को और भी अदिन देखने पड़ेंगे। अस्तु! लोग मेरी बातों को तन्मय होकर सुनते। उनके मुख फूल की तरह खिल जाते। आत्माभिमान की आभा मुख पर दिखायी देती। गद्‌गद कण्ठ से कहते, अब तो महात्माजी ही का भरोसा है। न हुआ बौड़म नहीं तो आपका गला न छोड़ता। आपको खाना-पीना कठिन हो जाता। कोई उससे ऐसी बातें किया करे तो रात-की-रात बैठा रहे। मैंने एक दिन पूछा, आखिर यह बौड़म है कौन? कोई पगला है क्या? एक सज्जन ने कहा—महाशय, पगला क्या है, बस बौड़म है। घर में लाखों की सम्पत्ति है, शक्कर की एक मिल सिवान में है, दो कारखाने छपरे में हैं, तीन-तीन, चार-चार सौ के तलबवाले आदमी नौकर हैं, पर इसे देखिए फटे-हाल घूमा करता है। घरवालों ने सिवान भेज दिया था कि जाकर वहाँ निगरानी करे। दो ही महीने में मैनेजर से लड़ बैठा, उसने यहाँ लिखा, मेरा इस्तीफा लीजिए। आपका लड़का मजदूरों को सिर चढ़ाये रहता है, वे मन से काम नहीं करते। आखिर घरवालों ने बुला लिया। नौकर-चाकर लूटते-खाते हैं उसकी तो ज़रा भी चिन्ता नहीं, पर सामने आम का बाग है उसकी रात-दिन रखवाली किया करता है, क्या मजाल कि कोई एक पत्थर भी फेंक सके। एक मियाँजी

बोले—बाबूजी, घर में तरह-तरह के खाने पकते हैं, मगर इसकी तकदीर में वही रोटी और दाल लिखी हुई है और कुछ खाता ही नहीं। बाप अच्छे-से-अच्छे कपड़े खरीदते हैं, लेकिन यह उनकी तरफ निगाह तक नहीं उठाता। बस, वही मोटा कुरता पहने गाढ़े की तहमत बाँधे मारा-मारा फिरता है। आपसे उसकी सिफत कहाँ तक कहें, बस पूरा चौड़म है।

(२)

ये बातें सुनकर मुझे भी इस विचित्र व्यक्ति से मिलने की उत्कण्ठा हुई। सहसा एक आदमी ने कहा—वह देखिए, चौड़म आ रहा है। मैंने कुतूहल से उसकी ओर देखा। एक २०-२१ वर्ष का हृष्ट-पुष्ट युवक था। नंगे सिर, एक गाढ़े का कुरता पहने, गाढ़े का ढीला पाजामा पहने चला आता था! पैरों में जूते थे। पहले मेरे ही ओर आया। मैंने कहा—आइए, बैठिए। उसने मण्डली की ओर अवहेलना की दृष्टि से देखा और बोला—अभी नहीं; फिर आऊँगा। यह कहकर चला गया।

जब सन्ध्या हो गयी और सभा विसर्जित हुई तो वह आम के बाग की ओर से धीरे-धीरे आकर मेरे पास बैठ गया और बोला—इन लोगों ने तो मेरी खूब बुराइयाँ की होंगी। मुझे यहाँ चौड़म का लकब मिला है।

मैंने सकुचाते हुए कहा—हाँ, आपकी चर्चा लोग रोज़ करते थे। मेरी आपसे मिलने की बड़ी इच्छा थी। आपका नाम क्या है?

चौड़म ने कहा—नाम तो मेरा मुहम्मद खलील है, पर आस-पास के दस-पाँच गाँवों में मुझे लोग उर्फ के नाम से ज्यादा जानते हैं। मेरा उर्फ चौड़म है।

मैं—आखिर लोग आपको चौड़म क्यों कहते हैं!

खलील—उनकी खुशी और क्या कहूँ? मैं जिन्दगी को कुछ और समझता हूँ, पर मुझे इजाजत नहीं है कि पाँचों वक्त की नमाज पढ़ सकूँ। मेरे वालिद हैं। चचा हैं। दोनों साहब पहर रात से पहर रात तक काम में मसरूफ रहते हैं। रात-दिन हिसाब-किताब, नफा-नुकसान, मन्दी-तेजी के सिवाय और कोई जिक्र ही नहीं होता, गोया खुदा के बन्दे न हुए इस दौलत के बन्दे हुए। चचा साहब हैं वह पहर रात तक शीरे के पीपों के पास खड़े होकर उन्हें गाड़ी पर लदवाते हैं। वालिद साहब अक्सर अपने हाथों से शक्कर का वजन करते

हैं। दोपहर का खाना शाम को और शाम का खाना आधी रात को खाते हैं। किसी को नमाज पढने की फुर्सत नहीं। मैं कहता हूँ, आप लोग इतना सिर-मगजन क्यों करते हैं। बड़े कारबार में सारा काम एतबार पर होता है। मालिक को कुछ-न-कुछ बल खाना ही पड़ता है। अपने बल-बूते पर तो छोटे कारोबार ही चल सकते हैं। मेरा उसूल किसी को पसन्द नहीं, इसलिए मैं बौड़म हूँ।

मैं—मेरे ख्याल में तो आपका उसूल ठीक है।

खलील—जी ऐसा भूलकर भी न कहिएगा, वरना एक की जगह दो बौडम हो जायँगे। लोगों को अपने कारबार के सिवा न दीन से गरज है न दुनिया से। न मुल्क से, न कौम से। मैं एक अखबार मँगाता हूँ, स्मर्ना फण्ड में कुछ रुपये भेजना चाहता हूँ। खिलाफत-फण्ड को मदद करना भी अपना फर्ज समझता हूँ। सबसे बड़ा सितम यह है कि खिलाफत का रजाकार भी हूँ। क्यों साहब, जब क़ौम पर, मुल्क पर और दीन पर चारों तरफ से दुश्मनों का हमला हो रहा है तो क्या मेरा फर्ज नहीं है कि जाती फायदे को क़ौम पर क़ुर्बान कर दूँ? इसी लिए घर और बाहर मुझे बौड़म का लकब दिया गया है।

मैं—आप तो वही कर रहे हैं जिसकी इस वक्त क़ौम को ज़रूरत है।

खलील—मुझे खौफ है कि इस चौपट नगरी से आप बदनाम होकर जायँगे। जब मेरे हजारों भाई जेल में पड़े हुए हैं, उन्हें गजी-गाढा तक पहनने को मयस्सर नहीं तो मेरी गैरत गवारा नहीं करती कि मैं मीठे लुक़मे उड़ाऊँ और चिकन के कुर्त्ते पहनूँ, जिनकी कलाइयों और मेढों पर सीजनकारी की गयी है।

मैं—आप यह बहुत ही मुनासिब करते हैं। अफसोस है कि और लोग आपका-सा त्याग करने के काबिल नहीं।

खलील—मैं इसे त्याग नहीं समझता, न दुनिया को दिखाने के लिए यह भेष बनाये घूमता हूँ। मेरा जी ही लज्जत और शौक़ से फिर गया है। थोड़े दिन होते हैं वालिद ने मुझे सिवान के मिल के निगरानी के लिए भेजा, मैंने वहाँ जाकर देखा तो इञ्जीनियर साहब के खानसामें, बैरे, मेहतर, धोबी, माली, चौकीदार, सभी मजदूरों की जैल के लिखे हुए थे। काम साहब का करते थे, मजदूरी कारखाने से पाते थे। साहब बहादुर खुद तो बे-उसूल हैं, पर मजदूरों पर इतनी सख्ती थी कि अगर पाँच मिनट की देर हो जाय तो उनकी आधे

दिन की मजदूरी कट जाती थी। मैंने साहब की मिजाज-पुरसी करनी चाही। मजदूरों के साथ रियायत करनी शुरू की। फिर क्या था! साहब बिगड़ गये; इस्तीफे की धमकी दी। घरवालों को उनके सब हालात मालूम हैं। पल्ले दरजे का हरामकार आदमी है। लेकिन उसकी धमकी पाते ही सबके होश उड़ गये। मैं तार से वापस बुला लिया गया और घर पर मेरी खूब ले-दे हुई। पहले चौडम होने में कुछ कोर-क़सर थी, वह पूरी हो गयी। न जाने साहब से लोग क्यों इतना डरते हैं!

मैं—आपने वही किया जो इस हालत में मैं करता। बल्कि मैं तो पहले साहब पर गबन का मुक़दमा दायर करता, बदमाशों से पिटवाता, तब बात करता। ऐसे हरामकारों की यही सजाएँ हैं।

खलील—फिर तो एक और एक दो हो गये। अफ़सोस यही है कि आपका यहाँ कयाम न रहेगा। मेरा जी चाहता है, कि चन्द रोज़ आपके साथ रहूँ। मुद्दत के बाद आप ऐसे आदमी मिले हैं जिससे मैं अपने दिल की बातें कह सकता हूँ। इन गँवारों से मैं बोलता भी नहीं। मेरे चाचा साहब को जवानी में एक चमारिन से ताल्लुक हो गया था। उससे दो बच्चे, और एक लड़की पैदा हुए। चमारिन लडकी को गोद में छोड़कर मर गयी। तब से इन दोनों बच्चों की मेरे यहाँ वही हालत थी जो यतीमों की होती है। कोई बात न पूछता था। उनको खाने-पहनने को भी न मिलता। बेचारे नौकरों के साथ खाते और बाहर झोपडे में पडे रहते थे। जनाब, मुझसे यह न देखा गया। मैंने उन्हें अपने दस्तरखान पर खिलाया और अब भी खिलाता हूँ। घर मे कुहराम मच गया। जिसे देखिए मुझ पर त्यौरियाँ बदल रहा है, मगर मैंने परवाह न की। आखिर वह भी तो है हमारा ही खून। इसलिए मैं चौड़म कहलाता हूँ।

मैं—जो लोग आपको चौड़म कहते हैं, वे खुद चौड़म हैं।

खलील—जनाब, इनके साथ रहना अजाब है। शाहे काबुल ने कुर्बानी की मुमानियत कर दी है। हिन्दुस्तान के उलमा ने भी यही फतवा दिया है, पर यहाँ खास मेरे घर कुर्बानी हुई। मैंने हरचन्द वाबेला मचाया, पर मेरी कौन सुनता है! उसका कफारा (प्रायश्चित) मैंने अदा किया कि अपनी सवारी का घोड़ा बेचकर २०० फकीरों, को खाना खिलाया और तब से कसाइयों को गायें लिये

जाते देखता हूँ तो कीमत देकर खरीद लेता हूँ, इस वक्त तक दस गायों की जान बचा चुका हूँ। वे सब यहाँ हिन्दुओं के घरों में हैं, पर मज़ा यह है कि जिन्हें मैंने गायें दी हैं, वे भी मुझे बौड़म कहते हैं। मैं भी इस नाम का इतना आदी हो गया हूँ कि अब मुझे इससे मुहब्बत हो गयी है!

मैं—आप ऐसे बौड़म काश मुल्क में और ज्यादा होते।

खलील—लीजिए आपने भी बनाना शुरू कर दिया। यह देखिए आम का बाग है। मैं उसकी रखवाली करता हूँ। लोग कहते हैं जहाँ हजारों का नुकसान हो रहा है वहाँ तो देख-भाल करता नहीं, ज़रा-सी बगिया की रखवाली में इतना मुस्तैद। जनाब, यहाँ लड़कों का यह हाल है कि एक आम तो खाते हैं और पचीस आम गिराते हैं। कितने ही पेड़ चोट खा जाते हैं और फिर किसी काम के नहीं रहते। मैं चाहता हूँ कि आम पक जायँ, टपकने लगें, तब जिसका जी चाहे चुन ले जाय। कच्चे आम खराब करने से क्या फायदा? यह भी मेरे बौड़मपने में दाखिल है।

(३)

ये बातें हो ही रही थीं कि सहसा तीन-चार आदमी एक बनिये को पकड़े, घसीटते हुए आते दिखाई दिये। पूछा तो उन चारों आदमियों में एक ने, जो सूरत से मौलवी मालूम होते थे, कहा—यह बड़ा बेईमान है, इसके बाँट कम हैं। अभी इसके यहाँ से सेर-भर घी ले गया हूँ। घर पर तौलता हूँ तो आध पाव गायब। अब जो लौटाने आया हूँ तो कहता है मैंने तो पूरा तौला था। पूछो अगर तूने पूरा तौला था तो क्या मैं रास्ते में खा गया। अब ले चलता हूँ थाने पर, वहीं इसकी मरम्मत होगी।

दूसरे महाशय, जो वहाँ डाकखाने के मुन्शी थे, बोले—इसकी हमेशा की यही आदत है, कभी पूरा नहीं तौलता। आज ही दो आने की शक्कर मँगवायी। लड़का घर लेकर गया तो मुश्किल से एक आने की थी। लौटाने आया तो आँखें दिखाने लगा। उसके बाँटों की आज जरूर जाँच करानी चाहिए।

तीसरा आदमी अहीर था। अपने सिर पर से खली की गठरी उतारकर बोला—साहब, यह ||) की खली है। ६ सेर के भाव से दी थी। घर पर तौला तो २ सेर हुई। लाया कि लौटा दूँगा, पर यह लेता ही नहीं। अब इसका निपटारा

थाने ही में होगा। इस पर कई आदमियों ने कहा—यह सचमुच बेईमान आदमी है।

'बनिये ने कहा—अगर मेरे बाँट रत्ती-भर कम निकलें तो हजार रुपये डाँड़ दूँ।

मौलवी साहब ने कहा—तो कम्बख्त, तू टाँकी मारता होगा।

मुन्शीजी बोले—टाँकी मार देता है, यही बात है।

अहीर ने कहा—दोहरे बाँट रखे हैं। दिखाने के और बेचने के और। इसके घर की पुलिस तलाशी ले।

बनिये ने फिर प्रतिवाद किया, पकड़नेवालों ने फिर आक्रमण किया, इसी तरह कोई आध घण्टा तक तकरार होती रही। मेरी समझ में न आता था कि क्या करूँ। बनिये को छुड़ाने के लिए जोर दूँ या जाने दूँ। बनिये से सभी जले हुए मालूम होते थे। खलील को देखा तो गायब ! न जाने कब उठकर चला गया ! बनिया किसी तरह न दबता था, यहाँ तक कि थाने जाने से भी न डरता था।

(४)

ये लोग थाने जाना ही चाहते थे कि चौड़म सामने से आता दिखायी दिया। उसके एक हाथ में एक कटोरा था, दूसरे हाथ में एक टोकरी और पीछे एक ७-८ बरस का लड़का। उसने आते ही मौलवी साहब से कहा—यह कटोरा आप ही का है काजीजी ?

मौलवी—(चौंककर) हाँ है तो, फिर ? तुम मेरे घर से इसे क्यों लाये ?

चौड़म—इसलिए कि कटोरे में वही आध पाव घी है जिसके विषय में आप कहते हैं कि बनिये ने कम तौला। घी वही है। वजन वही है। बेईमानी गरीब बनिये की नहीं है, बल्कि काजी हाजी मौलवी जहूर अहमद की।

मौलवी—तुम अपना चौड़मपना यहाँ न दिखाना, नहीं तो मैं किसी से डरनेवाला नहीं हूँ। तुम लखपती होगे तो अपने घर के होगे। तुम्हें क्या मजाल था मेरे घर में जाने का !

चौड़म—वही जो आपको बनिये को थाने में ले जाने का है। अब यह घी भी थाने जायगा।

मौलवी—(सिटपिटाकर) सबके घर में थोड़ी-बहुत चीज रखी ही रहती

है। कसम कुरान शरीफ की, मैं अभी तुम्हारे वालिद के पास जाता हूँ, आज तक गाँव-भर में किसी ने मुझ पर ऐसा इलजाम नहीं लगाया था।

बनिया—मौलवी साहब, आप जाते कहाँ हैं? चलिए हमारा-आपका फैसला थाने में होगा। मैं एक न मानूँगा। कहलाने को मौलवी, दीनदार, ऐसे बनते हैं कि देवता ही हैं। पर घर में चीज रखकर दूसरों को बेईमान बनाते हैं। यह लम्बी दाढी धोखा देने के लिए बढायी है?

मगर मौलवी साहब न रुके। बनिये को छोड़कर खलील के बाप के पास चले गये, जो इस वक्त शर्म से बचने का महज बहाना था।

तब खलील ने अहीर से कहा—क्यों बे, तू भी थाने जा रहा है? चल मैं भी चलता हूँ। तेरे घर से यह सेर-भर खली लेता आया हूँ।

अहीर ने मौलवी साहब की दुर्गति देखी तो चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं, बोला—भैया जवानी की कसम है, मुझे मौलवी साहब ने सिखा दिया था।

खलील—दूसरों के सिखाने से तुम किसी के घर में आग लगा दोगे? खुद तो बचा दूध में आधा पानी मिला-मिलाकर बेचते हो, मगर आज तुमको इतनी मुटमर्दी सवार हो गयी कि एक भले आदमी को तबाह करने पर अमादा हो गये। खली उठाकर घर में रख ली, उस पर बनिये से कहते हो कि कम तौला।

बनिया—भैया, मेरी लाख रुपये की इज्जत बिगड़ गयी। मैं थाने रपट किए बिना न मानूँगा।

अहीर—साहजी, अबकी माफ करो, नहीं तो कहीं का न रहूँगा।

तब खलील ने मुन्शीजी से कहा—कहिए जनाब, आपकी कलई खोलूँ या चुपके से घर की राह लीजिएगा।

मुन्शीजी—तुम बेचारे मेरी कलई क्या खोलोगे। मुझे भी अहीर समझ लिया है कि जो तुम्हारी झपकियों में आऊँगा?

खलील—(लड़के से) क्यों बेटा, तुम शक्कर लेकर सीधे घर चले गये थे।

लड़का—(मुन्शीजी को सशङ्क नेत्रों से देखकर) बताऊँगा।

मुन्शी—लड़कों को जैसा सिखा दोगे वैसा कहेंगे।

खलील—बेटा, अभी तुमने मुझसे जो कहा था, वही फिर कह दो।

लड़का—दादा मारेंगे।

मुन्शी—क्या तूने रास्ते में शक्कर फाँक ली थी?

लड़का रोने लगा।

खलील—जी हाँ, इसने मुझसे खुद कहा; पर आपने उसे तो पूछा नहीं, बनिये के सिर हो गये। यही शराफत है।

मुन्शी—मुझे क्या मालूम था कि उसने रास्ते में यह शरारत की?

खलील—तो ऐसे कमजोर सबूत पर आप थाने क्योंकर चले थे। आप गवारों को मनीआर्डर के रुपये देते हैं तो दस रुपये पर दो आने अपनी दस्तूरी काट लेते हैं। टके के पोस्टकार्ड आने में बेचते हैं, जब कहिए तब साबित कर दूँ। उसे क्या आप बेईमानी नहीं समझते?

मुन्शीजी ने बौड़म के मुँह लगना मुनासिब न समझा। लड़के को मारते हुए घर ले गये। बनिये ने बौड़म को खूब आशीर्वाद दिया। दर्शक लोग भी धीरे-धीरे चले गये। तब मैंने खलील से कहा—आपने इस बनिये की जान बचा ली नहीं तो बेचारा बेगुनाह पुलिस के पंजे में फँस जाता।

खलील—आप जानते हैं कि मुझे क्या सिला (इनाम) मिलेगा। थानेदार मेरे दुश्मन हो जायँगे। कहेंगे यह मेरे शिकारों को भगा दिया करता है। वालिद साहब पुलिस से थर-थर काँपते हैं। मुझे आड़े हाथों लेंगे कि तू दूसरों के बीच में क्यों दखल देता है? यहाँ यह भी बौड़मपन में दाखिल है। एक बनिये के पीछे मुझे भले आदमियों की कलई खोलनी मुनासिब न थी। ऐसी हरकत बौड़म लोग किया करते हैं।

मैंने श्रद्धापूर्ण शब्दों में कहा—अब मैं आपको इसी नाम से पुकारूँगा। आज मुझे मालूम हुआ कि बौडम देवताओं को कहा जाता है। जो स्वार्थ पर आत्मा की भेंट कर देता है वह चतुर है, बुद्धिमान है। जो आत्मा के सामने सच्चे सिद्धान्त के सामने, सत्य के सामने, स्वार्थ की, निन्दा की परवाह नहीं करता वह बौडम है, निर्बुद्धि है।

—:-०-:—

गुप्त धन

(१)

बाबू हरिदास का ईंटों का पजावा शहर से मिला हुआ था। आसपास देहातों से सैकड़ों स्त्री-पुरुष, लड़के नित्य आते और पजावे से ईंटें सिर उठाकर ऊपर कतारों में सजाते। एक आदमी पजावे के पास एक टोकरी कौड़ियाँ लिये बैठा रहता था। मजदूरों को ईंटों की संख्या के हिसाब से कौड़ि बाँटता। ईंटें जितनी ही ज्यादा होतीं उतनी ही ज्यादा कौड़ियाँ मिलतीं। लोभ में बहुत से मज़दूर बूते के बाहर काम करते। वृद्धों और बालकों को ईंटों बोझ से अकड़े हुए देखना बहुत करुणाजनक दृश्य था। कभी-कभी बाबू ह दास स्वयं आकर कौडीवाले के पास बैठ जाते और मजूदरों को और ईंटें ला को प्रोत्साहित करते। यह दृश्य तब और भी दारुण हो जाता था जब ईंटों कोई असाधारण आवश्यकता आ पडती। उसमें मजूरी दूनी कर दी जाती और मजूर लोग अपनी सामर्थ्य से दूनी ईंटे लेकर चलते। एक-एक उठना कठिन हो जाता। उन्हें सिर से पैर तक पसीने में डूबे, पजावे की र चढाये, ईंटों का एक पहाड़ सिर पर रखे, बोझ से दबे देखकर ऐसा जान प था मानों लोभ का भूत उन्हें जमीन पर पटककर उनके सिर पर सवार हो ग है। सबसे करुण दशा एक छोटे लडके की थी जो सदैव अपनी अवस्थ लडकों से दुगुनी ईंटें उठाता और सारे दिन अविश्रान्त परिश्रम और धैर साथ अपने काम में लगा रहता। उसके मुख पर ऐसी दीनता छायी रहती उसका शरीर इतना कृश और दुर्बल था कि उसे देखकर दया आ जाती और लड़के बनिये की दुकान से गुड लाकर खाते, कोई सड़क पर से जाने इक्कों और हवागाड़ियों की बहार देखता और कोई व्यक्तिगत संग्राम अपनी जिह्वा और बाहु के जौहर दिखाता, लेकिन इस गरीब लड़के को अ काम से काम था। उसमें लड़कपन की न चचलता थी, न शरारत खिलाड़ीपन, यहाँ तक कि उसके ओठों पर कभी हँसी भी न आती थी।

हरिदास को उसकी दशा पर दया आती। कभी-कभी कौड़ीवाले को इशारा करते कि उसे हिसाब से अधिक कौड़ियाँ दे दो। कभी-कभी वे उसे कुछ खाने को दे देते।

एक दिन उन्होंने उस लड़के को बुलाकर अपने पास बैठाया और उसके समाचार पूछने लगे। ज्ञात हुआ कि उसका घर पास ही के गाँव में है। घर में एक वृद्धा माता के सिवा कोई नहीं है और वह वृद्धा भी किसी पुराने रोग से ग्रस्त रहती है। घर का सारा भार इसी लड़के के सिर था। कोई उसे रोटियाँ बनाकर देनेवाला भी न था। शाम को घर जाता तो अपने हाथों से रोटियाँ बनाता और अपनी माँ को खिलाता था। जाति का ठाकुर था। किसी समय उसका कुल धन्य-धान्य-सम्पन्न था। लेन-देन होता था और शक्कर का कारखाना चलता था। कुछ जमीन भी थी, किन्तु भाइयों की स्पर्धा और विद्वेष ने उसे इतनी हीनावस्था को पहुँचा दिया कि अब रोटियों के लाले थे। लड़के का नाम मगनसिंह था। हरिदास ने पूछा—गाँववाले तुम्हारी कुछ मदद नहीं करते?

मगन—वाह, उनका वश चले तो मुझे मार डालें। सब समझते हैं कि मेरे घर में रुपये गड़े हैं।

हरिदास ने उत्सुकता से पूछा—पुराना घराना है, कुछ-न-कुछ तो होगा ही। तुम्हारी माँ ने इस विषय में तुमसे कुछ नहीं कहा?

मगन—बाबूजी, कहीं एक पैसा भी नहीं। रुपये होते तो अम्मा इतनी तकलीफ क्यों उठाती।

(२)

बाबू हरिदास मगनसिंह से इतने प्रसन्न हुए कि उसे मजूरों की श्रेणी से उठाकर अपने नौकरों में रख लिया। उसे कौड़ियाँ बाँटने का काम दिया और पजावे में मुन्शीजी को ताकीद कर दी कि इसे कुछ पढ़ना-लिखना सिखाइए। अनाथ के भाग्य जाग उठे।

मगनसिंह बड़ा कर्त्तव्यशील और चतुर लड़का था। उसे कभी देर न होती, कभी नागा न होता। थोड़े ही दिनों में उसने बाबू साहब का विश्वास प्राप्त कर लिया। लिखने-पढ़ने में भी कुशल हो गया।

बरसात के दिन थे। पजावे में पानी भरा हुआ था। कारबार बन्द था। मगनसिंह तीन दिनों से गैरहाजिर था। हरिदास को चिन्ता हुई, क्या बात है, कहीं बीमार तो नहीं हो गया, कोई दुर्घटना तो नहीं हो गयी? कई आदमियों से पूछताछ की, पर कुछ पता न चला। चौथे दिन पूछते-पूछते मगनसिंह के घर पहुँचे। घर क्या था पुरानी समृद्धि शेषमात्र था। उनकी आवाज सुनते ही मगनसिंह बाहर निकल आया। हरिदास ने पूछा—कई दिन से आये क्यों नहीं, माता का क्या हाल है?

मगनसिंह ने अवरुद्ध कण्ठ से उत्तर दिया—अम्मा आजकल बहुत बीमार हैं, कहती हैं अब न बचूँगी। कई बार आपको बुलाने के लिए मुझसे कह चुकी हैं, पर मैं सङ्कोच के मारे आपके पास न आता था। अब आप सौभाग्य से आ गये हैं तो ज़रा चलकर उन्हें देख लीजिए। उनकी लालसा भी पूरी हो जाय।

हरिदास भीतर गये। सारा घर भौतिक निस्सारता का परिचायक था। सुर्खी, कङ्कड़, ईंटों के ढेर चारों ओर पड़े हुए थे। विनाश का प्रत्यक्ष स्वरूप था। केवल दो कोठरियाँ गुजर करने लायक थीं। मगनसिंह ने एक कोठरी की ओर उन्हें इशारे से बताया। हरिदास भीतर गये, तो देखा कि वृद्धा एक सड़े हुए काठ के टुकड़े पर पड़ी कराह रही है।

उनकी आहट ही पाते आँखें खोलीं और अनुमान से पहचान गयी, बोली—आप आ गये, बड़ी दया की। आपके दर्शनों की बडी अभिलाषा थी। मेरे अनाथ बालक के नाथ आप ही हैं। जैसे आपने अबतक उसकी रक्षा की है, वही निगाह उस पर सदैव बनाये रखिएगा। मेरी विपत्ति के दिन पूरे हो गये। इस मिट्टी को पार लगा दीजिएगा। एक दिन इस घर में लक्ष्मी का वास था। अदिन आये तो उन्होंने भी आँखें फेर लीं। पुरुषाओं ने इसी दिन के लिए कुछ थाती धरती माता को सौंप दी थी। उसका बीजक बड़े यत्न से रखा था, पर बहुत दिनों से उसका कहीं पता न चलता था। मगन के पिता ने बहुत खोजा, पर न पा सके, नहीं तो हमारी दशा इतनी हीन न होती। आज तीन दिन हुए मुझे वह बीजक आप-ही-आप रद्दी कागजों में मिल गया। तब से उसे छिपाकर रखे हुए हूँ, मगन बाहर है न? मेरे सिरहाने जो सन्दूक रखी

है, उसी में वह बीजक है। उसमें सब बातें लिखी हैं। उसी से ठिकाने का भी पता चलेगा। अवसर मिले तो उसे खुलवा डालिएगा। मगन को दे दीजिएगा। यही कहने के लिए आपको बार-बार बुलवाती थी। आपके सिवा मुझे किसी पर विश्वास न था। संसार से धर्म उठ गया। किसकी नीयत पर भरोसा किया जाय।

(३)

हरिदास ने बीजक का समाचार किसी से न कहा। नियत बिगड़ गयी। दूध में मक्खी पड़ गयी। बीजक से ज्ञात हुआ कि धन उस घर से ५०० डग पश्चिम की ओर एक मन्दिर के चबूतरे के नीचे है।

हरिदास धन को भोगना चाहते थे, पर इस तरह कि किसी को कानोंकान खबर न हो। काम कष्ट-साध्य था। नाम पर धब्बा लगने की प्रबल आशंका थी जो संसार में सबसे बड़ी यन्त्रणा है। कितनी घोर नीचता थी। जिस अनाथ की रक्षा की, जिसे बच्चे की भाँति पाला, उसके साथ विश्वासघात! कई दिनों तक आत्म-वेदना की पीड़ा सहते रहे। अन्त को कुतर्कों ने विवेक को परास्त कर दिया। मैंने कभी धर्म का परित्याग नहीं किया और न कभी करूँगा। क्या कोई ऐसा प्राणी भी है जो जीवन में एक बार भी विचलित न हुआ हो। यदि है तो वह मनुष्य नहीं, देवता है। मैं मनुष्य हूँ। मुझे देवताओं की पंक्ति में बैठने का दावा नहीं है।

मन को समझाना बच्चे को फुसलाना है। हरिदास साँझ को सैर करने के लिए घर से निकल जाते। जब चारों ओर सन्नाटा छा जाता तो मन्दिर के चबूतरे पर आ बैठते और एक कुदाली से उसे खोदते। दिन में दो-एक बार इधर-उधर ताक-झाँक करते कि कोई चबूतरे के पास खड़ा तो नहीं है। रात को निस्तब्धता में उन्हें अकेले बैठे ईंटों को हटाते हुए उतना ही भय होता था जितना किसी भ्रष्ट वैष्णव को आमिष-भोजन से होता है।

चबूतरा लम्बा-चौड़ा था। उसे खोदते एक महीना लग गया और अभी आधी मंजिल भी तय न हुई। इन दिनों उनकी दशा उस पुरुष की-सी थी जो कोई मन्त्र जगा रहा हो। चित्त पर चंचलता छायी रहती। आँखों की ज्योति तीव्र हो गयी थी। बहुत गुम-सुम रहते, मानों ध्यान में हैं। किसी से बातचीत

न करते, अगर कोई छेड़कर बात करता तो झुँझला पड़ते। पजावे की ओर बहुत कम जाते। विचारशील पुरुष थे। आत्मा बार-बार इस कुटिल व्यापार से भागती, निश्चय करते कि अब चबूतरे की ओर न जाऊँगा, पर सन्ध्या होते ही उन पर एक नशा-सा छा जाता, बुद्धि-विवेक का अपहरण हो जाता। जैसे कुत्ता मार खाकर थोड़ी देर के बाद फिर टुकड़े की लालच में आ बैठता है, वही दशा उनकी थी। यहाँ तक कि दूसरा मास भी व्यतीत हुआ।

अमावस की रात थी। हरिदास मलिन हृदय में बैठी हुई कालिमा की भाँति चबूतरे पर बैठे हुए थे। आज चबूतरा खुद जायगा। ज़रा देर तक और मेहनत करनी पड़ेगी। कोई चिन्ता नहीं। घर के लोग चिन्तित हो रहे होंगे। पर अभी निश्चय हुआ जाता है कि चबूतरे के नीचे क्या है। पत्थर का तहखाना निकल आया तो समझ जाऊँगा कि धन अवश्य होगा। तहखाना न मिले तो मालूम हो जायगा कि सब धोखा-ही-धोखा है। कहीं सचमुच तहखाना न मिले तो बड़ी दिल्लगी हो। मुफ्त में उल्लू बनूँ। पर नहीं कुदाली खट-खट बोल रही है। हाँ, पत्थर की चट्टान है। उन्होंने टटोलकर देखा। भ्रम दूर हो गया। चट्टान थी। तहखाना मिल गया, लेकिन हरिदास खुशी से उछले-कूदे नहीं।

आज वह लौटे तो सिर में दर्द था। समझे थकन है। लेकिन यह थकन नींद से न गयी। रात को ही उन्हें जोर का बुखार हो गया। तीन दिन तक वे ज्वर में पड़े रहे। किसी दवा से फायदा न हुआ।

इस रुग्णावस्था में हरिदास को बार-बार भ्रम होता था—कहीं यह मेरी तृष्णा का दण्ड तो नहीं है। जी में आता था, मगनसिंह को बीजक दे दूँ और क्षमा की याचना करूँ; पर भण्डाफोड़ होने का भय मुँह बन्द कर देता था। न जाने ईसा के अनुयायी अपने पादरियों के सम्मुख कैसे अपने जीवन-भर के पापों की कथा सुनाया करते थे।

(४)

हरिदास की मृत्यु के पीछे वह बीजक उनके सुपुत्र प्रभुदास के हाथ लगा। बीजक मगनसिंह के पुरुषाओं का लिखा हुआ है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह न था। लेकिन उन्होंने सोचा—पिताजी ने कुछ सोचकर ही इस मार्ग पर पग रखा होगा। वे कितने नीतिपरायण, कितने सत्यवादी पुरुष थे। उनकी

नीयत पर कभी किसी को सन्देह नहीं हुआ। जब इन्होंने इस आचार को घृणित नहीं समझा तो मेरी क्या गिनती है। कहीं यह धन हाथ आ जाय तो कितने सुख से जीवन व्यतीत हो। शहर के रईसों को दिखा दूँ कि धन का सदुपयोग क्यों कर होना चाहिए। बड़े-बड़े का सिर नीचा कर दूँ। कोई आँखें न मिला सके। इरादा पक्का हो गया।

शाम होते ही वे घर से बाहर निकले। वही समय था, वही चौकन्नी आँखें थीं और वही तेज कुदाली थी। ऐसा ज्ञात होता था मानों हरिदास की आत्मा इस नये भेष में अपना काम कर रही है।

चबूतरे का धरातल पहले ही खुद चुका था। अब सङ्गीन तहखाना था, जोड़ों को हटाना कठिन था। पुराने जमाने का पक्का मसाला था, कुल्हाड़ी उचट-उचट कर लौट आती थी। कई दिनों में ऊपर की दरारें खुलीं, लेकिन चट्टानें ज़रा भी न हिलीं। तब वह लोहे की छड़ से काम लेने लगे, लेकिन कई दिनों तक जोर लगाने पर भी चट्टानें न खिसकीं। सब कुछ अपने ही हाथों करना था। किसी से सहायता न मिल सकती थी। यहाँ तक कि फिर वही अमावस्या की रात आयी। प्रभुदास को जोर लगाते बारह बज गये और चट्टानें भाग्य-रेखाओं की भाँति अटल थीं।

पर, आज इस समस्या को हल करना आवश्यक था। कहीं तहखाने पर किसी की निगाह पड़ जाय तो मेरे मन की लालसा मन ही में रह जाय।

वह चट्टान पर बैठ कर सोचने लगे—क्या करूँ, बुद्धि कुछ काम नहीं करती। सहसा उन्हें एक युक्ति सूझी, क्यों न बारूद से काम लूँ? इतने अधीर हो रहे थे कि कल पर इस काम को न छोड़ सके। सीधे बाजार की तरफ चले, दो मील का रास्ता हवा की तरह तय किया। पर वहाँ पहुँचे तो दूकानें बन्द हो चुकी थीं। आतिशबाज हीले करने लगा। बारूद इस समय नहीं मिल सकती। सरकारी हुक्म नहीं है। तुम कौन हो? इस वक्त बारूद लेकर क्या करोगे? ना भैया, कोई वारदात हो जाय तो मुफ्त में बँधा-बँधा फिरूँ, तुम्हें कौन पूछेगा?

प्रभुदास की शान्त वृत्ति कभी इतनी कठिन परीक्षा में न पड़ी थी। वे अन्त तक अनुनय-विनय ही करते रहे, यहाँ तक कि मुद्राओं की सुरीली झंकार ने उसे वशीभूत कर लिया। प्रभुदास यहाँ से चले तो धरती पर पाँव न पड़ते थे।

रात को दो बजे थे। प्रभुदास मन्दिर के पास पहुँचे। चट्टानों की दरारों में बारूद रख कर पलीता लगा दिया और दूर भागे। एक क्षण में बड़े ज़ोर का धमाका हुआ। चट्टान उड़ गयी। अन्धेरा गार सामने था, मानों कोई पिशाच उन्हें निगल जाने के लिए मुँह खोले हुए है।

(५)

प्रभात का समय था। प्रभुदास अपने कमरे में लेटे हुए थे। सामने लोहे के सन्दूक में दस हजार पुरानी मोहरें रखी हुई थीं। उनकी माता सरहाने बैठी पखा झल रही थीं। प्रभुदास ज्वर की ज्वाला से जल रहे थे। करवटें बदलते थे, कराहते थे, हाँथ-पाँव पटकते थे, पर आँखें लोहे की सन्दूक की ओर लगी हुई थीं। इसी में उनके जीवन की आशाएँ बन्द थीं।

मगनसिंह अब पजावे का मुन्शी था। इसी घर में रहता था। आकर बोला—पजावे चलियेगा? गाडी तैयार कराऊँ?

प्रभुदास ने उसके मुख की ओर क्षमा-याचना की दृष्टि से देखा और बोले—नहीं, मैं आज न चलूँगा, तबीयत अच्छी नहीं है। तुम भी मत जाओ।

मगनसिंह उनकी दशा देखकर डाक्टर को बुलाने चला।

दस, बजते-बजते प्रभुदास का मुख पीला पड़ गया। आँखें लाल हो गयीं। माता ने उनकी ओर देखा तो शोक से विह्वल हो गयी। बाबू हरिदास की अन्तिम दशा उसकी आँखों में फिर गयी। जान पड़ता था, यह उसी शोक घटना की पुनरावृत्ति है। वह देवताओं को मनौतियाँ मना रही थी, किन्तु प्रभुदास की आँखें उसी लोहे के सन्दूक की ओर लगी हुई थीं, जिस पर उन्होंने अपनी आत्मा अर्पण कर दी थी।

उनकी स्त्री आकर उनके पैताने बैठ गयी और बिलख-बिलखकर रोने लगी। प्रभुदास की आँखों से भी आँसू बह रहे थे, पर वे आँखें उसी लोहे के सन्दूक की ओर निराशा-पूर्ण भाव से देख रही थीं।

डाक्टर ने आकर देखा, दवा दी और चला गया, पर दवा का असर उल्टा हुआ। प्रभुदास के हाथ-पाँव सर्द हो गये, मुख निस्तेज हो गया, हृदय की गति मन्द पड गयी; पर आँखें सन्दूक की ओर से न हटीं।

मुहल्ले के लोग जमा हो गये। पिता और पुत्र के स्वभाव और चरित्र पर

टिप्पणियाँ होने लगीं। दोनों शील और विनय के पुतले थे। किसी को भूल कर भी कड़ी बात न कही। प्रभुदास का सम्पूर्ण शरीर ठण्डा हो गया था। प्राण था तो केवल आँखों मे। वे अब भी उसी लोहे के सन्दूक की ओर सतृष्ण भाव से देख रही थीं।

घर में कोहराम मचा हुआ था। दोनों महिलाएँ पछाड़े खा-खाकर गिरती थीं। मुहल्ले की स्त्रियाँ उन्हें समझाती थीं। अन्य मित्रगण आँखों पर रूमाल जमाये हुए थे। जवानी की मौत संसार का सबसे करुण, सबसे अस्वाभाविक और सबसे भयकर दृश्य है। यह वज्राघात है, विधाता की निर्दय लीला है। प्रभुदास का सारा शरीर-प्राणहीन हो गया था, पर आँखें जीवित थी। वे अब भी उसी सन्दूक की ओर लगी हुई थीं। जीवन ने तृष्णा का रूप धारण कर लिया था। साँस निकलती है, पर आवाज नहीं निकलती।

इतने में मगनसिंह सामने आकर खड़ा हो गया। प्रभुदास की निगाह पड़ी। ऐसा जान पड़ा मानों उनके शरीर में फिर रक्त का संचार हुआ। अङ्ग में स्फूर्ति के चिह्न दिखायी दिये। इशारे से मुँह के निकट बुलाया, उसके कान में कुछ कहा, एक बार लोहे के सन्दूक की ओर इशारा किया और आँखें उलट गयीं, प्राण निकल गये।

—:o:—

आदर्श विरोध

(१)

महाशय दयाकृष्ण मेहता के पाँव जमीन पर न पड़ते थे। उनकी वह आकाङ्क्षा पूरी हो गयी थी जो उनके जीवन का मधुर स्वप्न था। उन्हें वह राज्याधिकार मिल गया था जो भारत निवासियों के लिए जीवन-स्वर्ग है। वाइसराय ने उन्हें अपनी कार्यकारिणी सभा का मेम्बर नियुक्त कर दिया था।

मित्रगण उन्हें बधाइयाँ दे रहे थे। चारों ओर आनन्दोत्सव मनाया जा रहा था, कहीं दावतें होती थीं, कहीं अभिनन्दन-पत्र दिये जाते थे। यह उनका व्यक्तिगत सम्मान नहीं, राष्ट्रीय सम्मान समझा जाता था। अङ्गरेज अधिकारी-वर्ग भी उन्हें हाथों-हाथ लिये फिरता था।

महाशय दयाकृष्ण लखनऊ के एक सुविख्यात बैरिस्टर थे। बड़े उदार-हृदय, राजनीति में कुशल तथा प्रजाभक्त थे। सदैव सार्वजनिक कार्यों में तल्लीन रहते थे। समस्त देश में शासन का ऐसा निर्भय तत्वान्वेषी; ऐसा निस्पृह समालोचक न था और न प्रजा का ऐसा सूक्ष्मदर्शी, विश्वसनीय और ऐसा सहृदय बन्धु।

समाचार-पत्र में इस नियुक्ति पर खूब टीकाएँ हो रही थीं। एक ओर से आवाज आ रही थी—"हम गवर्नमेंट को इस चुनाव पर बधाई नहीं दे सकते।" दूसरी ओर के लोग कहते थे—"यह सरकारी उदारता और प्रजाहित-चिन्ता का सर्वोत्तम प्रमाण है।" एक तीसरा दल भी था, जो दबी जबान से कहता था कि—"राष्ट्र का एक और स्तम्भ गिर गया।"

सध्या का समय था। कैसर पार्क में लिबरल लीग की ओर से महाशय मेहता को पार्टी दी गयी थी। प्रान्त भर के विशिष्ट पुरुष एकत्र थे। भोजन के पश्चात् सभापति ने अपनी वक्तृता में कहा—हमें पूरा विश्वास है कि आपका अधिकार-प्रवेश प्रजा के लिए हितकर होगा, और आपके प्रयत्नों से उन धाराओं में संशोधन हो जायगा, जो हमारे राष्ट्र के जीवन में बाधक है।

महाशय मेहता ने उत्तर देते हुए कहा—राष्ट्र के कानून वर्तमान परिस्थितियों के अधीन होते हैं। जब तक परिस्थितियों में परिवर्तन न हो, कानून में सुव्यवस्था की आशा करना भ्रम है।

सभा विसर्जित हो गयी। एक दल ने कहा—"कितना न्याय युक्त और प्रशसनीय राजनैतिक विधान है।" दूसरा पक्ष बोला—"आ गये जाल में।" तीसरे दल ने नैराश्यपूर्ण भाव से सिर हिला दिया, पर मुँह से कुछ न कहा।

(२)

मि० दयाकृष्ण को दिल्ली आये हुए एक महीना हो गया। फागुन का महीना था। शाम हो रही थी। वे अपने उद्यान में हौज के किनारे एक मखमली आराम-कुर्सी पर बैठे थे। मिसेज राजेश्वरी मेहता सामने बैठी हुई प्यानो बजाना सीख रही थीं और मिस मनोरमा हौज की मछलियों को, बिस्कुट के टुकड़े खिला रही थी। सहसा उसने पिता से पूछा—यह अभी कौन साहब आये थे?

मेहता—कौंसिल के सेनिक मेम्बर हैं।

मनोरमा—वाइसराय के नीचे यही होंगे?

मेहता—वाइसराय के नीचे तो सभी हैं। वेतन भी सबका बराबर है, लेकिन इनकी योग्यता को कोई नहीं पहुँचता। क्यों राजेश्वरी, तुमने देखा, अगरेज लोग कितने सज्जन और विनयशील होते हैं।

राजेश्वरी—मैं तो इन्हें विनय की मूर्ति कहती हूँ। इस गुण में भी ये हमसे बढ़े हुए हैं। उनकी पत्नी मुझसे कितने प्रेम से गले मिलीं।

मनोरमा—मेरा तो जी चाहता था, उनके पैरों पर गिर पड़ूँ।

मेहता—मैंने ऐसे उदार, शिष्ट, निष्कपट और गुणग्राही मनुष्य नहीं देखे। हमारा दया-धर्म कहने ही को है। मुझे इसका बहुत दुःख है कि अबतक क्यों इनसे बदगुमान रहा। सामान्यतः इनसे हम लोगों को जो शिकायतें हैं उनका कारण पारस्परिक सम्मिलन का न होना है। एक दूसरे के स्वभाव और प्रकृति से परिचित नहीं।

राजेश्वरी—एक यूनियन क्लब की बड़ी आवश्यकता है, जहाँ दोनों जातियों

के लोग सहवास का आनन्द उठावें। मिथ्या द्वेष भाव के मिटाने का एकमात्र यही उपाय है।

मेहता—मेरा भी यही विचार है। (घड़ी देखकर) ७ बज रहे हैं, व्यवसाय मण्डल के जलसे का समय आ गया। भारत निवासियों की विचित्र दशा है। वे समझते हैं कि हिन्दुस्तानी मेम्बर कौंसिल में आते ही हिन्दुस्तान के स्वामी हो जाते हैं, जो चाहें स्वच्छन्दता से कर सकते हैं। आशा की जाती है कि वे शासन की प्रचलित नीति को पलट दें, नया आकाश और नया सूर्य बना दें। उन सीमाओं पर विचार नहीं किया जाता है जिनके अन्दर मेम्बरों को काम करना पड़ता है।

राजेश्वरी—इनमें उनका दोष नहीं। ससार की यह रीति है कि लोग अपनों से सभी प्रकार की आशा रखते हैं। अब तो कौंसिल के आधे मेम्बर हिन्दुस्तानी हैं। क्या उनकी राय का सरकार की नीति पर असर नहीं हो सकता?

मेहता—अवश्य हो सकता है, और हो रहा है, किन्तु उससे नीति में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। आधे नहीं, अगर सारे मेम्बर हिन्दुस्तानी हों तो भी वे नयी नीति का उद्घाटन नहीं कर सकते। वे कैसे भूल जावें कि कौंसिल में उनकी उपस्थिति केवल सरकार की कृपा और विश्वास पर निर्भर है। उनके अतिरिक्त यहाँ आकर उन्हें आन्तरिक अवस्था का अनुभव होता है और जनता की अधिकांश शकाएँ असगत प्रतीत होने लगती हैं, पद के साथ उत्तरदायित्व का भारी बोझ भी सिर पर आ पड़ता है। किसी नयी नीति की सृष्टि करते हुए उनके मन में यह चिन्ता उठनी स्वाभाविक है कि कहीं इसका फल आशा के विरुद्ध न हो। यहाँ वस्तुत. उनकी स्वाधीनता नष्ट हो जाती है। उन लोगों से मिलते हुए भी झिझकते हैं जो पहले उनके सहकारी थे, पर अब अपने उच्छृङ्खल विचारों के कारण सरकार की आँखों में खटक रहे हैं। वे अपनी वक्तृताओं मे न्याय और सत्य की बातें करते हं और सरकार की नीति को हानिकर समझते हुए भी इसका समर्थन करते हैं। जब इसके प्रतिकूल वे कुछ कर ही नहीं सकते, तो इसका विरोध करके अपमानित क्यों बनें? इस अवस्था में यही सर्वोचित है कि शब्दाडम्बर से काम लेकर

अपनी रक्षा की जाय। और सबसे बड़ी बात यह है कि ऐसे सज्जन, उदार, नीतिज्ञ शुभचिन्तकों के विरुद्ध कुछ कहना या करना मनुष्यत्व और सद्-व्यवहार का गला घोटना है। यह लो, मोटर आ गयी। चलो व्यवसाय-मण्डल में लोग आ गये होंगे।

ये लोग वहाँ पहुँचे तो करतलध्वनि होने लगी। सभापति महोदय ने एड्रेस पढ़ा, जिसका निष्कर्ष यह था कि सरकार को उन शिल्प-कलाओं की रक्षा करनी चाहिए जो अन्य देशीय प्रतिद्वन्द्विता के कारण मिटी जाती हैं। राष्ट्र की व्यावसायिक उन्नति के लिए नये-नये कारखाने खोलने चाहिए और जब वे सफल हो जायँ तो उन्हें व्यावसायिक संस्थाओं के हवाले कर देना चाहिए। उन कलाओं की आर्थिक सहायता करना भी उनका कर्त्तव्य है, जो अभी शैशवावस्था में हैं, जिससे जनता का उत्साह बढ़े।

मेहता महोदय ने सभापति को धन्यवाद देने के पश्चात् सरकार की औद्योगिक नीति की घोषणा करते हुए कहा—आपके सिद्धान्त निर्दोष हैं, किन्तु उनको व्यवहार में लाना नितान्त दुस्तर है। गवर्नमेंट आपको सम्मति प्रदान कर सकती है, लेकिन व्यावसायिक कार्यों में अग्रसर बनना जनता का काम है। आपको स्मरण रखना चाहिए कि ईश्वर भी उन्हीं की सहायता करता है जो अपनी सहायता आप करते हैं। आपमें विश्वास, औद्योगिक उत्साह का बड़ा अभाव है। पग-पग पर सरकार के सामने हाथ फैलाना अपनी अयोग्यता और अकर्मण्यता की सूचना देनी है।

दूसरे दिन समाचार-पत्रों में इस वक्तृता पर टीकाएँ होने लगीं। एक दल ने कहा—मिस्टर मेहता की स्पीच ने सरकार की नीति को बड़ी स्पष्टता और कुशलता से निर्धारित कर दिया है।

दूसरे दल ने लिखा—हम मिस्टर मेहता की स्पीच पढ़कर स्तम्भित हो गये। व्यवसाय-मण्डल ने वही पथ ग्रहण किया जिसके प्रदर्शक स्वयं मिस्टर मेहता थे। उन्होंने इस लोकोक्ति को चरितार्थ कर दिया कि "नमक की खान में जो कुछ जाता है, नमक हो जाता है।"

तीसरे दल ने लिखा—हम मेहता महोदय के इस सिद्धान्त से सम्पूर्ण सहमत हैं कि हमें पग-पग पर सरकार के सामने दीनभाव से हाथ न फैलाना

चाहिए। यह वक्तृता उन लोगों की आँखें खोल देगी जो कहते हैं कि हमें योग्यतम पुरुषों को कौंसिल में भेजना चाहिए। व्यवसाय-मण्डल के सदस्यों पर दया आती है जो आत्म-विश्वास का उपदेश ग्रहण करने के लिए कानपुर से दिल्ली गये थे।

(३)

चैत का महीना था। शिमला आबाद हो चुका था। मेहता महाशय अपने पुस्तकालय में बैठे हुए कुछ पढ रहे थे कि राजेश्वरी ने आकर पूछा—ये कैसे पत्र हैं?

मेहता—यह आय-व्यय का मसविदा है। आगामी सप्ताह में कौंसिल में पेश होगा। इनकी कई मदें ऐसी हैं जिनपर मुझे पहले भी शका थी और अब भी है। अब समझ में नहीं आता कि इस पर अनुमति कैसे दूँ। यह देखो, तीन करोड़ रुपये उच्च कर्मचारियों की वेतनवृद्धि के लिए रखे गये हैं। यहाँ कर्मचारियों का वेतन पहले से ही बढा हुआ है। इस वृद्धि की जरूरत ही नहीं, पर यह बात ज़बान पर कैसे लाऊँ। जिन्हें इससे लाभ होगा वे सभी नित्य के मिलने वाले हैं। सैनिक व्यय में बीस करोड बढ गये हैं। जब हमारी सेनाएँ अन्य देशों में भेजी जाती हैं तो विदित ही है कि वह हमारी आवश्यकता से अधिक हैं, लेकिन इस मद का विरोध करूँ तो कौंसिल मुझ पर उँगलियाँ उठाने लगे।

राजेश्वरी—इस भय से चुप रह जाना तो उचित नहीं, फिर तुम्हारे यहाँ आने से ही क्या लाभ हुआ?

मेहता—कहना तो आसान है, पर करना कठिन है। यहाँ जो कुछ आदर-सम्मान है, सब हाँ-हुजूर में है। वाइसराय की निगाह जरा तिरछी हो जाय, तो कोई पास भी न फटके। नक्कू बन जाऊँ। यह लो, राजा भद्रबहादुरसिंह-जी आ गये।

राजेश्वरी—शिवराजपुर कोई बडी रियासत है?

मेहता—हाँ, १५ लाख वार्षिक से कम आय न होगी और फिर स्वाधीन राज्य है।

राजेश्वरी—राजा साहब मनोरमा की ओर बहुत आकर्षित हो रहे हैं। मनोरमा को भी उनसे प्रेम होता जान पड़ता है।

मेहता—यह सम्बन्ध हो जाय तो क्या पूछना। यह मेरा अधिकार है जो राजा साहब को इधर खींच रहा है। लखनऊ में ऐसे सुअवसर कहाँ थे ? वह देखो अर्थसचिव मिस्टर काक आ गये।

काक—(मेहता से हाथ मिलाते हुए)। मिसेज मेहता, मैं आपके पहनावे पर आसक्त हूँ। खेद है, हमारी लेडियाँ साड़ी नहीं पहनतीं।

राजेश्वरी—मैं तो अब गाउन पहनना चाहती हूँ।

काक—नहीं मिसेज मेहता, खुदा के वास्ते यह अनर्थ न करना। मिस्टर मेहता, मैं आपके वास्ते एक बड़ी खुशखबरी लाया हूँ। आपके सुयोग्य पुत्र अभी आ रहे हैं या नहीं ? महाराज भिन्द उन्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाना चाहते हैं। आप उन्हें आज ही सूचना दे दें।

मेहता—मैं आपका बहुत अनुगृहीत हूँ।

काक—तार दे दीजिए तो अच्छा हो। आपने काबुल की रिपोर्ट तो पढ़ी होगी। हिज मैजेस्टी अमीर हमसे सन्धि करने के लिए उत्सुक नहीं जान पड़ते। वे बोल्शेविकों की ओर झुके हुए हैं। अवस्था चिन्ताजनक है।

मेहता—मैं तो ऐसा नहीं समझता। गत शताब्दि में काबुल को भारत पर आक्रमण करने का साहस कभी न हुआ। भारत ही अग्रसर हुआ। हाँ, वे लोग अपनी रक्षा करने मे कुशल हैं।

काक—लेकिन क्षमा कीजिएगा, आप भूले जाते हैं कि ईरान, अफगानिस्तान और बोल्शेविको में सन्धि हो गयी है। क्या हमारी सीमा पर इतने शत्रुओं का जमा हो जाना चिन्ता की बात नहीं ? उनसे सतर्क रहना हमारा कर्त्तव्य है।

इतने में लञ्च (जलपान) का समय आ गया। लोग मेज पर जा बैठे। उस समय घुड़दौड़ और नाट्यशाला की चर्चा ही रुचिकर प्रतीत हुई।

(४)

मेहता महोदय ने बजट पर जो विचार प्रकट किये, उनसे समस्त देश में हलचल मच गयी। एक दल उन विचारों को देववाणी समझता था, दूसरा दल भी कुछ अंशों को छोड़कर शेष विचारों से सहमत था ; किन्तु तीसरा दल

चाहिए। यह वक्तृता उन लोगों की आँखें खोल देगी जो कहते हैं कि हमें योग्यतम पुरुषों को कौंसिल में भेजना चाहिए। व्यवसाय-मण्डल के सदस्यों पर दया आती है जो आत्म-विश्वास का उपदेश ग्रहण करने के लिए कानपुर से दिल्ली गये थे।

(३)

चैत का महीना था। शिमला आबाद हो चुका था। मेहता महाशय अपने पुस्तकालय में बैठे हुए कुछ पढ रहे थे कि राजेश्वरी ने आकर पूछा—ये कैसे पत्र हैं?

मेहता—यह आय-व्यय का मसविदा है। आगामी सप्ताह में कौंसिल में पेश होगा। इनकी कई मदें ऐसी हैं जिनपर मुझे पहले भी शका थी और अब भी है। अब समझ में नहीं आता कि इस पर अनुमति कैसे दूँ। यह देखो, तीन करोड रुपये उच्च कर्मचारियों की वेतनवृद्धि के लिए रखे गये हैं। यहाँ कर्मचारियों का वेतन पहले से ही बढा हुआ है। इस वृद्धि की जरूरत ही नहीं, पर यह बात जबान पर कैसे लाऊँ। जिन्हें इससे लाभ होगा वे सभी नित्य के मिलने वाले हैं। सैनिक व्यय में बीस करोड़ बढ गये हैं। जब हमारी सेनाएँ अन्य देशों में भेजी जाती हैं तो विदित ही है कि वह हमारी आवश्यकता से अधिक हैं, लेकिन इस मद का विरोध करूँ तो कौंसिल मुझ पर उँगलियाँ उठाने लगे।

राजेश्वरी—इस भय से चुप रह जाना तो उचित नहीं, फिर तुम्हारे यहाँ आने से ही क्या लाभ हुआ?

मेहता—कहना तो आसान है, पर करना कठिन है। यहाँ जो कुछ आदर-सम्मान है, सब हाँ-हुजूर में है। वाइसराय की निगाह जरा तिरछी हो जाय, तो कोई पास भी न फटके। नक्कू बन जाऊँ। यह लो, राजा भद्रबहादुरसिंह-जी आ गये।

राजेश्वरी—शिवराजपुर कोई बड़ी रियासत है?

मेहता—हाँ, १५ लाख वार्षिक से कम आय न होगी और फिर स्वाधीन राज्य है।

राजेश्वरी—राजा साहब मनोरमा की ओर बहुत आकर्षित हो रहे हैं। मनोरमा को भी उनसे प्रेम होता जान पड़ता है।

मेहता—यह सम्बन्ध हो जाय तो क्या पूछना। यह मेरा अधिकार है जो राजा साहब को इधर खींच रहा है। लखनऊ मे ऐसे सुअवसर कहाँ थे ? वह देखो अर्थसचिव मिस्टर काक आ गये।

काक—(मेहता से हाथ मिलाते हुए)। मिसेज मेहता, मैं आपके पहनावे पर आसक्त हूँ। खेद है, हमारी लेडियाँ साड़ी नहीं पहनतीं।

राजेश्वरी—मैं तो अब गाउन पहनना चाहती हूँ।

काक—नहीं मिसेज मेहता, खुदा के वास्ते यह अनर्थ न करना। मिस्टर मेहता, मैं आपके वास्ते एक बड़ी खुशखबरी लाया हूँ। आपके सुयोग्य पुत्र अभी आ रहे हैं या नहीं ? महाराज भिन्द उन्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाना चाहते हैं। आप उन्हें आज ही सूचना दे दें।

मेहता—मैं आपका बहुत अनुगृहीत हूँ।

काक—तार दे दीजिए तो अच्छा हो। आपने काबुल की रिपोर्ट तो पढ़ी होगी। हिज मैजेस्टी अमीर हमसे सन्धि करने के लिए उत्सुक नहीं जान पडते। वे बोल्शेविकों की ओर झुके हुए हैं। अवस्था चिन्ताजनक है।

मेहता—मैं तो ऐसा नहीं समझता। गत शताब्दि में काबुल को भारत पर आक्रमण करने का साहस कभी न हुआ। भारत ही अग्रसर हुआ। हाँ, वे लोग अपनी रक्षा करने में कुशल हैं।

काक—लेकिन क्षमा कीजिएगा, आप भूले जाते हैं कि ईरान, अफगानिस्तान और बोल्शेविकों में सन्धि हो गयी है। क्या हमारी सीमा पर इतने शत्रुओं का जमा हो जाना चिन्ता की बात नहीं ? उनसे सतर्क रहना हमारा कर्त्तव्य है।

इतने में लञ्च (जलपान) का समय आ गया। लोग मेज पर जा बैठे। उस समय घुड़दौड़ और नाट्यशाला की चर्चा ही रुचिकर प्रतीत हुई।

(४)

मेहता महोदय ने बजट पर जो विचार प्रकट किये, उनसे समस्त देश में हलचल मच गयी। एक दल उन विचारों को देववाणी समझता था, दूसरा दल भी कुछ अंशों को छोड़कर शेष विचारों से सहमत था ; किन्तु तीसरा दल

वक्तृता के एक-एक शब्द पर निराशा से सिर धुनता और भारत की अधोगति पर रोता था। उसे विश्वास ही न आता था कि ये शब्द मेहता की ज़बान से निकले होंगे।

०

मुझे आश्चर्य है कि गैर-सरकारी सदस्यों ने एक स्वर से प्रस्तावित व्यय के उस भाग का विरोध किया है, जिस पर देश की रक्षा, शान्ति, सुदशा और उन्नति अवलम्बित है। आप शिक्षा-सम्बन्धी सुधारों को, आरोग्य विधान को, नहरों की वृद्धि को अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं। आपको अल्प वेतनवाले कर्मचारियों का अधिक ध्यान है। मुझे आप लोगों के राजनैतिक ज्ञान पर इससे अधिक विश्वास था। शासन का प्रधान कर्त्तव्य भीतर और बाहर की अशान्तिकारी शक्तियों से देश को बचाना है। शिक्षा और चिकित्सा, उद्योग और व्यवसाय गौण कर्त्तव्य है। हम अपनी समस्त प्रजा को अज्ञान-सागर में निमग्न देख सकते हैं, समस्त देश को प्लेग और मलेरिया में ग्रस्त रख सकते हैं, अल्प-वेतनवाले कर्मचारियों को दारुण चिन्ता का आहार बना सकते हैं, कृषकों को प्रकृति की अनिश्चित दशा पर छोड़ सकते हैं, किन्तु अपनी सीमा पर किसी शत्रु को खड़े नहीं देख सकते। अगर हमारी आय सम्पूर्णतः देश-रक्षा पर समर्पित हो जाय, तो भी हमको आपत्ति न होनी चाहिए। आप कहेंगे इस समय किसी आक्रमण की सम्भावना नहीं है। मैं कहता हूँ संसार में असम्भव का राज्य है। हवा में रेल चल सकती है, पानी में आग लग सकती है, वृक्षों में वार्तालाप हो सकता है, जड चैतन्य हो सकता है। क्या वे रहस्य नित्य प्रति हमारी नजरों से नहीं गुजरते? आप कहेंगे राजनीतिज्ञों का काम सम्भावनाओं के पीछे दौडना नहीं, वर्तमान और निकट भविष्य की समस्याओं को हल करना है। राजनीतिज्ञों के कर्त्तव्य क्या हैं, मैं इस बहस मे नहीं पडना चाहता, लेकिन इतना तो सभी मानते हैं कि पथ्य, औषधि सेवन से अच्छा होता है। आपका केवल यही धर्म नहीं कि सरकार के सैनिक-व्यय का समर्थन करें, बल्कि यह मन्तव्य आपकी ओर से पेश होना चाहिए। आप कहेंगे कि स्वयसेवकों की सेना बढायी जाय। सरकार को हाल के महा-सग्राम में इसका बहुत ही खेदजनक अनुभव हो चुका है। शिक्षितवर्ग विलासप्रिय, साहसहीन और स्वार्थसेवी है। देहात के लोग शान्तिप्रिय,

संकीर्ण-हृदय (मैं भीरु न कहूँगा) और गृहसेवी हैं। उनमें वह आत्म-त्याग कहाँ, वह वीरता कहाँ, अपने पुरुषाओं की वह वीरता कहाँ ? और शायद मुझे यह याद दिलाने की जरूरत नहीं कि किसी शान्तिप्रिय जनता को आप दो-चार वर्षों में रण-कुशल और समर-प्रवीण नहीं बना सकते।

(५)

जेठ का महीना था, लेकिन शिमले में न लू की ज्वाला थी और न धूप की ताप। महाशय मेहता विलायती चिट्ठियाँ खोल रहे थे। बालकृष्ण का पत्र देखते ही फड़क उठे, लेकिन जब उसे पढ़ा तो मुखमंडल पर उदासी छा गयी। पत्र लिये हुए राजेश्वरी के पास आये। उसने उत्सुक होकर पूछा—बाला का पत्र आया ?

मेहता—हाँ, यह है।

राजेश्वरी—कब आ रहे हैं ?

मेहता—आने-जाने के विषय में कुछ नहीं लिखा। बस, सारे पत्र में मेरे जाति-द्रोह और दुर्गति का रोना है। उसकी दृष्टि में मैं जाति का शत्रु, धूर्त, स्वार्थान्ध, दुरात्मा, सब कुछ हूँ। मैं नहीं समझता कि उसके विचारों में इतना अन्तर कैसे हो गया ! मैं तो उसे बहुत ही शान्त-प्रकृति, गम्भीर, सुशील, सच्चरित्र और सिद्धान्त-प्रिय नवयुवक समझता था और उस पर गर्व करता था और फिर यह पत्र लिखकर ही उसे सन्तोष नहीं हुआ, उसने मेरी स्पीच का विस्तृत विवेचन एक प्रसिद्ध अंग्रेजी पत्रिका में छपवाया है। इतनी कुशल हुई कि वह लेख अपने नाम से नहीं लिखा, नहीं तो मैं कहीं मुँह दिखाने योग्य न रहता। मालूम नहीं यह किन लोगों की कुसङ्गति का फल है। महाराजा भिन्द की नौकरी उसके विचार में गुलामी है, राजा भद्रबहादुर सिंह के साथ मनोरमा का विवाह घृणित और अपमानजनक है। उसे इतना साहस कि मुझे धूर्त, मक्कार, ईमान बेचने वाला, कुलद्रोही कहे ! यह अपमान ! मैं उसका मुँह नहीं देखना चाहता...

राजेश्वरी—लाओ, जरा इस पत्र को मैं भी देखूँ। वह तो इतना मुँहफट न था।

यह कहकर उसने पति के हाथ से पत्र लिया और एक मिनट में आद्यन्त

पढकर बोली—यह सब कटु बातें कहाँ हैं ? मुझे तो इसमें एक भी अपशब्द नहीं मिलता।

मेहता—भाव देखो, शब्दों पर न जाओ।

राजेश्वरी—जब तुम्हारे और उनके आदर्शों में विरोध है तो उसे तुम पर श्रद्धा क्योंकर हो सकती है ?

लेकिन मेहता महोदय जामे से बाहर हो रहे थे। राजेश्वरी की सहिष्णुता-पूर्ण बातों से वे और जल उठे। दफ्तर में जाकर उसी क्रोध में पुत्र को पत्र लिखने लगे जिसका एक-एक शब्द छुरी और कटार से भी ज़्यादा तीखा था।

उपर्युक्त घटना के दो सप्ताह पीछे मिस्टर मेहता ने विलायती डाक खोली तो बालकृष्ण का कोई पत्र न था। समझे मेरी चोटें काम कर गयीं, आ गया सीधे रास्ते पर, तभी तो उत्तर देने का साहस नहीं हुआ। 'लन्दन टाइम्स' की चीट फाडी (इस पत्र को बडे चाव से पढा करते थे) और तार की खबरें देखने लगे। सहसा उनके मुँह से एक आह निकली। पत्र हाथ से छूटकर गिर पड़ा। पहला ही समाचार था—

लन्दन में भारतीय देश-भक्तों का जमाव, ऑनरेबुल मिस्टर
मेहता की वक्तृता पर असन्तोष, मिस्टर बालकृष्ण
मेहता का विरोध और आत्महत्या

गत शनिवार को वैक्सटन हाल में भारतीय युवकों और नेताओं की एक बडी सभा हुई। सभापति मिस्टर तालिबजा ने कहा—हमको बहुत खोजने पर भी कौंसिल के किसी अङ्गरेज मेम्बर की वक्तृता में ऐसे मर्म-भेदी, ऐसे कठोर शब्द नहीं मिलते। हमने अब तक किसी राजनीतिज्ञ के मुख से ऐसे भ्रान्तिकारक, ऐसे निरकुश विचार नहीं सुने। इस वक्तृता ने सिद्ध कर दिया कि भारत के उद्धार का कोई उपाय है तो वह स्वराज्य है, जिसका आशय है—मन और वचन की पूर्ण स्वाधीनता। क्रमागत उन्नति (Evolution) पर से यदि हमारा एतबार अब तक नहीं उठा था तो अब उठ गया। हमारा रोग असाध्य हो गया है। यह अब चूर्णों और अवलेहों से अच्छा नहीं हो सकता। उससे निवृत्त होने के लिए हमें कायाकल्प की आवश्यकता है। ऊँचे राज्यपद हमें स्वाधीन नहीं बनाते, बल्कि हमारी आध्यात्मिक पराधीनता को

और भी पुष्ट कर देते हैं। हमें विश्वास है कि आनरेबुल मिस्टर मेहता ने जिन विचारों का प्रतिपादन किया है उन्हें वे अन्तःकरण से मिथ्या समझते हैं; लेकिन सम्मान, लालसा, श्रेय, प्रेम और पदानुराग ने उन्हें अपनी आत्मा का गला घोंटने पर बाध्य कर दिया है......[किसी ने उच्च स्वर से कहा—यह मिथ्या दोषारोपण है।]

लोगों ने विस्मित होकर देखा तो मिस्टर बालकृष्ण अपनी जगह पर खड़े थे। क्रोध से उनका शरीर काँप रहा था। वे बोलना चाहते थे, लेकिन लोगों ने उन्हें घेर लिया और उनकी निन्दा और अपमान करने लगे। सभापति ने बड़ी कठिनाई से लोगों को शान्त किया, किन्तु मिस्टर बालकृष्ण वहाँ से उठकर चले गये।

दूसरे दिन जब मित्रगण बालकृष्ण से मिलने गये तो उनकी लाश फर्श पर पड़ी हुई थी। पिस्तौल की दो गोलियाँ छाती से पार हो गई थीं। मेज पर उनकी डायरी खुली पड़ी थी, उस पर ये पंक्तियाँ लिखी हुई थीं :—

आज सभा में मेरा गर्व दलित हो गया। मैं यह अपमान नहीं सह सकता। मुझे अपने पूज्य पिता के प्रति ऐसे कितने ही निन्दासूचक दृश्य देखने पड़ेंगे। इस आदर्श विरोध का अन्त ही कर देना अच्छा है। सम्भव है, मेरा जीवन उनके निर्दिष्ट मार्ग में बाधक हो। ईश्वर! मुझे बल प्रदान करे।

विषम समस्या

मेरे दफ्तर में चार चपरासी थे, उनमें एक का नाम गरीब था। बहुत ही सीधा, बड़ा आज्ञाकारी, अपने काम में चौकस रहनेवाला, घुड़कियाँ खाकर चुप रह जानेवाला, यथा नाम तथा गुण मनुष्य था। मुझे इस दफ्तर में आये साल-भर हो गया था। मगर मैंने उसे एक दिन के लिए भी गैरहाजिर नहीं पाया था। मैं उसे ६ बजे दफ्तर में अपनी दरी पर बैठे हुए देखने का ऐसा आदी हो गया था मानों वह भी उसी इमारत का कोई अङ्ग है। इतना सरल था कि किसी की बात टालना जानता ही न था। एक चपरासी मुसलमान था। उससे सारा दफ्तर डरता था, मालूम नहीं क्यों ? मुझे तो इसका कारण सिवाय उसकी बड़ी-बड़ी बातों के और कुछ नहीं मालूम होता था। उसके कथनानुसार उसके चचेरे भाई रामपुर रियासत में कोतवाल थे। उसे सर्वसम्मति ने काजी की उपाधि दे रखी थी, शेष दो महाशय जाति के ब्राह्मण थे। उनके आशीर्वाद का मूल्य उनके काम से कहीं अधिक था। ये तीनों कामचोर, गुस्ताख और आलसी थे। कोई छोटा-सा भी काम करने को कहिए तो बिना नाक-भौं सिकोड़े न करते थे। क्लर्कों को तो कुछ समझते ही न थे। केवल बड़े बाबू से कुछ दबते थे, यद्यपि कभी-कभी उनसे भी बेअदबी कर बैठते थे। मगर इन सब दुर्गुणों के होते हुए भी उनमें से किसी की मिट्टी इतनी खराब नहीं थी जितनी बेचारे गरीब की। तरक्की का अवसर आता तो ये तीनों नम्बर मार ले जाते, गरीब को कोई पूछता भी न था। और सब दस-दस रुपये पाते थे, पर बेचारा गरीब सात ही पर पड़ा हुआ था। सुबह से शाम तक उसके पैर एक क्षण के लिए भी न टिकते थे। यहाँ तक कि तीनों चपरासी भी उस पर रोब जमाते और ऊपर की आमदनी में उसे कोई भाग न देते थे। तिसपर दफ्तर के सब कर्मचारी दफ्तरी से लेकर बड़े बाबू तक उससे चिढ़ा करते। उसको कितनी ही बार जुर्माना हो चुका था और डाँट-फटकार तो नित्य का व्यवहार था। इसका रहस्य मेरी समझ में कुछ नहीं आता था। मुझे उस पर

दया आती थी और अपने बर्ताव से मैं यह दिखाना चाहता था कि उसका आदर मेरी दृष्टि में अन्य तीनों चपरासियों से कम नहीं है। यहाँ तक कि कई बार मैं उसके पीछे कर्मचारियों से लड़ भी चुका था।

(२)

एक दिन बड़े बाबू ने गरीब से अपनी मेज साफ करने को कहा, वह तुरन्त मेज साफ करने लगा। दैवयोग से झाड़न का झटका लगा तो दावात उलट गयी और रोशनाई मेज पर फैल गयी। बड़े बाबू यह देखते ही जामे से बाहर हो गये। उसके दोनों कान पकड़कर खूब ऐंठे और भारतवर्ष की सभी प्रचलित भाषाओं से दुर्वचन चुन-चुनकर उसे सुनाने लगे। बेचारा गरीब आँखों में आँसू भरे चुपचाप मूर्तिवत् सुनता था, मानों उसने कोई हत्या कर डाली हो। मुझे बड़े बाबू का जरा-सी बात पर इतना भयंकर रौद्ररूप धारण करना बुरा मालूम हुआ। यदि किसी दूसरे चपरासी ने इससे भी बड़ा अपराध किया होता तो भी उस पर इतना कठोर वज्र-प्रहार न होता। मैंने अँगरेजी में कहा—बाबू साहब, यह अन्याय कर रहे हैं, उसने जान-बूझकर तो रोशनाई गिरायी नहीं। इसका इतना कड़ा दण्ड देना अनौचित्य की पराकाष्ठा है।

बाबूजी ने नम्रता से कहा—आप इसे जानते नहीं, यह बड़ा दुष्ट है।

"मैं तो इसकी कोई दुष्टता नहीं देखता।"

"आप अभी इसे जानते नहीं। यह बड़ा पाजी है। इसके घर दो हलों की खेती होती है, हजारों का लेन-देन करता है, कई भैंसें लगती हैं, इन्हीं बातों का इसे घमण्ड है।"

"घर की दशा ऐसी ही होती तो आपके यहाँ चपरासगीरी क्यों करता?"

बड़े बाबू ने गम्भीर भाव से कहा—विश्वास मानिए, बड़ा पोढा आदमी है, और बला का मक्खीचूस है।

"यदि ऐसा ही हो तो कोई अपराध नहीं है।"

"अभी आप यहाँ कुछ दिन और रहिए तो आपको मालूम हो जायगा कि यह कितना कमीना आदमी है।"

एक दूसरे महाशय बोल उठे—भाई साहब, इसके घर मनों दूध होता है। मनों जुआर, चना, मटर होती है, लेकिन इसकी कभी इतनी हिम्मत नहीं

होती कि थोड़ा-सा दफ्तरवालों को भी दे दे। यहाँ इन चीजों के लिए तरस-तरस कर रह जाते हैं। तो फिर क्यों न जी जले और यह सब कुछ इसी नौकरी की बदौलत हुआ है नहीं तो पहले इसके घर में भूनी भाँग तक न थी।

बड़े बाबू सकुचा कर बोले—यह कोई बात नहीं, उसकी चीज है चाहे किसी को दे या न दे।

मैं इसका मर्म कुछ-कुछ समझ गया। बोला—यदि ऐसे तुच्छ हृदय का आदमी है तो वास्तव में पशु ही है। मैं यह न जानता था।

अब बड़े बाबू भी खुले, सकोच दूर हुआ। बोले—इन बातों से उबार तो होती नहीं, केवल देनेवाले की सहृदयता प्रकट होती है और आशा भी उसी से की जाती है जो इस योग्य है। जिसमें कुछ सामर्थ्य ही नहीं उनसे कोई आशा भी नहीं करता। नगे से कोई क्या लेगा?

रहस्य खुल गया। बड़े बाबू ने सरल भाव से सारी अवस्था दर्शा दी। समृद्धि के शत्रु सब होते हैं, छोटे ही नहीं, बड़े भी। हमारी ससुराल या ननिहाल दरिद्र हो तो हम उससे कुछ आशा नहीं रखते। कदाचित हम उसे भूल जाते हैं, किन्तु वे सामर्थ्यवान होकर हमें न पूछें, हमारे यहाँ तीज और चौथ न भेजें, तो हमारे कलेजे पर साँप लोटने लगता है।

हम अपने किसी निर्धन मित्र के पास जायें तो उसके एक बीड़े पान ही पर सन्तुष्ट हो जाते हैं, पर ऐसा कौन मनुष्य है जो किसी धनी मित्र के घर से बिना जलपान किये हुए लौटे और सदा के लिए उसका तिरस्कार न करने लगे। सुदामा कृष्ण के घर से यदि निराश लौटते तो कदाचित वे उनके शिशुपाल और जरासिन्धु से भी बड़े शत्रु होते।

(३)

कई दिन पीछे मैंने गरीब से पूछा—क्यों जी, तुम्हारे घर कुछ खेती-बारी होती है?

गरीब ने दीनभाव से कहा—हाँ सरकार, होती है, आप के दो गुलाम हैं। वही करते हैं।

मैंने पूछा—गायें, भैंसे भी लगती हैं!

"हाँ हुजूर, दो भैंसें लगती हैं? गाय अभी गाभिन हैं। आप लोगों की दया से पेट की रोटियाँ चली जाती हैं।"

"दफ्तर के बाबू लोगों की भी कभी कुछ खातिर करते हो?"

गरीब ने दीनतापूर्ण आश्चर्य से कहा—हजूर, मैं सरकार लोगों की क्या खातिर कर सकता हूँ। खेती में जौ, चना, मक्का, जुवार, घासपात के सिवाय और क्या होता है! आप लोग राजा हैं, यह मोटी-झोटी चीजें किस मुँह से आपको भेंट करूँ। जी डरता है कि कहीं कोई डाँट न बैठे कि टके के आदमी की इतनी मजाल! इसी मारे बाबूजी कभी हियाव नहीं पड़ता। नहीं तो दूध-दही की कौन बिसात थी। मुँह के लायक बीड़ा तो होना चाहिए।

"भला एक दिन कुछ लाके दो तो; देखो लोग क्या कहते हैं। शहर में ये चीजें कहाँ मुयस्सर होती हैं! इन लोगों का जी भी तो कभी-कभी मोटी-झोटी चीजों पर चला करता है।"

"जो सरकार कोई कुछ कहे तो? कहीं साहब से शिकायत कर दें तो मैं कहीं का न रहूँ।"

"इसका मेरा जिम्मा है, तुम्हें कोई कुछ न कहेगा, कोई कुछ कहेगा भी, तो मैं उसे समझा दूँगा।"

"हजूर, आजकल तो मटर की फसिल है और कोल्हू भी खड़े हो गये हैं। इसके सिवाय तो और कुछ भी नहीं है।"

"बस तो यही चीजें लाओ।"

"कुछ उल्टी-सीधी पड़ी तो आप ही को सँभालना पड़ेगा।"

"हाँ जी, कह तो दिया मैं देख लूँगा।"

दूसरे दिन गरीब आया तो उसके साथ तीन हृष्ट-पुष्ट युवक भी थे। दो के सिरों पर दो टोकरियाँ थीं। उनमें मटर की फलियाँ भरी हुई थीं। एक के सिर पर मटका था जिसमें ऊख का रस था। तीनों युवक ऊख का एक-एक गट्ठा काँख में दबाये हुए थे। गरीब आकर चुपके से बरामदे के सामने पेड़ के नीचे खड़ा हो गया। दफ्तर में उसे आने का साहस नहीं होता था मानो कोई अपराधी है। वृक्ष के नीचे खड़ा ही था कि इतने में दफ्तर के चपरासियों और अन्य कर्मचारियों ने उसे घेर लिया। कोई ऊख लेकर चूसने लगा।

कई आदमी टोकरों पर टूट पड़े। इतने में बड़े बाबू भी दफ्तर में आ पहुँचे। यह कौतुक देखकर उच्च स्वर से बोले—यह क्या भीड़ लगा रक्खी है! चलो अपना-अपना काम देखो।

मैंने जाकर उनके कान में कहा—गरीब अपने घर से यह सौगात लाया है, कुछ आप लीजिए, कुछ हम लोगों को बाँट दीजिए।

बड़े बाबू ने कृत्रिम क्रोध धारण करके कहा—क्यों गरीब, तुम यह चीजें यहाँ क्यों लाये? अभी लौटा ले जाओ, नहीं तो मैं अभी साहब से कह दूँगा। क्या हम लोगों को मरभूका समझ लिया?

गरीब का रंग उड़ गया। थर-थर काँपने लगा। मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला। मेरी ओर अपराधी नेत्रों से ताकने लगा।

मैंने उसकी ओर से क्षमा-प्रार्थना की। बहुत कहने-सुनने पर बाबू साहब राजी हुए। सब चीजों में से आधी अपने घर भिजवायीं, आधी में अन्य लोगों के हिस्से लगाये गये। इस प्रकार यह अभिनय समाप्त हुआ।

(४)

अब दफ्तर में गरीब का मान होने लगा। उसे नित्य घुड़कियाँ न मिलतीं। दिन-भर दौड़ना न पड़ता। कर्मचारियों के व्यंग और अपने सहवर्गियों के कटुवाक्य न सुनने पड़ते। चपरासी लोग स्वयं उसका काम कर देते। उसके नाम में थोड़ा-सा परिवर्तन हुआ। वह गरीब से गरीबदास बना। स्वभाव में भी कुछ तबदीली पैदा हुई। दीनता की जगह आत्म-गौरव का उद्भव हुआ। तत्परता की जगह आलस्य ने ली। वह अब कभी-कभी देर में दफ्तर आता। कभी-कभी बीमारी का बहाना करके घर बैठ रहता। उसके सभी अपराध अब क्षम्य थे। उसे अपनी प्रतिष्ठा का गुर हाथ लग गया। वह अब दसवें-पाँचवें दिन दूध-दही आदि लाकर बड़े बाबू को भेंट किया करता। वह देवता को सन्तुष्ट करना सीख गया। सरलता के बदले अब उसमें काइयाँपन आ गया। एक रोज बड़े बाबू ने उसे सरकारी फार्मों का पार्सल छुड़ाने के लिए स्टेशन भेजा। कई बड़े-बड़े पुलिन्दे थे, ठेले पर आये। गरीब ने ठेलेवालों से बारह आना मजदूरी तय की थी। जब कागज दफ्तर में पहुँच गये तो उसने बड़े बाबू से ।।।) पैसे ठेलेवालों को देने के लिए वसूल किये। लेकिन

दफ्तर से कुछ दूर जाकर उसकी नीयत बदली, अपनी दस्तूरी माँगने लगा, ठेलेवाले राजी न हुए। इस पर गरीब ने बिगड़कर सब पैसे जेब में रख लिये और धमकाकर बोला—अब एक फूटी कौड़ी न दूँगा, जाओ, जहाँ चाहो फरियाद करो। देखें हमारा क्या बना लेते हो!

ठेलेवालों ने जब देखा कि भेंट न देने से जमा ही गायब हुई जाती है तो रो-धोकर चार आने पैसे देने को राजी हुए। गरीब ने अठन्नी उनके हवाले की और बारह आने की रसीद लिखवाकर उनके अँगूठे के निशान लगवाये और रसीद दफ्तर में दाखिल हो गयी।

यह कौतूहल देखकर मैं दंग रह गया। यह वही गरीब है जो कई महीने पहले सत्यता और दीनता की मूर्ति था। जिसे कभी अन्य चपरासियों से भी अपने हिस्से की रकम माँगने का साहस न होता था! दूसरों को खिलाना भी न जानता था, खाने की जिक्र ही क्या। मुझे यह स्वभावान्तर देखकर अत्यन्त खेद हुआ। इसका उत्तरदायित्व किस के सिर था?—मेरे सिर। मैंने ही उसे धूर्तता का पहला पाठ पढ़ाया था। मेरे चित्त में प्रश्न उठा, इस काइयाँपन से, जो दूसरों का गला दबाता है, वह भोलापन क्या बुरा था, जो दूसरों का अन्याय सह लेता था। वह अशुभ मुहूर्त्त था जब उसे मैंने प्रतिष्ठा-प्राप्ति का मर्म दिखाया, क्योंकि वास्तव में वह उसके पतन का भयङ्कर मार्ग था। मैंने बाह्य-प्रतिष्ठा पर उसकी आत्म-प्रतिष्ठा का बलिदान कर दिया।

अनिष्ट शंका

(१)

चाँदनी रात, समीर के सुखद झोंके, सुरम्य उद्यान। कुँवर अमरनाथ अपनी विस्तीर्ण छत पर लेटे हुए मनोरमा से कह रहे थे—तुम घबराओ नहीं, मैं जल्द आऊँगा।

मनोरमा ने उनकी ओर कातर नेत्रों से देखकर—मुझे भी क्यों नहीं लेते चलते?

अमरनाथ—तुम्हें वहाँ कष्ट होगा। मैं कभी यहाँ रहूँगा, कभी वहाँ, सारे दिन मारा-मारा फिरूँगा, पहाड़ी देश है, जगल और बीहड़ के सिवाय बस्ती का कोसों पता नहीं, उस पर भयङ्कर पशुओं का भय। तुमसे यह तकलीफें न सही जायँगी।

मनोरमा—तुम भी तो इन तकलीफों के आदी नही हो।

अमरनाथ—मैं पुरुष हूँ, आवश्यकता पडने पर सभी तकलीफों का सामना कर सकता हूँ।

मनोरमा—(गर्व से) मैं भी स्त्री हूँ, आवश्यकता पड़ने पर आग में कूद सकती हूँ। स्त्रियों की कोमलता पुरुषों की काव्य-कल्पना है। उन्हें शारीरिक सामर्थ्य चाहे न हो पर उनमें वह धैर्य और साहस है जिस पर काल की दुश्चिन्ताओं का जरा भी असर नहीं होता।

अमरनाथ ने मनोरमा को श्रद्धामय दृष्टि से देखा और बोले—यह मैं मानता हूँ. लेकिन जिस कल्पना को हम चिरकाल से प्रत्यक्ष समझते आये हैं वह एक क्षण में नहीं मिट सकती। तुम्हारी तकलीफ मुझसे न देखी जायेगी, मुझे दुःख होगा। देखो इस समय चाँदनी मे कितनी बहार है।

मनोरमा—मुझे बहलाओ मत। मैं हठ नहीं करती, लेकिन यहाँ मेरा जीवन अपाढ हो जायगा। मेरे हृदय की दशा विचित्र है। तुम्हें अपने सामने न देखकर मेरे मन मे तरह-तरह की शंकाएँ होती हैं कि कहीं चोट न लग

गयी हो, शिकार खेलने जाते हो तो डरती हूँ कहीं घोड़े ने शरारत न की हो। मुझे अनिष्ट का भय सदैव सताया करता है।

अमरनाथ—लेकिन मैं तो विलास का भक्त हूँ। मुझपर इतना अनुराग करके तुम अपने ऊपर अन्याय करती हो।

मनोरमा ने अमरनाथ को दबी हुई दृष्टि से देखा जो कह रही थी कि मैं तुमको तुमसे ज्यादा पहचानती हूँ।

(२)

बुन्देलखण्ड में भीषण दुर्भिक्ष था। लोग वृक्षों की छालें छील-छीलकर खाते थे। क्षुधा-पीड़ा ने भक्ष्याभक्ष्य की पहचान मिटा दी थी। पशुओं का तो कहना ही क्या, मानव सन्तानें कौड़ियों के मोल बिकती थीं। पादरियों की चढ़ बनी थी, उनके अनाथालयों में नित्य गोल-के-गोल बच्चे भेड़ों की भाँति हाँके जाते थे। माँ की ममता मुट्ठी-भर अनाज पर कुर्बान हो जाती। कुँवर अमरनाथ काशी-सेवासमिति के व्यवस्थापक थे। समाचार-पत्रों में यह रोमाञ्चकारी समाचार देखे तो तड़प उठे। समिति के कई नवयुवकों को साथ लिया और बुन्देलखण्ड जा पहुँचे। मनोरमा को वचन दिया कि प्रतिदिन पत्र लिखेंगे और यथासाध्य जल्द लौट आयेंगे।

एक सप्ताह तक तो उन्होंने अपना वचन पालन किया, लेकिन शनैः-शनैः पत्रों में विलम्ब होने लगा। अक्सर इलाके डाकघर से बहुत दूर पड़ते थे। वहाँ से नित्यप्रति पत्र भेजने का प्रबन्ध करना दुःसाध्य था।

मनोरमा वियोग-दुःख से विकल रहने लगी। वह अव्यवस्थित दशा में उदास बैठी रहती, कभी नीचे आती कभी ऊपर जाती, कभी बाग में जा बैठती। जब तक पत्र न आ जाता वह इसी भाँति व्यग्र रहती, पत्र मिलते ही सूखे धान में पानी पड़ जाता।

लेकिन जब पत्रों के आने में देर होने लगी तो उसका वियोग-विकल-हृदय अधीर हो गया। बार-बार पछताती कि मैं नाहक उनके कहने में आ गयी, मुझे उनके साथ जाना चाहिए था। उसे किताबों से प्रेम था पर अब उनकी ओर ताकने का भी जी न चाहता। विनोद की वस्तुओं से उसे अरुचि-सी हो गयी। इस प्रकार एक महीना गुजर गया।

एक दिन उसने स्वप्न देखा कि अमरनाथ द्वार पर नगे सिर, नगे पैर, खड़े रो रहे हैं। वह घबराकर उठ बैठी और उसी उग्रावस्था में दौड़ी द्वार तक आयी। यहाँ का सन्नाटा देखकर उसे होश आ गया। उसी दम मुनीम को जगाया और कुँवर साहब के नाम तार भेजा। किन्तु जवाब न आया। सारा दिन गुजर गया मगर कोई जवाब नहीं। दूसरी रात भी गुजरी लेकिन जवाब का पता न था। मनोरमा निर्जल, निराहार, मूर्च्छित दशा में अपने कमरे में पड़ी रहती। जिसे देखती उसी से पूछती, जवाब आया? कोई द्वार पर आवाज देता तो दौड़ी हुई जाती और पूछती—कुछ जवाब आया?

उसके मन में विविध शङ्काएँ उठती, लौंडियों से स्वप्न का आशय पूछती। स्वप्नों का कारण और विवेचना पर कई ग्रथ पढ डाले, पर कुछ रहस्य न खुला। लौंडियाँ उसे दिलासा देने के लिए कहतीं—कुँवरजी कुशल से हैं। स्वप्न में किसी को नगे पैर देखो तो समझो वह घोड़े पर सवार है। घबराने की कोई बात नहीं। लेकिन मनोरमा को इस बात से तस्कीन न होती। उसे तार के जवाब की रट लगी हुई थी, यहाँ तक कि चार दिन गुजर गये।

किसी मुहल्ले में मदारी का आ जाना बालवृन्द के लिए एक महत्व की बात है। उसके डमरू की आवाज में खोंचेवाले की क्षुधा-वर्द्धक ध्वनि से भी अधिक आकर्षण होता है। इसी प्रकार मुहल्ले में किसी ज्योतिषी का आ जाना मारके की बात है। एक क्षण में उसकी खबर घर-घर फैल जाती है। सास अपनी बहू को लिये आ पहुँचती है, माता अपनी भाग्यहीन कन्या को लेकर आ जाती है। ज्योतिषीजी दु:ख-सुख की अवस्थानुसार वर्षा करने लगते हैं। उनकी भविष्य-वाणियों में बड़ा गूढ रहस्य होता है। उनका भाग्य-निर्णय भाग्य-रेखाओं से भी जटिल और दुर्ग्राह्य होता है। सभव है कि वर्तमान शिक्षा-विधाता ने ज्योतिष का आदर कुछ कम कर दिया हो, पर ज्योतिषीजी के माहात्म्य में जरा भी कमी नहीं हुई। उनकी बातों पर चाहे किसी को विश्वास न हो पर सुनना सभी चाहते हैं। उनके एक-एक शब्द में आशा और भय को उत्तेजित करने की शक्ति भरी रहती है, विशेषत: उनकी अमगल सूचना तो वज्रपात के तुल्य है, घातक और दग्धकारी।

तार भेजे हुए आज पाँचवाँ दिन था कि कुँवर साहब के द्वार पर एक

ज्योतिषी का आगमन हुआ। तत्काल मुहल्ले की महिलाएँ जमा हो गयीं। ज्योतिषीजी भाग्य-विवेचन करने लगे, किसी को रुलाया, किसी को हँसाया। मनोरमा को भी खबर मिली। उन्हें तुरन्त अन्दर बुला भेजा और स्वप्न का आशय पूछा।

ज्योतिषीजी ने इधर-उधर देखा, पन्ने-के-पन्ने उलटे, उँगलियों पर कुछ गिना; पर कुछ निश्चय न कर सके कि क्या उत्तर देना चाहिए, बोले—क्या सरकार ने यह स्वप्न देखा है?

मनोरमा बोली—नहीं, मेरी एक सखी ने देखा है, मैं कहती हूँ, यह अमङ्गलसूचक है। वह कहती है, मङ्गलमय है। आप इसकी क्या विवेचना करते हैं?

ज्योतिषीजी फिर बगलें झाँकने लगे। उन्हें अमरनाथ की यात्रा का हाल न मालूम था और न इतनी मुहलत ही मिली थी कि यहाँ आने के पूर्व वह अवस्था-ज्ञान प्राप्त कर लेते जो अनुमान के साथ मिलकर जनता में ज्योतिष के नाम से प्रसिद्ध है। जो प्रश्न पूछा था उसका भी कुछ सूत्र-सूचक उत्तर न मिला। निराश होकर मनोरमा के समर्थन करने ही में अपना कल्याण देखा। बोले—सरकार जो कहती हैं वही सत्य है। यह स्वप्न अमङ्गलसूचक है।

मनोरमा सितार के तार की भाँति थर-थर काँपने लगी। ज्योतिषीजी ने उस अमङ्गल का उद्घाटन करते हुए कहा—उनके पति पर कोई महान् सङ्कट आनेवाला है; उनका घर नाश हो जायगा, वह देश-विदेश मारे-मारे फिरेंगे।

मनोरमा ने दीवार का सहारा लेकर कहा—भगवन्, मेरी रक्षा करो और मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ी।

ज्योतिषीजी अब चेते। समझ गये कि बड़ा धोखा खाया। आश्वासन देने लगे, आप कुछ चिन्ता न करें। मैं उस सङ्कट का निवारण कर सकता हूँ। मुझे एक बकरा, कुछ लौंग और बधा धागा मँगा दें। जब कुँवरजी के यहाँ से कुशल-समाचार आ जाय तो जो दक्षिणा चाहें दे दें। काम कठिन है पर भगवान् की दया से असाध्य नहीं है। सरकार देखें मुझे बड़े-बड़े हाकिमों ने सार्टिफिकेट दिये हैं। अभी डिप्टी साहब की कन्या बीमार थी। डाक्टरों ने

जवाब दे दिया था। मैंने यन्त्र दिया, बैठे-बैठे आँखें खुल गयीं। कल की बात है, सेठ चन्दूलाल के यहाँ से रोकड़ की एक थैली उड़ गयी थी, कुछ पता न चलता था, मैंने सगुन विचारा और बात-की-बात में चोर पकड़ लिया। उनके मुनीम का काम था, थैली ज्यों-कि-त्यों निकल आयी।

ज्योतिषीजी तो अपनी सिद्धियों की सराहना कर रहे थे और मनोरमा अचेत पड़ी हुई थी।

अकस्मात् वह उठ बैठी ; मुनीम को बुलाकर कहा—यात्रा की तैयारी करो, मैं शाम की गाड़ी से बुन्देलखण्ड जाऊँगी।

(४)

मनोरमा ने स्टेशन पर आकर अमरनाथ को तार दिया—'मैं आ रही हूँ।' उनके अन्तिम पत्र से ज्ञात हुआ था कि वह कबरई में हैं, कबरई का टिकट लिया। लेकिन कई दिनों से जागरण कर रही थी। गाड़ी पर बैठते ही नींद आ गयी और नींद आते ही अनिष्ट शङ्का ने एक भीषण स्वप्न का रूप धारण कर लिया।

उसने देखा, सामने एक अगम सागर है, उसमें एक टूटी हुई नौका हलकोरे खाती बहती चली जाती है। उसपर न कोई मल्लाह है, न पाल, न डाँड़े। तरङ्गें उसे कभी ऊपर ले जाती हैं कभी नीचे, सहसा उसपर एक मनुष्य दृष्टिगोचर हुआ। यह अमरनाथ थे, नङ्गे सिर, नङ्गे पैर, आँखों से आँसू बहाते हुए। मनोरमा थर-थर काँप रही थी। जान पड़ता था नौका अब डूबी और अब डूबी। उसने जोर से चीख मारी और जाग पड़ी। शरीर पसीने से तर था, छाती धड़क रही थी वह तुरत उठ बैठी, हाथ-मुँह धोया और इरादा किया, अब न सोऊँगी। हा! कितना भयावह दृश्य था। परम पिता! अब तुम्हारा ही भरोसा है। उनकी रक्षा करो।

उसने खिड़की से सिर निकालकर देखा। आकाश पर तारागण दौड़ रहे थे। घड़ी देखी, बारह बजे थे। उसको आश्चर्य हुआ, मैं इतनी देर तक सोयी। अभी तो एक झपकी भी पूरी न होने पायी।

उसने एक पुस्तक उठा ली और विचारों को एकाग्र करके पढ़ने लगी। इतने में प्रयाग आ पहुँचा, गाड़ी बदली। उसने फिर किताब खोली और उच्च

स्वर से पढ़ने लगी। लेकिन कई दिनों की जागी आँखें इच्छा के अधीन नहीं होतीं। बैठे-बैठे झपकियाँ लेने लगी, आँखें बन्द हो गयीं और एक दूसरा दृश्य सामने उपस्थित हो गया।

उसने देखा, आकाश से मिला हुआ एक पर्वत-शिखर है। उसके ऊपर के वृक्ष छोटे-छोटे पौधों के सदृश दिखायी देते हैं। श्यामवर्ण घटाएँ छायी हुई हैं, बिजली इतनी जोर से कड़कती है कि कान के परदे फटे जाते हैं, कभी यहाँ गिरती है, कभी वहाँ। शिखर पर एक मनुष्य नंगे सिर बैठा हुआ है, उसकी आँखों का अश्रु-प्रवाह साफ दीख रहा है। मनोरमा दहल उठी, यह अमरनाथ थे। वह पर्वत शिखर से उतरना चाहते थे, लेकिन मार्ग न मिलता था। भय से उनका मुख वर्ण-शून्य हो रहा था। अकस्मात् एक बार बिजली का भयंकर नाद सुनायी दिया, एक ज्वाला-सी दिखायी दी और अमरनाथ अदृश्य हो गये। मनोरमा ने फिर चीख मारी और जाग पड़ी। उसका हृदय बाँसों उछल रहा था, मस्तिष्क चक्कर खाता था। जागते ही उसकी आँखों से जल-प्रवाह होने लगा। वह उठ खड़ी हुई और कर जोड़कर ईश्वर से विनय करने लगी—ईश्वर, मुझे ऐसे बुरे-बुरे स्वप्न दिखायी दे रहे हैं, न जाने उनपर क्या बीत रही है, तुम दीनों के बन्धु हो, मुझपर दया करो, मुझे धन और सम्पत्ति की इच्छा नहीं, मैं झोंपड़ी में खुश रहूँगी, मैं केवल उनकी शुभकामना चाहती हूँ। मेरी इतनी प्रार्थना स्वीकार करो।

वह फिर अपनी जगह पर बैठ गयी। अरुणोदय की मनोरम छटा और शीतल सुखद समीरण ने उसे आकर्षित कर लिया। उसे सन्तोष हुआ, किसी तरह रात कट गयी, अब तो नींद न आयेगी। पर्वतों के मनोहर दृश्य दिखायी देने लगे, कहीं पहाड़ियों पर भेड़ों के गल्ले, कहीं पहाड़ियों के दामन में मृगों के झुण्ड, कहीं कमल के फूलों से लहराते हुए सागर। मनोरमा एक अर्धस्मृति की दशा में इन दृश्यों को देखती रही। लेकिन फिर न जाने कब उसकी अभागी आँखें झपक गयीं।

उसने देखा, अमरनाथ घोड़े पर सवार एक पुल पर चले जाते हैं। नीचे नदी उमड़ी हुई है, पुल बहुत तंग है, घोड़ा रह-रहकर बिचकता है और अलफ हो जाता है। मनोरमा के हाथ-पाँव फूल गये। वह उच्च-स्वर से चिल्ला-चिल्लाकर

कहने लगी—घोड़े से उतर पड, घोडे से उतर पडो। यह कहते हुए वह उनकी तरफ झपटी, आँखें खुल गयीं। गाड़ी किसी स्टेशन के प्लेटफार्म से सनसनाती चली जाती थी। अमरनाथ नगे सिर, नगे पैर प्लेटफार्म पर खड़े थे। मनोरमा की आँखों में अभी तक वही भयकर स्वप्न समाया हुआ था। कुँवर को देखकर उसे भय हुआ कि वह घोड़े से गिर पडे और नीचे नदी में फिसला चाहते हैं। उसने तुरन्त उन्हें पकड़ने को हाथ फैलाया और जब उन्हें न पा सकी तो उसी सुषुप्तावस्था में उसने गाड़ी का द्वार खोला और कुँवर साहब की ओर हाथ फैलाये हुए गाड़ी से बाहर निकल आयी। तब वह चौंकी, जान पडा किसी ने उठाकर आकाश से भूमि पर पटक दिया, जोर से एक धक्का लगा और चेतना शून्य हो गयी।

(५)

यही कबरई का स्टेशन था। अमरनाथ तार पाकर स्टेशन पर आये थे। मगर यह डाक थी, वहाँ न ठहरती थी, मनोरमा को हाथ फैलाये गाडी से गिरते देखकर वह 'हाँ, हाँ' करते हुए लपके लेकिन कर्मलेख पूरा हो चुका था। मनोरमा प्रेमवेदी पर बलिदान हो चुकी थी।

इसके तीसरे दिन वह नगे सिर, नगे पैर भग्न-हृदय घर पहुँचे। मनोरमा का स्वप्न सच्चा हुआ।

उस प्रेमविहीन स्थान मे अब कौन रहता! उन्होंने अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति काशी-सेवा-समिति को प्रदान कर दी और अब नगे सिर, नगे पैर, विरक्त दशा में देश-विदेश घूमते रहते हैं। ज्योतिषीजी की विवेचना भी चरितार्थ हो गयी।

सौत

(१)

पंडित देवदत्त का विवाह हुए बहुत दिन हुए, पर उनके कोई संतान न हुई। जब तक उनके माँ-बाप जीवित थे तब तक वे उनसे सदा दूसरा विवाह कर लेने के लिए आग्रह किया करते थे, पर वे राजी न हुए। उन्हे अपनी पत्नी गोदावरी से अटल प्रेम था। सन्तान से होनेवाले सुख के निमित्त वे अपना वर्त्तमान पारिवारिक सुख नष्ट न करना चाहते थे। इसके अतिरिक्त वे कुछ नये विचार के मनुष्य थे। वे कहा करते थे कि सन्तान होने से माँ-बाप की जिम्मेदारियाँ बढ जाती हैं। जब तक मनुष्य में यह सामर्थ्य न हो कि वह उसका भले प्रकार पालन-पोषण और शिक्षा आदि कर सके तब तक उसकी सन्तान से देश, जाति और निज का कुछ भी कल्याण नहीं हो सकता। पहले तो कभी-कभी बालकों को हँसते-खेलते देखकर उनके हृदय पर चोट भी लगती थी, परन्तु अब अपने अनेक देश-भाइयों की तरह वे भी शारीरिक व्याधियों से ग्रस्त रहने लगे। अब किस्से-कहानियों के बदले धार्मिक ग्रंथों से उनका अधिक मनोरञ्जन होता था। अब सन्तान का खयाल करते ही उन्हें भय-सा लगता था।

पर गोदावरी इतनी जल्दी निराश होनेवाली न थी। पहले तो वह देवी-देवता, गंडे-तावीज और यन्त्र-मन्त्र आदि की शरण लेती रही, परन्तु जब उसने देखा कि ये औषधियाँ कुछ काम नहीं करतीं तब वह एक महौषधि की फिक्र मे लगी जो कायाकल्प से कम नहीं थी। उसने महीनों, बरसों इसी चिंता-सागर में गोते लगाने काटे। उसने दिल को बहुत समझाया, परन्तु मन में जो बात समा गयी थी वह किसी तरह न निकली। उसे बड़ा भारी आत्मत्याग करना पडेगा। शायद पति-प्रेम के सदृश अनमोल रत्न भी उसके हाथ से निकल जाय, पर क्या ऐसा हो सकता है? पन्द्रह वर्ष तक लगातार जिस प्रेम के वृक्ष की उसने सेवा की है क्या वह हवा का एक झोंका भी न सह सकेगा?

गोदावरी ने अन्त में अपने प्रबल विचारों के आगे सिर झुका ही दिया। अब सौत का शुभागमन करने के लिए वह तैयार हो गयी थी।

(२)

पडित देवदत्त गोदावरी का यह प्रस्ताव सुनकर स्तम्भित हो गये। उन्होंने अनुमान किया कि या तो यह प्रेम की परीक्षा कर रही है या मेरा मन लेना चाहती है। उन्होंने उसकी बात हँसकर टाल दी। पर जब गोदावरी ने गभीर भाव से कहा, तुम इसे हँसी मत समझो, मैं अपने हृदय से कहती हूँ कि सतान का मुँह देखने के लिए मैं सौत से छाती पर मूँग दलवाने के लिए भी तैयार हूँ, तब तो उनका सदेह जाता रहा। इतने ऊँचे और पवित्र भाव से भरी हुई गोदावरी को उन्होंने गले से लिपटा लिया। वे बोले—मुझमे यह न होगा। मुझे सन्तान की अभिलाषा नहीं।

गोदावरी ने जोर देकर कहा—तुमको न हो, मुझे तो है। अगर अपनी खातिर से नहीं तो तुम्हें मेरी खातिर से यह काम करना ही पड़ेगा।

परिडतजी सरल स्वभाव के आदमी थे। हामी तो उन्होंने न भरी, पर बार-बार कहने से वे कुछ-कुछ राजी अवश्य हो गये। उस तरफ से इसी की देर थी। पडितजी को कुछ भी परिश्रम न करना पडा। गोदावरी की कार्य-कुशलता ने सब काम उनके लिए सुलभ कर दिया। उसने इस काम के लिए अपने पास से केवल रुपये ही नहीं निकाले, किन्तु अपने गहने और कपडे भी अर्पण कर दिये! लोक-निन्दा का भय इस मार्ग में सबसे बड़ा काँटा था। देवदत्त मन में विचार करने लगे कि जब मैं मौर सजाकर चलूँगा तब लोग मुझे क्या कहेंगे? मेरे दफ्तर के मित्र मेरी हँसी उडायेंगे और मुस्कुराते हुए कटाक्षों से मेरी ओर देखेंगे। उनके वे कटाक्ष छुरी से भी ज्यादा तेज होंगे। उस समय मैं क्या करूँगा?

गोदावरी ने अपने गाँव में जाकर इस कार्य को आरम्भ कर दिया और इसे निर्विघ्न समाप्त भी कर डाला। नयी बहू घर में आ गयी। उस समय गोदावरी ऐसी प्रसन्न हुई मानो वह बेटे का ब्याह कर लायी हो। वह खूब गाती-बजाती रही। उसे क्या मालूम था कि शीघ्र ही उसे इस गाने के बदले रोना पडेगा।

(३)

कई मास बीत गये। गोदावरी अपनी सौत पर इस तरह शासन करती थी

मानों वह उसकी सास हो, तथापि वह यह बात कदापि न भूलती थी कि मैं वास्तव में उसकी सास नहीं हूँ। उधर गोमती को भी अपनी स्थिति का पूरा ख्याल रहता था। इसी कारण सास के शासन की तरह कठोर न रहने पर भी गोदावरी का शासन उसे अप्रिय प्रतीत होता था। उसे अपनी छोटी-मोटी जरूरतों के लिए भी गोदावरी से कहते सकोच होता था।

कुछ दिनों बाद गोदावरी के स्वभाव में एक विशेष परिवर्तन दिखायी देने लगा। वह पडितजी को घर में आते-जाते बड़ी तीव्र दृष्टि से देखने लगी। उसकी स्वाभाविक गंभीरता अब मानों लोप-सी हो गयी, जरा-सी बात भी उसके पेट मे नहीं पचती। जब पडितजी दफ्तर से आते तब गोदावरी उनके पास घंटों बैठी गोमती का वृत्तान्त सुनाया करती। इस वृत्तान्त-कथन में बहुत-सी ऐसी छोटी-मोटी बातें भी होती थीं कि जब कथा समाप्त होती तब पडितजी के हृदय से बोझ-सा उतर जाता। गोदावरी क्यों इतनी मृदुभाषिणी हो गयी थी, इसका कारण समझना मुश्किल है। शायद अब वह गोमती से डरती थी। उसके सौन्दर्य से, उसके यौवन मे, उसके लज्जायुक्त नेत्रों से शायद वह अपने को पराभूत समझती। बाँध को तोड़कर वह पानी की धारा को मिट्टी के ढेलों से रोकना चाहती थी।

एक दिन गोदावरी ने गोमती से मीठा चावल पकाने को कहा। शायद वह रक्षाबन्धन का दिन था। गोमती ने कहा, शक्कर नहीं है। गोदावरी यह सुनते ही विस्मित हो उठी। उतनी शक्कर इतनी जल्दी कैसे उठ गयी! जिसे छाती फाड़कर कमाना पड़ता है, उसे अखरता है, खानेवाले क्या जानें!

जब पडितजी दफ्तर से आये तब यह जरा-सी बात बड़ा विस्तृत रूप धारण करके उनके कानों में पहुँची। थोड़ी देर के लिए पंडितजी के दिल में भी यह शका हुई कि गोमती को कहीं भस्मक रोग तो नहीं हो गया।

ऐसी ही घटना एक बार फिर हुई। पण्डितजी को बवासीर की शिकायत थी। लालमिर्च वह बिलकुल न खाते थे। गोदावरी जब रसोई बनाती थी तब वह लालमिर्च रसोई-घर में लाती ही न थी। गोमती ने एक दिन दाल में मसाले के साथ थोड़ी-सी लालमिर्च भी डाल दी। पण्डितजी ने दाल कम

खायी। पर गोदावरी गोमती के पीछे पड़ गई। ऐंठकर वह बोली—ऐसी जीभ जल क्यों नहीं जाती ?

(४)

पंडितजी बड़े ही सीधे आदमी थे। दफ्तर से आये, खाना खाया, पड़कर सो रहे। वे एक साप्ताहिक पत्र मँगाते थे। उसे कभी-कभी महीनों खोलने की नौबत न आती थी। जिस काम में जरा भी कष्ट या परिश्रम होता, उससे वे कोसों दूर भागते थे। कभी-कभी उनके दफ्तर में थियेटर के 'पास' मुफ्त मिला करते थे। पर पंडितजी उनसे कभी काम नहीं लेते, और ही लोग उनसे माँग ले जाया करते। रामलीला या कोई मेला तो उन्होंने शायद नौकरी करने के बाद फिर कभी देखा ही नहीं। गोदावरी उनकी प्रकृति का परिचय अच्छी तरह पा चुकी थी। पंडितजी भी प्रत्येक विषय में गोदावारी के ही मतानुसार चलने में अपनी कुशल समझते थे।

पर रूई-सी मुलायम वस्तु भी दबकर कठोर हो जाती है। पंडितजी को यह आठों पहर की चख-चख असह्य-सी प्रतीत होती, कभी-कभी मन में झुँझलाने भी लगते। इच्छा-शक्ति जो इतने दिनों तक बेकार पड़ी रहने से निर्बल-सी हो गयी थी, अब कुछ सजीव-सी होने लगी थी।

पंडितजी यह मानते थे कि गोदावरी ने सौत को घर लाने में बड़ा भारी त्याग किया है। उसका वह त्याग अलौकिक कहा जा सकता है, परन्तु उसके त्याग का भार जो कुछ है वह मुझ पर है, गोमती पर उसका क्या एहसान ? यहाँ उसे कौन-सा सुख है जिसके लिए वह फटकार-पर-फटकार सहे ? पति मिला है वह बूढ़ा और सदा रोगी, घर मिला है वह ऐसा कि अगर नौकरी छूट जाय तो कल चूल्हा न जले। इस दशा में गोदावरी का यह स्नेह-रहित बर्ताव उन्हें बहुत अनुचित मालूम होता।

गोदावरी की दृष्टि इतनी स्थूल न थी कि उसे पंडितजी के मन के भाव नजर न आवें। उनके मन में जो विचार उत्पन्न होते वे सब गोदावरी को उनके मुख पर अंकित-से दिखायी पड़ते। यह जानकारी उसके हृदय में एक ओर गोमती के प्रति ईर्ष्या की प्रचंड अग्नि दहका देती, दूसरी ओर पंडित

देवदत्त पर निष्ठुरता और स्वार्थप्रियता का दोषारोपण कराती। फल यह हुआ कि मनोमालिन्य दिन-दिन बढ़ता ही गया।

(५)

गोदावरी ने धीरे-धीरे पंडितजी से गोमती की बातचीत करनी छोड़ दी, मानों उसके निकट गोमती घर में थी ही नहीं। न उसके खाने-पीने की वह सुधि लेती, न कपड़े-लत्ते की। एक बार कई दिनों तक उसे जलपान के लिए कुछ भी न मिला। पंडितजी तो आलसी जीव थे। वे इन अत्याचारों को देखा करते, पर अपने शांतिसागर में घोर उपद्रव मच जाने के भय से किसी से कुछ न कहते। तथापि इस पिछले अन्याय ने उनकी महती सहन-शक्ति को भी मथ डाला। एक दिन उन्होंने गोदावरी से डरते-डरते कहा, क्या आजकल जलपान के लिए मिठाई-विठाई नहीं आती?

गोदावरी ने क्रुद्ध होकर जवाब दिया—तुम लाते ही नहीं तो आये कहाँ से? मेरे कोई नौकर बैठा है?

देवदत्त को गोदावरी के ये कठोर वचन तीर-से लगे। आज तक गोदावरी ने उनसे ऐसी रोषपूर्ण बातें कभी न की थीं।

वे बोले—धीरे बोलो, झुँझलाने की तो कोई बात नहीं है।

गोदावरी ने आँखें नीची करके कहा—मुझे तो जैसा आता है वैसे बोलती हूँ। दूसरों की-सी मधुर बोली कहाँ से लाऊँ।

देवदत्त ने जरा गरम होकर कहा—आजकल मुझे तुम्हारे मिजाज का कुछ रंग ही नहीं मालूम होता। बात-बात पर उलझती रहती हो।

गोदावरी का चेहरा क्रोधाग्नि से लाल हो गया। वह बैठी थी खड़ी हो गयी। उसके होंठ फड़कने लगे। वह बोली—मेरी कोई बात अब तुमको क्यों अच्छी लगेगी। अब मैं सिर से पैर तक दोषों से भरी हुई हूँ। अब और लोग तुम्हारे मन का काम करेंगे। मुझसे नहीं हो सकता। यह लो सन्दूक की कुंजी। अपने रुपये-पैसे सँभालो, यह रोज-रोज की झंझट मेरे मान की नहीं। जब तक निभा, निभाया। अब नहीं निभ सकता।

पंडित देवदत्त मानों मूर्च्छित-से हो गये। जिस शांति-भंग का उन्हें भय था उसने अत्यन्त भयंकर रूप धारण करके घर में प्रवेश किया। वह कुछ भी न

बोल सके। इस समय उनके अधिक बोलने से बात बढ़ जाने का भय था। वह बाहर चले आये और सोचने लगे कि मैंने गोदावरी के साथ कौन-सा अनुचित व्यवहार किया है। उनके ध्यान में आया कि गोदावरी के हाथ से निकलकर घर का प्रबन्ध कैसे हो सकेगा। इस थोड़ी-सी आमदनी में वह न जाने किस प्रकार काम चलाती थी? क्या-क्या उपाय वह करती थी? अब न जाने नारायण कैसे पार लगावेंगे? उसे मनाना पड़ेगा, और हो ही क्या सकता है। गोमती भला क्या कर सकती है, सारा बोझ मेरे ही सिर पड़ेगा। मानेगी तो, पर मुश्किल से।

परन्तु पडितजी की ये शुभ कामनाएँ निष्फल हुईं। सन्दूक की वह कुञ्जी विषैली नागिन की तरह वहीं आँगन में ज्यों-की-त्यों तीन दिन तक पड़ी रही, किसी को उसके निकट जाने का साहस न हुआ। चौथे दिन पण्डितजी ने मानो जान पर खेलकर उस कुञ्जी को उठा लिया। उस समय उन्हें ऐसा मालूम हुआ मानो किसी ने उनके सिर पर पहाड़ उठाकर रख दिया। आलसी आदमियों को अपने नियमित मार्ग से तिल भर भी हटना बड़ा कठिन मालूम होता है।

यद्यपि पण्डितजी जानते थे कि मैं अपने दफ्तर के कारण इस कार्य को सँभालने में असमर्थ हूँ, तथापि उनसे इतनी ढिठाई न हो सकी कि वह कुञ्जी गोमती को दें। पर यह केवल दिखावा ही भर था। कुञ्जी उन्हीं के पास रहती थी, काम सब गोमती को करना पड़ता था। इस प्रकार गृहस्थी के शासन का अन्तिम साधन भी गोदावरी के हाथ से निकल गया। गृहिणी के नाम के साथ जो मर्यादा और सम्मान था वह भी गोदावरी के पास से उसी कुञ्जी के साथ चला गया। देखते-देखते घर की महरी और पड़ोस की स्त्रियों के बर्ताव में भी बहुत अन्तर पड़ गया। गोदावरी अब पदच्युता रानी की तरह थी। उसका अधिकार अब केवल दूसरों की सहानुभूति पर ही रह गया था।

(६)

गृहस्थी के काम-काज में परिवर्तन होते ही गोदावरी के स्वभाव में भी शोकजनक परिवर्तन हो गया। ईर्ष्या मन में रहनेवाली वस्तु नहीं। आठों पहर पास-पड़ोस के घरों में यही चर्चा होने लगी, देखा दुनिया कैसे मतलब

की है। बेचारी ने लड़-झगड़कर ब्याह कराया, जान-बूझकर अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारी। यहाँ तक कि अपने गहने-कपड़े तक उतार दिये। पर अब रोते-रोते आँचल भीगता है। सौत तो सौत ही है, पति ने भी उसे आँखों से गिरा दिया। बस, अब दासी की तरह घर में पड़ी-पड़ी पेट जिलाया करे। यह जीना भी कोई जीना है!

ये सहानुभूतिपूर्ण बातें सुनकर गोदावरी की ईर्ष्याग्नि और भी प्रबल होती जाती थी। उसे इतना न सूझता था कि वह मौखिक समवेदनाएँ अधिकांश में उस मनोविकार से पैदा हुई हैं जिससे मनुष्यों को दूसरों के हानि और दुःख पर हँसने में विशेष आनन्द आता है।

गोदावरी को जिस बात का पूर्ण विश्वास और पण्डितजी को जिसका बड़ा भय था, वह न हुई। घर के काम-काज में कोई विघ्न-बाधा, कोई रुकावट न पड़ी। हाँ, अनुभव न होने के कारण पंडितजी का प्रबन्ध गोदावरी के प्रबन्ध जैसा अच्छा न था। कुछ खर्च ज्यादा पड़ जाता था। पर काम भली-भाँति चला जाता था। हाँ, गोदावरी को गोमती के सभी काम दोषपूर्ण दिखायी देते थे। ईर्ष्या में अग्नि है। परन्तु अग्नि का गुण उसमें नहीं। वह हृदय को फैलाने के बदले और भी संकीर्ण कर देती है। अब घर में कुछ हानि हो जाने से गोदावरी को दुःख के बदले आनन्द होता। बरसात के दिन थे। कई दिन तक सूर्यनारायण के दर्शन न हुए। सन्दूक में रखे हुए कपड़ों में फफूँदी लग गयी। तेल के अचार बिगड़ गये। गोदावरी को यह सब देखकर रत्ती-भर भी दुःख न हुआ। हाँ, दो-चार जली-कटी सुनाने का अवसर उसे अवश्य मिल गया। मालकिन ही बनना आता है कि मालकिन का काम करना भी।

पंडित देवदत्त की प्रकृति में भी अब नया रंग नजर आने लगा। जब तक गोदावरी अपनी कार्यपरायणता से घर का सारा बोझ सँभाले थी तब तक उनको कभी किसी चीज की कमी नहीं खली। यहाँ तक कि शाक-भाजी के लिए भी उन्हें बाजार नहीं जाना पड़ा। पर अब गोदावरी उन्हें दिन में कई बार बाजार दौड़ते देखती। गृहस्थी का प्रबन्ध ठीक न रहने से बहुधा ज़रूरी चीजों के लिए उन्हें बाज़ार ऐन वक्त पर जाना पड़ता। गोदावरी यह कौतुक देखती और सुना-सुनाकर कहती, यही महाराज हैं कि एक तिनका उठाने के

लिए भी न उठते थे। अब देखती हूँ, दिन में दस दफे बाज़ार में खड़े रहते हैं। अब मैं इन्हें कभी यह कहते नहीं सुनती कि मेरे लिखने-पढ़ने में हर्ज होगा।

गोदावरी को इस बात का एक बार परिचय मिल चुका था कि पडितजी बाज़ार-हाट के काम में कुशल नहीं हैं। इसलिए जब उसे कपड़े की जरूरत होती तब वह अपने पड़ोस के एक बूढ़े लाला साहब से मँगवाया करती थी। पडितजी को यह बात भूल-सी गयी थी कि गोदावरी को साड़ियों की भी जरूरत पड़ती है। उनके सिर से तो जितना बोझ कोई हटा दे उतना ही अच्छा था। खुद वे भी वही कपड़े पहनते थे जो गोदावरी मँगाकर उन्हें दे देती थी। पडितजी को नये फैशन और नये नमूनों से कोई प्रयोजन न था। पर अब कपड़ों के लिए भी उन्हीं को बाज़ार जाना पड़ता है। एक बार गोमती के पास साड़ियाँ न थीं। पडितजी बाज़ार गये तो एक बहुत अच्छा-सा जोड़ा उसके लिए ले आये। बज़ाज ने मनमाने दाम लिये। उधार सौदा लाने में पडितजी जरा भी आगा-पीछा न करते थे। गोमती ने वह जोड़ा गोदावरी को दिखाया। गोदावरी ने देखा और मुँह फेरकर रुखाई से बोली—भला तुमने उन्हें कपड़े लाने तो सिखा दिये। मुझे तो सोलह वर्ष बीत गये, उनके हाथ का लाया हुआ एक कपड़ा स्वप्न में भी पहनना नसीब न हुआ।

ऐसी घटनाएँ गोदावरी की ईर्ष्याग्नि को और भी प्रज्वलित कर देती थीं। जब तक उसे यह विश्वास था कि पडितजी स्वभाव से ही रूखे हैं तब तक उसे सन्तोष था। परन्तु अब उनकी ये नयी-नयी तरंगें देखकर उसे मालूम हुआ कि जिस प्रीति को मैं सैकड़ों यत्न करके भी न पा सकी उसे इस रमणी ने केवल अपने यौवन से जीत लिया। उसे अब निश्चय हुआ कि मैं जिसे सच्चा प्रेम समझ रही थी वह वास्तव में कपटपूर्ण था। वह निरा स्वार्थ था।

दैवयोग से इन्हीं दिनों गोमती बीमार पड़ी। उसे उठने-बैठने की भी शक्ति न रही। गोदावरी रसोई बनाने लगी, पर उसे इसका निश्चय नहीं था कि गोमती वास्तव में बीमार है। उसे यही ख्याल था कि मुझसे खाना पकवाने के लिए ही दोनों प्राणियों ने यह स्वाँग रचा है। पड़ोस की स्त्रियों से वह कहती कि लौंडी बनने में इतनी ही कसर थी वह पूरी हो गयी।

पण्डितजी को आजकल खाना खाते वक्त भागा-भाग-सी पड़ जाती है। वे न जाने क्यों गोदावरी से एकान्त में बातचीत करते डरते हैं। न मालूम कैसी कठोर और हृदय-विदारक बातें वह सुनाने लगे। इसी लिए खाना खाते वक्त वे डरते रहते थे कि कहीं उस भयकर समय का आगमन न हो जाय। गोदावरी अपने तीव्र नेत्रों से उनके मन का भाव ताड़ जाती थी, पर मन-ही-मन में ऐंठ-कर रह जाती थी।

एक दिन उससे न रहा गया। वह बोली—क्या मुझसे बोलने की भी मनाही कर दी गयी है? देखती हूँ, कहीं तो रात-रात-भर बातों का तार नहीं टूटता, पर मेरे सामने मुँह खोलने की भी कसम-सी खायी है। घर का रग-ढग देखते हो न? अब तो सब काम तुम्हारे इच्छानुसार चल रहा है न?

पंडितजी ने सिर नीचा किये हुए उत्तर दिया—उँह! जैसे चलता है, वैसे चलता है। उस फिक्र से क्या अपनी जान दे दूँ? जब तुम यह चाहती हो कि घर मिट्टी में मिल जाय तब फिर मेरा क्या वश है?

इस पर गोदावरी ने बडे कठोर वचन कहे। बात बढ गई। पण्डितजी चौके पर से उठ आये। गोदावरी ने कसम दिलाकर उन्हें बिठाना चाहा, पर वे वहाँ क्षण भर भी न रुके! तब उसने भी रसोई उठा दी। सारे घर को उपवास करना पड़ा।

गोमती मे एक विचित्रता यह थी कि वह कड़ी-से-कड़ी बातें सहन कर सकती थी पर भूख सहन करना उसके लिए बडा कठिन था। इसी लिए कोई व्रत भी न रखती थी। हाँ, कहने-सुनने को जन्माष्टमी रख लेती थी। पर आजकल बीमारी के कारण उसे और भी भूख लगती थी। जब उसने देखा कि दोपहर होने को आयी और भोजन मिलने के कोई लक्षण नहीं, तब विवश होकर बाज़ार से मिठाई मँगायी। सम्भव है, उसने गोदावरी को जलाने के लिए ही यह खेल खेला हो, क्योंकि कोई भी एक वक्त खाना न खाने से मर नहीं जाता। गोदावरी के सिर से पैर तक आग लग गयी। उसने भी तुरन्त मिठाइयाँ मँगवायीं। कई वर्ष के बाद आज उसने पेट-भर मिठाइयाँ खायीं। ये सब ईर्ष्या के कौतुक हैं।

जो गोदावरी दोपहर के पहल मुँह मे पानी नहीं डालती थी वही अब प्रातः-

काल ही कुछ जलपान किये बिना नहीं रह सकती। सिर में वह हमेशा मीठा तेल डालती थी, पर अब मीठे तेल से उसके सिर में पीड़ा होने लगती थी पान खाने का उसे नया व्यसन लग गया। ईर्ष्या ने उसे नयी नवेली बहू बना दिया।

जन्माष्टमी का शुभ दिन आया। पण्डितजी का स्वाभाविक आलस्य इन दो-तीन दिनों के लिए गायब हो जाता था। वे बड़े उत्साह से झाँकी बनाने में लग जाते थे। गोदावरी यह व्रत बिना जल के रखती थी और पण्डितजी तो कृष्ण के उपासक ही थे। अब उनके अनुरोध से गोमती ने भी निर्जल व्रत रखने का साहस किया, पर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ जब महरी ने आकर उससे कहा—बड़ी बहू निर्जल न रहेंगी, उनके लिए फलाहार मँगा दो।

सन्ध्या समय गोदावरी ने मान-मन्दिर जाने के लिए इक्के की फरमाइश की। गोमती को यह फरमाइश बुरी मालूम हुई। आज के दिन इक्कों का किराया बहुत बढ जाता था। मान-मन्दिर कुछ दूर भी नहीं था। इससे वह चिढकर बोली—व्यर्थ रुपया क्यों फेंका जाय? मन्दिर कौन बडी दूर है। पाँव-पाँव क्यों नहीं चली जातीं। हुक्म चला देना तो सहज है। अखरता उसे है जो बैल की तरह कमाता है।

तीन साल पहले गोमती ने इसी तरह की बातें गोदावरी के मुँह से सुनी थीं। आज गोदावरी को भी गोमती के मुँह से वैसी ही बातें सुननी पड़ीं। समय की गति!

इन दिनों गोदावरी बड़े उदासीन भाव से खाना बनाती है। पण्डितजी के पथ्यापथ्य के विषय में भी अब उसे पहले की-सी चिन्ता न थी। एक दिन उसने महरी से कहा कि अन्दाज़ से मसाले निकालकर पीस ले, मसाले दाल में पड़े तो मिर्च ज़रा अधिक तेज हो गयी। मारे भय के पण्डितजी से वह न खायी गयी। अन्य आलसी मनुष्यों की तरह चटपटी वस्तुएँ उन्हें भी बहुत प्रिय थीं, परन्तु वे रोग मे हारे हुए थे। गोमती ने जब यह सुना तब भौंहें चढाकर बोली—क्या बुढ़ापे में जवान गज-भर की हो गयी है।

कुछ इसी तरह के कटु-वाक्य एक बार गोदावरी ने भी कहे थे। आज उसकी बारी सुनने की थी।

(७)

आज गोदावरी गंगा से गले मिलने आयी है। तीन साल हुए वह वर और वधू को लेकर गंगाजी को पुष्प और दूध चढ़ाने गयी थी। आज वह अपने प्राण समर्पण करने आयी है। आज वह गंगाजी की आनन्दमयी लहरों मे विश्राम करना चाहती है।

गोदावरी को अब उस घर में एक क्षण रहना भी दुस्सह हो गया था। जिस घर मे रानी बनकर रही उसी में चेरी बनकर रहना उस जैसी सगर्वा स्त्री के लिए असम्भव था।

अब इस घर में गोदावरी का स्नेह उस पुरानी रस्सी की तरह था जो बराबर गाँठ देने पर भी कहीं-न-कहीं से टूट ही जाती है। उसे गंगाजी की शरण लेने के सिवाय और कोई उपाय न सूझता था।

कई दिन हुए, उसके मुँह से बार-बार जान दे देने की धमकी सुन पण्डितजी खिजलाकर बोल उठे, तुम किसी तरह मर भी तो जाती। गोदावरी उन विष-भरे शब्दों को अब तक न भूली थी। चुभनेवाली बातें उसको कभी न भूलती थीं। आज गोमती ने भी वही बातें कहीं, यद्यपि उसने बहुत कुछ सहन करने के बाद कठोर बातें कही थीं, तथापि गोदावरी को अपनी बातें तो भूल-सी गयी थीं। केवल गोमती और पण्डितजी के वाक्य ही उसके कानों में गूँज रहे थे। पण्डितजी ने उसे डाँटा तक नहीं। मुझपर ऐसा घोर अन्याय और वे मुँह तक न खोलें।

आज सब लोगों के सो जाने पर गोदावरी घर से बाहर निकली। आकाश में काली घटाएँ छायी हुई थीं। वर्षा की झड़ी लग रही थी। उधर उसके नेत्रों से भी आँसुओं की धारा बह रही थी। प्रेम का बन्धन कितना कोमल है और दृढ भी कितना! कोमल है अपमान के सामने, दृढ है वियोग के सामने। गोदावरी चौखट पर खड़ी-खड़ी घंटों रोती रही, कितनी ही पिछली बातें उसे याद आती थीं। हा! कभी यहाँ उसके लिए प्रेम भी था, मान भी था, जीवन का सुख भी था। शीघ्र ही पंडितजी के वे कठोर शब्द भी याद आ गये। आँखों से फिर पानी की धारा बहने लगी। गोदावरी घर से चल खड़ी हुई।

इस समय यदि पण्डित देवदत्त नंगे सिर, नंगे पाँव, पानी में भीगते दौड़ते

आते और गोदावरी के कम्पित हाथों को पकड़कर अपने धड़कते हुए हृदय से उसे लगा कर कहते, 'प्रिये!' इससे अधिक और उनके मुँह से कुछ भी न निकलता, तो भी क्या गोदावरी अपने विचारों पर स्थिर रह सकती?

कुआँर का महीना था। रात को गगा की लहरों की गरज बडी भयानक मालूम होती थी। साथ ही जब बिजली तडप जाती तब उसकी उछलती हुई लहरें प्रकाश से उज्ज्वल हो जाती थीं। मानों प्रकाश उन्मत्त हाथी का रूप धारण कर किलोलें कर रहा हो। जीवन-सग्राम का एक विशाल दृश्य आँखों के सामने आ रहा था।

गोदावरी के हृदय में भी इस समय विचार की अनेक लहरें बडे वेग से उठतीं, आपस में टकरातीं और ऐंठती हुई लोप हो जाती थीं। कहाँ? अन्धकार में।

क्या यह गरजने, उमडनेवाली गगा गोदावरी को शांति प्रदान कर सकती है? उसकी लहरों में सुधासम मधुर ध्वनि नहीं है और न उसमें करुणा का विकास ही है। वह इस समय उद्दण्डता और निर्दयता की भीषण मूर्ति धारण किये हुए है?

गोदावरी किनारे बैठी क्या सोच रही थी, कौन कह सकता है! क्या अब उसे यह खटका नहीं लगा था कि पडित देवदत्त आते न होंगे? प्रेम का बन्धन कितना मजबूत होता है।

उसी अन्धकार में ईर्ष्या, निष्ठुरता और नैराश्य की सतायी हुई वह अबला गगा की गोद में गिर पडी। लहरें झपटीं और उसे निगल गयीं।

सवेरा हुआ। गोदावरी घर में नहीं थी। उसकी चारपाई पर यह पत्र पडा हुआ था:—

"स्वामिन्, ससार में सिवाय आपके मेरा और कौन स्नेही था? मैंने अपना सर्वस्व आपके सुख की भेंट कर दिया। अब आपका सुख इसी में है कि मैं इस ससार से लोप हो जाऊँ। इसी लिए ये प्राण आपकी भेंट हैं। मुझसे जो कुछ अपराध हुए हों क्षमा कीजिएगा। ईश्वर सदा आपको सुखी रखे।"

पडितजी इस पत्र को देखते ही मूर्च्छित होकर गिर पडे। गोमती रोने लगी। पर क्या वे उसके विलाप के आँसू थे?

सज्जनता का दण्ड

(१)

साधारण मनुष्य की तरह शाहजहाँपुर के डिस्ट्रिक्ट इन्जीनियर सरदार शिवसिंह में भी भलाइयाँ और बुराइयाँ दोनों ही वर्त्तमान थीं। भलाई यह थी कि उनके यहाँ न्याय और दया में कोई अन्तर न था। बुराई यह थी कि वे सर्वथा निर्लोभ और निःस्वार्थ थे। भलाई ने मातहतों को निडर और आलसी बना दिया था, बुराई के कारण उस विभाग के सभी अधिकारी उनकी जान के दुश्मन बन गये थे।

प्रातःकाल का समय था। वे किसी पुल की निगरानी के लिए तैयार खड़े थे। मगर साईस अभी तक मीठी नींद ले रहा था। रात को उसे अच्छी तरह सहेज दिया गया था कि पौ फटने के पहले गाड़ी तैयार कर लेना। लेकिन सुबह भी हुई, सूर्य भगवान् ने दर्शन भी दिये, शीतल किरणों में गरमी भी आयी; पर साईस की नींद अभी तक नहीं टूटी।

सरदार साहब खड़े-खड़े थककर एक कुर्सी पर बैठ गये। साईस तो किसी तरह जागा, परन्तु अर्दली के चपरासियों का पता नहीं। जो महाशय डाक लेने गये थे वे एक ठाकुरद्वारा में खड़े चरणामृत की प्रतीक्षा कर रहे थे। जो ठेकेदार को बुलाने गये थे वे बाबा रामदास की सेवा में बैठे गाँजे का दम लगा रहे थे।

धूप तेज होती जाती थी। सरदार साहब झुँझलाकर मकान में चले गये और अपनी पत्नी से बोले—इतना दिन चढ़ आया, अभी तक एक चपरासी का भी पता नहीं। इनके मारे तो मेरे नाक में दम आ गया है।

पत्नी ने दीवार की ओर देखकर दीवार से कहा—यह सब उन्हें सिर चढ़ाने का फल है।

सरदार साहब चिढ़कर बोले—तो क्या करूँ, उन्हें फाँसी दे दूँ?

(२)

सरदार साहब के पास मोटरकार का तो कहना ही क्या, कोई फिटिन भी

न थी। वे अपने इक्के से ही प्रसन्न थे, जिसे उनके नौकर-चाकर अपनी भाषा में उड़नखटोला कहते थे। शहर के लोग उसे इतना आदर-सूचक नाम न देकर छकड़ा कहना ही उचित समझते थे। इसी तरह सरदार साहब अन्य व्यवहारों में भी बडे मितव्ययी थे। उनके दो भाई इलाहाबाद में पढते थे। विधवा माता बनारस में रहती थी। एक विधवा बहिन भी उन्हीं पर अवलम्बित थी। इनके सिवा कई गरीब लडकों को छात्रवृत्तियाँ भी देते थे। इन्हीं कारणों से वे सदा खाली हाथ रहते। यहाँ तक कि उनके कपड़ों पर भी इस आर्थिक दशा के चिह्न दिखायी देते थे। लेकिन यह सब कष्ट सहकर भी वे लोभ को अपने पास फटकने न देते थे। जिन लोगों पर उनका स्नेह था वे उनकी सज्जनता को सराहते थे और उन्हें देवता समझते थे। उनकी सज्जनता से उन्हें कोई हानि न होती थी, लेकिन जिन लोगों से उनके व्यावसायिक सम्बन्ध थे वे उनके सद्भावों के ग्राहक न थे, क्योंकि उन्हें हानि होती थी। यहाँ तक कि उन्हें अपनी सहधर्मिणी से भी कभी-कभी अप्रिय बातें सुननी पडती थीं।

एक दिन वे दफ्तर से आये तो उनकी पत्नी ने स्नेहपूर्ण ढग से कहा—तुम्हारी यह सज्जनता किस काम की, जब सारा ससार तुमको बुरा कह रहा है।

सरदार साहब ने दृढता से जवाब दिया—ससार जो चाहे कहे परमात्मा तो देखता है।

रामा ने यह जवाब पहले ही सोच लिया। वह बोली—मैं तुमसे विवाद तो करती नहीं, मगर ज़रा अपने दिल में विचार करके देखो कि तुम्हारी इस सचाई का दूसरों पर क्या असर पडता है तुम तो अच्छा वेतन पाते हो। तुम अगर हाथ न बढाओ तो तुम्हारा निर्वाह हो सकता है। रूखी रोटियाँ मिल ही जायेंगी। मगर ये दस-दस पाँच-पाँच रुपये के चपरासी, मुहर्रिर, दफ्तरी बेचारे कैसे गुजर करें। उनके भी बाल-बच्चे हैं। उनके भी कुटुम्ब-परिवार है, शादी-गमी, तिथि-त्योहार यह सब उनके साथ लगे हुए हैं। भलमनसी का भेष बनाये बिना काम नहीं चलता। बताओ उनका गुजर कैसे हो? अभी रामदीन चपरासी की घरवाली आयी थी, रोते-रोते आँचल भीगता था। लडकी सयानी हो गयी है। अब उसका ब्याह करना पड़ेगा। ब्राह्मण की जाति—हजारों का खर्च। बताओ उसके आँसू किसके सिर पड़ेंगे?

ये सब बातें सच थीं। इनसे सरदार साहब को इनकार नहीं हो सकता था। उन्होंने स्वयं इस विषय में बहुत कुछ विचार किया था। यही कारण था कि वह अपने मातहतों के साथ बड़ी नरमी का व्यवहार करते थे। लेकिन सरलता और शालीनता का आत्मिक गौरव चाहे जो हो, उनका आर्थिक मोल बहुत कम है। वे बोले, तुम्हारी बातें सब यथार्थ हैं, किन्तु मैं विवश हूँ। अपने नियमों को कैसे तोड़ूँ? यदि मेरा वश चले तो मैं उन लोगों का वेतन बढ़ा दूँ। लेकिन यह नहीं हो सकता कि मैं खुद लूट मचाऊँ और उन्हें लूटने दूँ।

रामा ने व्यंग्यपूर्ण शब्दों में कहा—तो यह हत्या किस पर पड़ेगी?

सरदार साहब ने तीव्र होकर उत्तर दिया—यह उन लोगों पर पड़ेगी जो अपनी हैसियत और आमदनी से अधिक खर्च करना चाहते हैं। अरदली बनकर क्यों वकील के लड़के से लड़की ब्याहने की ठानते हैं। दफ्तरी को यदि टहलुवे की जरूरत हो तो यह किसी पाप-कार्य से कम नहीं। मेरे साईस की स्त्री अगर चाँदी की सिल गले में डालना चाहे तो यह उसकी मूर्खता है। इस झूठी बड़ाई का उत्तरदाता मैं नहीं हो सकता!

(३)

इञ्जीनियरों का ठेकेदारों से कुछ ऐसा ही सम्बन्ध है जैसा मधु-मक्खियों का फूलों से। अगर वे अपने नियत भाग से अधिक पाने की चेष्टा न करें तो उनसे किसी को शिकायत नहीं हो सकती। यह मधु-रस कमीशन कहलाता है। रिश्वत लोक और परलोक दोनों का ही सर्वनाश कर देती है। उसमें भय है, चोरी है, बदमाशी है। मगर कमीशन एक मनोहर वाटिका है, जहाँ न मनुष्य का डर है, न परमात्मा का भय, यहाँ तक कि वहाँ आत्मा की छिपी हुई चुटकियों का भी गुजर नहीं है। और कहाँ तक कहें इसकी ओर बदनामी आँख भी नहीं उठा सकती। यह वह बलिदान है जो हत्या होते हुए भी धर्म का एक अंश है। ऐसी अवस्था में यदि सरदार शिवसिंह अपने उज्ज्वल चरित्र को इस धब्बे से साफ रखते थे और उस पर अभिमान करते थे तो वे क्षमा के पात्र थे।

मार्च का महीना बीत रहा था। चीफ इञ्जीनियर साहब जिले में मुआयना करने आ रहे थे। मगर अभी तक इमारतों का काम अपूर्ण था। सड़कें खराब हो रही थीं, ठेकेदारों ने मिट्टी और कंकड़ भी नहीं जमा किये थे।

सरदार साहब रोज ठेकेदारों को ताकीद करते थे, मगर इसका कुछ फल न होता था।

एक दिन उन्होंने सबको बुलाया। वे कहने लगे, तुम लोग क्या यही चाहते हो कि मैं इस जिले से बदनाम होकर जाऊँ। मैंने तुम्हारे साथ कोई बुरा सलूक नहीं किया। मैं चाहता तो आपसे काम छीनकर खुद करा लेता, मगर मैंने आपको हानि पहुँचाना उचित न समझा। उसकी मुझे यह सजा मिल रही है। खैर!

ठेकेदार लोग यहाँ से चले तो बातें होने लगीं। मिस्टर गोपाल दास बोले—अब आटे-दाल का भाव मालूम हो जायगा।

शहबाज खाँ ने कहा—किसी तरह इसका जनाजा निकले तो यहाँ से .

सेठ चुन्नीलाल ने फरमाया—इञ्जीनियर से मेरी जान-पहचान है, मैं उनके साथ काम कर चुका हूँ। वह इन्हें खूब लथेड़ेगा।

इस पर बूढ़े हरिदास ने उपदेश दिया—यारो, स्वार्थ की बात है। नहीं तो सच यह है कि यह मनुष्य नहीं, देवता है। भला और नहीं तो साल-भर में कमीशन के १० हजार तो होते होंगे। इतने रुपयों को ठीकरे की तरह तुच्छ समझना क्या कोई सहज बात है? एक हम हैं कि कौड़ियों के पीछे ईमान बेचते फिरते हैं। जो सज्जन पुरुष हमसे एक पाई का रवादार न हो, सब प्रकार के कष्ट उठाकर भी जिसकी नीयत डाँवाडोल न हो, उसके साथ ऐसा नीच और कुटिल बर्ताव करना पड़ता है। इसे अपने अभाग्य के सिवा और क्या समझूँ।

शहबाज़ खाँ ने फरमाया—हाँ, इसमें तो कोई शक नहीं कि वह शख्स नेकी का फरिश्ता है।

सेठ चुन्नीलाल ने गम्भीरता से कहा—खाँ साहब! बात तो वही है, जो तुम कहते हो। लेकिन किया क्या जाय? नेकनीयती से तो काम नहीं चलता। यह दुनिया तो छल-कपट की है।

मिस्टर गोपालदास बी० ए० पास थे। वे गर्व के साथ बोले—इन्हें जब इस तरह रहना था तो नौकरी करने की क्या जरूरत थी? यह कौन नहीं जानता कि नीयत को साफ रखना अच्छी बात है। मगर यह भी तो देखना चाहिए

कि इसका दूसरों पर क्या असर पड़ता है। हमको तो ऐसा आदमी चाहिए जो खुद खाय और हमें खिलाये। खुद हलुआ खाय, हमें रूखी रोटियाँ ही खिलाये। वह अगर एक रुपया कमीशन लेगा तो उसकी जगह पाँच का फायदा करा देगा। इन महाशय के यहाँ क्या है? इसलिए आप जो चाहें करें, मेरी तो कभी इनसे निभ ही नहीं सकती।

शहबाज़ खाँ बोले—हाँ, नेक और पाक-साफ रहना जरूर अच्छी चीज है, मगर ऐसी नेकी ही से क्या जो दूसरों की जान ही ले ले।

बूढ़े हरिदास की बातों की जिन लोगों ने पुष्टि की थी वे सब गोपालदास की हाँ-मे-हाँ मिलाने लगे। निर्बल आत्माओं में सचाई का प्रकाश जुगनू की चमक है।

(४)

सरदार साहब के एक पुत्री थी। उसका विवाह मेरठ के एक वकील के लड़के से ठहरा था। लड़का होनहार था। जाति-कुल ऊँचा था। सरदार साहब ने कई महीने की दौड-धूप में इस विवाह को तय किया था। और सब बातें तय हो चुकी थीं, केवल दहेज का निर्णय नहीं हुआ था। आज वकील साहब का एक पत्र आया। उसने इस बात का भी निश्चय कर दिया, मगर विश्वास, आशा और वचन के बिलकुल प्रतिकूल। पहले वकील साहब ने एक जिले के इञ्जीनियर के साथ किसी प्रकार का ठहराव व्यर्थ समझा। बड़ी सस्ती उदारता प्रकट की। इस लज्जित और घृणित व्यवहार पर खूब आँसू बहाये। मगर जब ज्यादा पूछ-ताछ करने पर सरदार साहब के धन-वैभव का भेद खुल गया तब दहेज का ठहराना आवश्यक हो गया। सरदार साहब ने आशंकित हाथों से पत्र खोला। पाँच हज़ार रुपये से कम पर विवाह नहीं हो सकता। वकील साहब को बहुत खेद और लज्जा थी कि वे इस विषय मे स्पष्ट होने पर मजबूर किये गये। मगर वे अपने खानदान के कई बूढ़े, खुर्राट, विचारहीन, स्वार्थान्ध महात्माओं के हाथों बहुत तङ्ग थे। उनका कोई वश न था। इञ्जीनियर साहब ने एक लम्बी साँस खींची। सारी आशाएँ मिट्टी में मिल गयीं। क्या सोचते थे, क्या हो गया। विकल होकर कमरे मे टहलने लगे।

उन्होंने जरा देर पीछे पत्र को उठा लिया और अन्दर चले गये। विचारा

कि यह पत्र रामा को सुनावें, मगर फिर ख्याल आया कि यहाँ सहानुभूति की कोई आशा नहीं। क्यों अपनी निर्बलता दिखाऊँ? क्यों मूर्ख बनूँ? वह बिना तानों के बात न करेगी। यह सोचकर वे आँगन से लौट गये।

सरदार साहब स्वभाव के बड़े दयालु थे और कोमल हृदय आपत्तियों में स्थिर नहीं रह सकता। वे दुःख और ग्लानि से भरे हुए सोच रहे थे कि मैंने ऐसे कौन से बुरे काम किये हैं जिनका मुझे यह फल मिल रहा है। बरसों की दौड़-धूप के बाद जो कार्य सिद्ध हुआ था वह क्षण-मात्र में नष्ट हो गया। अब वह मेरी सामर्थ्य से बाहर है। मैं उसे नहीं सम्हाल सकता। चारों ओर अन्धकार है। कहीं आशा का प्रकाश नहीं। कोई मेरा सहायक नहीं। उनके नेत्र सजल हो गये।

सामने मेज पर ठेकेदारों के बिल रखे हुए थे। वे कई सप्ताहों से यों ही पड़े थे। सरदार साहब ने उन्हें खोलकर भी न देखा था। आज इस आत्मिक ग्लानि और नैराश्य की अवस्था में उन्होंने इन बिलों को सतृष्ण आँखों से देखा। ज़रा से इशारे पर ये सारी कठिनाइयाँ दूर हो सकती हैं। चपरासी और क्लर्क केवल मेरी सम्मति के सहारे सब कुछ कर लेंगे। मुझे जबान हिलाने की भी जरूरत नहीं। न मुझे लज्जित ही होना पड़ेगा। इन विचारों का इतना प्राबल्य हुआ कि वे वास्तव में बिलों को उठाकर गौर से देखने और हिसाब लगाने लगे कि उनमे कितनी निकासी हो सकती है।

मगर शीघ्र ही आत्मा ने उन्हें जगा दिया—आह! मैं किस भ्रम में पड़ा हुआ हूँ? क्या उस आत्मिक पवित्रता को, जो मेरी जन्म-भर की कमाई है, केवल थोड़े से धन पर अर्पण कर दूँ? जो मैं अपने सहकारियों के सामने गर्व से सिर उठाये चलता था, जिससे मोटरकारवाले भ्रातृगण आँखें नहीं मिला सकते थे, वही मैं आज अपने उस सारे गौरव और मान को, अपनी सम्पूर्ण आत्मिक सम्पत्ति को दस-पाँच हजार रुपयों पर त्याग दूँ। ऐसा कदापि नहीं हो सकता।

तब उस कुविचार को परास्त करने के लिए, जिसने क्षण-मात्र के लिए उन पर विजय पा ली थी, वे उस सुनसान कमरे में जोर से ठठाकर हँसे। चाहे यह हँसी उन बिलों ने और कमरे की दीवारों ने सुनी हो, चाहे न सुनी हो, मगर

उनकी आत्मा ने अवश्य सुनी। उस आत्मा को एक कठिन परीक्षा से पार पाने पर परम आनन्द हुआ।

सरदार साहब ने उन बिलों को उठाकर मेज के नीचे डाल दिया। फिर उन्हें पैरों से कुचला। तब इस विजय पर मुस्कुराते हुए वे अन्दर गये।

(५)

बड़े इञ्जीनियर साहब नियत समय पर शाहजहाँपुर आये। उनके साथ सरदार साहब का दुर्भाग्य भी आया। जिले के सारे काम अधूरे पड़े हुए थे। उनके खानसामा ने कहा—हुजूर! काम कैसे पूरा हो? सरदार साहब ठेकेदारों को बहुत तंग करते हैं। हेड क्लर्क ने दफ्तर के हिसाब को भ्रम और भूलों से भरा हुआ पाया। उन्हें सरदार साहब की तरफ से न कोई दावत दी गयी न कोई भेंट। तो क्या वे सरदार साहब के कोई नातेदार थे जो गलतियाँ न निकालते!

जिले के ठेकेदारों ने एक बहुमूल्य डाली सजाई और उसे बड़े इञ्जीनियर साहब की सेवा में लेकर हाजिर हुए। वे बोले—हुजूर! चाहे गुलामों को गोली मार दें, मगर सरदार साहब का अन्याय अब नहीं सहा जाता। कहने को तो कमीशन नहीं लेते, मगर सच पूछिए तो जान ले लेते हैं।

चीफ इञ्जीनियर साहब ने मुआइने की किताब में लिखा—'सरदार शिवसिंह बहुत ईमानदार आदमी हैं। उनका चरित्र उज्ज्वल है, मगर वे इतने बड़े जिले के कार्य का भार नहीं सँभाल सकते।'

परिणाम यह हुआ कि वे एक छोटे जिले में भेज दिये गये और उनका दरजा भी घटा दिया गया।

सरदार साहब के मित्रों और स्नेहियों ने बड़े समारोह से एक जलसा किया। उसमें उनकी धर्मनिष्ठा और स्वतन्त्रता की प्रशंसा की। सभापति ने सजल नेत्र होकर कम्पित स्वर में कहा—सरदार साहब के वियोग का दुःख हमारे दिल में सदा खटकता रहेगा। यह घाव कभी न भरेगा।

मगर 'फेयरवेल डिनर' में यह बात सिद्ध हो गयी कि स्वादिष्ट पदार्थों के सामने वियोग का दुःख दुस्सह नहीं।

यात्रा के सामान तैयार थे। सरदार साहब जलसे से आये तो रामा ने उन्हें बहुत उदास और मलिनमुख देखा। उसने बार-बार कहा था कि बड़े इञ्जीनियर

के खानसामा को इनाम दो, हेड क्लर्क की दावत करो, मगर सरदार साहब ने उसकी बात न मानी थी। इसलिए जब उसने सुना कि उनका दरजा घटा और बदली भी हुई तब उसने बड़ी निर्दयता से अपने व्यग्य बाण चलाये। मगर इस वक्त उन्हें उदास देखकर उससे न रहा गया। बोली—क्यों इतने उदास हो ? सरदार साहब ने उत्तर दिया—क्या करूँ, हँसूँ ? रामा ने गम्भीर स्वर से कहा—हँसना ही चाहिए। रोये तो वह जिसने कौड़ियों पर अपनी आत्मा भ्रष्ट की हो—जिसने रुपयो पर अपना धर्म बेचा हो। यह बुराई का दण्ड नहीं है। यह भलाई और सज्जनता का दण्ड है, इसे सानन्द झेलना चाहिए।

यह कहकर उसने पति की ओर देखा तो नेत्रों में सच्चा अनुराग भरा हुआ दिखायी दिया। सरदार साहब ने भी उसकी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखा। उनकी हृदयेश्वरी का मुखारविन्द सच्चे आमोद से विकसित था। उसे गले लगाकर वे बोले—रामा! मुझे तुम्हारी ही सहानुभूति की जरूरत थी, अब मैं इस दण्ड को सहर्ष सहूँगा।

———

नमक का दारोगा

(१)

जब नमक का नया विभाग बना और ईश्वरदत्त वस्तु के व्यवहार करने का निषेध हो गया तो लोग चोरी-छिपे इसका व्यापार करने लगे। अनेक प्रकार के छल-प्रपंचों का सूत्रपात हुआ, कोई घूस से काम निकालता था, कोई चालाकी से। अधिकारियों के पौ बारह थे। पटवारीगिरी का सर्वसम्मानित पद छोड-छोड़कर लोग इस विभाग की बरकन्दाजी करते थे। इसके दारोगा-पद के लिए तो वकीलों का भी जी ललचता था। यह वह समय था जब अँगरेजी शिक्षा और ईसाई मत को लोग एक ही वस्तु समझते थे। फारसी का प्राबल्य था। प्रेम की कथाएँ और शृङ्गार रस के काव्य पढ़कर फारसी-दाँ लोग सर्वोच्च पदों पर नियुक्त हो जाया करते थे। मुन्शी वशीधर भी जुलेखा की विरह-कथा समाप्त करके मजनू और फरहाद के प्रेम-वृत्तान्त को नल और नील की लडाई और अमेरिका के आविष्कार से अधिक महत्व की बातें समझते हुए रोजगार की खोज मे निकले। उनके पिता एक अनुभवी पुरुष थे। समझाने लगे, 'बेटा! घर की दुर्दशा देख रहे हो। ऋण के बोझ मे दबे हुए हैं। लड़कियाँ हैं, वह घास-फूस की तरह बढ़ती चली जाती हैं। मैं करारे पर का वृक्ष हो रहा हूँ, न मालूम कब गिर पड़ूँ। अब तुम्हीं घर के मालिक-मुख्तार हो। नौकरी में ओहदे की ओर ध्यान मत देना, यह तो पीर का मजार है। निगाह चढावे और चादर पर रखनी चाहिए। ऐसा काम ढूँढना जहाँ कुछ ऊपरी आय हो। मासिक वेतन तो पूर्णमासी का चाँद है, जो एक दिन दिखायी देता है और घटते-घटते लुप्त हो जाता है। ऊपरी आय बहता हुआ स्रोत है जिससे सदैव प्यास बुझती है। वेतन मनुष्य देता है इसी से उसमें वृद्धि नहीं होती। ऊपरी आमदनी ईश्वर देता है, इसी से उसमें बरकत होती है। तुम स्वयं विद्वान् हो, तुम्हें क्या समझाऊँ। इस विषय में विवेक की बड़ी आवश्यकता है। मनुष्य को देखो, उसकी आवश्यकता को देखो और

अवसर देखो, उसके उपरान्त जो उचित समझो, करो। गरजवाले आदमी के साथ कठोरता करने में लाभ-ही-लाभ है। लेकिन बेगरज को दाँव पर पाना जरा कठिन है। इन बातों को निगाह में बाँध लो। यह मेरी जनम-भर की कमाई है।

इस उपदेश के बाद पिताजी ने आशीर्वाद दिया। वशीधर आज्ञाकारी पुत्र थे। ये बातें ध्यान से सुनीं और तब घर से चल खड़े हुए। इस विस्तृत संसार में उनके लिए धैर्य अपना मित्र, बुद्धि अपनी पथदर्शक और आत्मावलम्बन ही अपना सहायक था। लेकिन अच्छे शकुन से चले थे, जाते-ही-जाते नमक-विभाग के दारोगा पद पर प्रतिष्ठित हो गये। वेतन अच्छा और ऊपरी आय का तो ठिकाना ही न था। वृद्ध मुन्शीजी को सुख-संवाद मिला तो फूले न समाये। महाजन लोग कुछ नरम पडे, कलवार की आशालता लहलहायी। पडोसियों के हृदय में शूल उठने लगे।

(२)

जाडे के दिन थे और रात का समय। नमक के सिपाही, चौकीदार नशे में मस्त थे। मुन्शी वशीधर को यहाँ आये अभी छः महीनों से अधिक न हुए थे, लेकिन इस थोडे समय में ही उन्होंने अपनी कार्य-कुशलता और उत्तम आचरण से अफसरों को मोहित कर लिया था। अफसर लोग उन पर बहुत विश्वास करने लगे। नमक के दफ्तर से एक मील पूर्व की ओर जमुना बहती थी, उस पर नावों का एक पुल बना हुआ था। दारोगाजी किवाड बन्द किये मीठी नींद सो रहे थे। अचानक आँख खुली तो नदी के प्रवाह की जगह गाडियों की गड़गडाहट तथा मल्लाहों का कोलाहल सुनायी दिया। उठ बैठे। इतनी रात गये गाडियाँ क्यों नदी के पार जाती हैं? अवश्य कुछ-न-कुछ गोलमाल है। तर्क ने भ्रम को पुष्ट किया। वरदी पहनी, तमंचा जेब में रखा और बात-की-बात में घोडा बढाये हुए पुल पर आ पहुँचे। गाडियों की एक लम्बी कतार पुल के पार जाते देखी। डाँटकर पूछा—किसकी गाड़ियाँ हैं?

थोड़ी देर तक सन्नाटा रहा। आदमियों में कुछ काना-फूँसी हुई, तब आगे वाले ने कहा—पण्डित अलोपीदीन की।

"कौन पण्डित अलोपीदीन?"

"दातागंज के।"

मुन्शी वंशीधर चौंके। पण्डित अलोपीदीन इस इलाके के सबसे प्रतिष्ठित जमींदार थे। लाखों रुपये का लेन-देन करते थे, इधर छोटे से बड़े कौन ऐसे थे जो उनके ऋणी न हों। व्यापार भी बडा लम्बा-चौड़ा था। बडे चलते-पुरजे आदमी थे। अँगरेज अफसर उनके इलाके में शिकार खेलने आते। और उनके मेहमान होते। बारहों मास सदाव्रत चलता था।

मुन्शीजी ने पूछा—गाड़ियाँ कहाँ जायँगी? उत्तर मिला, कानपुर। लेकिन इस प्रश्न पर कि इनमें है क्या, फिर सन्नाटा छा गया। दारोगा साहब का सन्देह और भी बढा। कुछ देर तक उत्तर की बाट देखकर वह जोर से बोले, क्या तुम सब गूँगे हो गये हो? हम पूछते हैं, इनमें क्या लदा है?

जब इस बार भी कोई उत्तर न मिला तो उन्होंने घोडे को एक गाड़ी से मिलाकर बोरे को टटोला। भ्रम दूर हो गया। यह नमक के ढेले थे।

(२)

पण्डित अलोपीदीन अपने सजीले रथ पर सवार, कुछ सोते, कुछ जागते चले आते थे। अचानक कई गाड़ीवानों ने घबराये हुए आकर जगाया और बोले—महाराज! दारोगा ने गाड़ियाँ रोक दी हैं और घाट पर खड़े आपको बुलाते हैं।

पडित अलोपीदीन का लक्ष्मीजी पर अखंड विश्वास था। वह कहा करते थे कि संसार का तो कहना ही क्या स्वर्ग में भी लक्ष्मी का ही राज्य है। उनका यह कहना यथार्थ ही था। न्याय और नीति सब लक्ष्मी के ही खिलौने हैं, इन्हें वह जैसे चाहती नचाती हैं। लेटे-ही-लेटे गर्व से बोले, चलो हम आते हैं। यह कहकर पडितजी ने बड़ी निश्चिंतता से पान के बीडे लगाकर खाये। फिर लिहाफ ओढे हुए दारोगा के पास आकर बोले, बाबूजी आशीर्वाद। कहिए, हमसे ऐसा कौन-सा अपराध हुआ कि गाड़ियाँ रोक दी गयीं। हम ब्राह्मणों पर तो आपकी कृपा दृष्टि रहनी चाहिए।

वशीधर रुखाई से बोले—सरकारी हुक्म!

पं० अलोपीदीन ने हँसकर कहा—हम सरकारी हुक्म को नहीं जानते और न सरकार को। हमारे सरकार तो आप ही हैं। हमारा और आपका तो घर

का मामला है, हम कभी आपसे बाहर हो सकते हैं? आपने व्यर्थ का कष्ट उठाया। यह हो नहीं सकता कि इधर से जायँ और इस घाट के देवता को भेंट न चढावें। मैं तो आपकी सेवा में स्वय ही आ रहा था।

वशीधर पर ऐश्वर्य की मोहिनी वशी का कुछ प्रभाव न पड़ा। ईमानदारी की नयी उमग थी। कड़ककर बोले—हम उन नमकहरामों में नहीं हैं जो कौडियों पर अपना ईमान बेचते फिरते हैं। आप इस समय हिरासत में हैं। सवेरे आपका कायदे के अनुसार चालान होगा। बस, मुझे अधिक बातों की फ़ुर्सत नहीं है। जमादार बदलूसिंह! तुम इन्हें हिरासत में ले चलो, मैं हुक्म देता हूँ।

पं० अलोपीदीन स्तम्भित हो गये। गाडीवानों में हलचल मच गयी। पडितजी के जीवन में कदाचित् यह पहला ही अवसर था कि पडितजी को ऐसी कठोर बातें सुननी पडीं। बदलूसिंह आगे बढा, किन्तु रोब के मारे यह साहस न हुआ कि उनका हाथ पकड़ सके। पडितजी ने धर्म को धन का ऐसा निरादर करते कभी न देखा था। विचार किया कि यह अभी उद्दड लडका है। माया-मोह के जाल में अभी नहीं पड़ा। अल्हड़ है, झिझकता है। बहुत दीन-भाव से बोले—बाबू साहब ऐसा न कीजिए, हम मिट जायेंगे। इज्जत धूल में मिल जायेगी। हमारा अपमान करने से आपके क्या हाथ आयेगा। हम किसी तरह आपसे बाहर थोडे ही हैं?

वशीधर ने कठोर स्वर में कहा—हम ऐसी बातें नहीं सुनना चाहते।

अलोपीदीन ने जिस सहारे को चट्टान समझ रखी थी, वह पैरों के नीचे खिसकता हुआ मालूम हुआ। स्वाभिमान और धन-ऐश्वर्य को कड़ी चोट लगी। किन्तु अभी तक धन की सांख्यिक शक्ति का पूरा भरोसा था। अपने मुख्तार से बोले—लालाजी, एक हजार के नोट बाबू साहब की भेंट करो, आप इस समय भूखे सिंह हो रहे हैं।

वशीधर ने गरम होकर कहा—एक हजार नहीं, एक लाख भी मुझे सच्चे मार्ग से नहीं हटा सकते।

धर्म की इस बुद्धिहीन दृढता और देव-दुर्लभ त्याग पर मन बहुत झुँझलाया। अब दोनों शक्तियों में सग्राम होने लगा। धन ने उछल-उछलकर आक्रमण करने शुरू किये। एक से पाँच, पाँच से दस, दस से पन्द्रह और

पन्द्रह से बीस हजार तक नौबत पहुँची, किन्तु धर्म अलौकिक वीरता के साथ इस बहुसख्यक सेना के सम्मुख अकेला पर्वत की भाँति अटल, अविचलित खड़ा था।

अलोपीदीन निराश होकर बोले—अब इससे अधिक मेरा साहस नहीं। आगे आपको अधिकार है।

वशीधर ने अपने जमादार को ललकारा। बदलूसिंह मन में दारोगाजी को गालियाँ देता हुआ पंडित अलोपीदीन की ओर बढ़ा। पंडितजी घबड़ाकर दो-तीन कदम पीछे हट गये। अत्यन्त दीनता से बोले—बाबू साहब, ईश्वर के लिए मुझ पर दया कीजिए, मैं पच्चीस हजार पर निपटारा करने को तैयार हूँ।

"असम्भव बात है।"

"तोस हज़ार पर?"

"किसी तरह भी सम्भव नहीं।"

"क्या चालीस हज़ार पर भी नहीं।"

"चालीस हजार नहीं, चालीस लाख पर भी असम्भव है। बदलूसिंह! इस आदमी को अभी हिरासत में ले लो। अब मैं एक शब्द भी नहीं सुनना चाहता।"

धर्म ने धन को पैरों तले कुचल डाला। अलोपीदीन ने एक हृष्ट-पुष्ट मनुष्य को हथकड़ियाँ लिये हुए अपनी तरफ आते देखा। चारों ओर निराश और कातर दृष्टि से देखने लगे। इसके बाद यकायक मूर्च्छित होकर गिर पड़े।

(४)

दुनिया सोती थी, पर दुनिया की जीभ जागती थी। सवेरे ही देखिए तो बालक, वृद्ध सब के मुँह से यही बात सुनायी देती थी। जिसे देखिए वही पंडितजी के इस व्यवहार पर टीका-टिप्पणी कर रहा था, निन्दा की बौछारें हो रही थीं, मानों संसार से अब पापी का पाप कट गया। पानी को दूध के नाम से बेचनेवाला ग्वाला, कल्पित रोजनामचे भरने वाले अधिकारी वर्ग, रेल में बिना टिकट सफर करनेवाले बाबू लोग, जाली दस्तावेज बनानेवाले सेठ और साहूकार, यह सब-के-सब देवताओं की भाँति गर्दनें हिला रहे थे। जब दूसरे दिन पंडित अलोपीदीन अभियुक्त होकर कांस्टेबलों के साथ, हाथों में हथकड़ियाँ

हृदय में ग्लानि और क्षोभ भरे, लज्जा से गर्दन झुकाये अदालत की तरफ चले तो सारे शहर में हलचल मच गयी। मेलों में कदाचित् आँखें इतनी व्यग्र न होती होंगी। भीड़ के मारे छत और दीवार में कोई भेद न रहा।

किन्तु अदालत में पहुँचने की देर थी। पण्डित अलोपीदीन इस अगाध वन के सिंह थे। अधिकारी-वर्ग उनके भक्त, अमले उनके सेवक, वकील-मुख्तार उनके आज्ञापालक और अरदली, चपरासी, तथा चौकीदार तो उनके बिना मोल के गुलाम थे। उन्हें देखते ही लोग चारों तरफ से दौड़े। सभी लोग विस्मित हो रहे थे। इसलिए नहीं कि अलोपीदीन ने क्यों यह कर्म किया बल्कि इसलिए कि वह कानून के पजे में कैसे आये? ऐसा मनुष्य जिसके पास असाध्य साधन करनेवाला धन और अनन्य वाचालता हो वह क्यों कानून के पजे में आये। प्रत्येक मनुष्य उनसे सहानुभूति प्रकट करता था। बड़ी तत्परता से इस आक्रमण को रोकने के निमित्त वकीलों की एक सेना तैयार की गयी। न्याय के मैदान में धर्म और धन में युद्ध ठन गया। वशीधर चुपचाप खडे थे। उनके पास सत्य के सिवा न कोई बल था, न स्पष्ट भाषण के अतिरिक्त कोई शस्त्र। गवाह थे, किन्तु लोभ से डावाँडोल।

यहाँ तक कि मुन्शीजी को न्याय भी अपनी ओर से कुछ खिंचा हुआ देख पड़ता था। वह न्याय का दरबार था, परन्तु उसके कर्मचारियों पर पक्षपात का नशा छाया हुआ था। किन्तु पक्षपात और न्याय का क्या मेल? जहाँ पक्षपात हो, वहाँ न्याय की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मुकद्दमा शीघ्र ही समाप्त हो गया। डिप्टी मैजिस्ट्रेट ने अपनी तजवीज में लिखा, पंडित अलोपीदीन के विरुद्ध दिये गये प्रमाण निर्मूल और भ्रमात्मक हैं। वह एक बड़े भारी आदमी हैं। यह बात कल्पना से बाहर है कि उन्होंने थोड़े लाभ के लिए ऐसा दुस्साहस किया हो। यद्यपि नमक के दारोगा मुन्शी वशीधर का अधिक दोष नहीं है, लेकिन यह बड़े खेद की बात है कि उनकी उद्दण्डता और अविचार के कारण एक भले-मानुष को कष्ट झेलना पडा। हम प्रसन्न हैं कि वह अपने काम में सजग और सचेत रहता है, किन्तु नमक के मुहकमे की बढी हुई नमक-हलाली ने उसके विवेक और बुद्धि को भ्रष्ट कर दिया। भविष्य में उसे होशियार रहना चाहिए।

वकीलों ने यह फैसला सुना और उछल पड़े। पंडित अलोपीदीन मुसकराते हुए बाहर निकले। स्वजन बान्धवों ने रुपयों की लूट की। उदारता का सागर उमड पड़ा। उसकी लहरों ने अदालत की नींव तक हिला दी। जब वंशीधर बाहर निकले तो चारों ओर से उनके ऊपर व्यग्य-बाणों की वर्षा होने लगी। चपरासियों ने झुक-झुककर सलाम किये। किन्तु इस समय एक-एक कटुवाक्य, एक-एक संकेत उनकी गर्वाग्नि को प्रज्वलित कर रहा था। कदाचित् इस मुकद्दमे में सफल होकर वह इस तरह अकड़ते हुए न चलते। आज उन्हें संसार का एक खेदजनक विचित्र अनुभव हुआ। न्याय और विद्वत्ता, लम्बी-चौड़ी उपाधियाँ, बड़ी-बड़ी दाढियाँ और ढीले चोंगे एक भी सच्चे आदर के पात्र नहीं हैं।

वंशीधर ने धन से बैर मोल लिया था, उसका मूल्य चुकाना अनिवार्य था। कठिनता से एक सप्ताह बीता होगा कि मुअत्तली का परवाना आ पहुँचा। कार्यपरायणता का दंड मिला। बेचारे भग्न-हृदय, शोक-खेद से व्यथित घर को चले। बूढ़े मुन्शीजी तो पहले ही से कुड़-बुड़ा रहे थे कि चलते-चलते इस लड़के को समझाया था, लेकिन इसने एक न सुनी। बस मनमानी करता है। हम तो कलार और कसाई के तगादे सहें, बुढ़ापे में भगत बनकर बैठें और वहाँ बस वही सूखी तनख्वाह! हमने भी तो नौकरी की है और कोई ओहदेदार नहीं थे, लेकिन जो काम किया, दिल खोलकर किया और आप ईमानदार बनने चले हैं। घर में चाहे अँधेरा, मस्जिद में अवश्य दिया जलायेंगे। खेद, ऐसी समझ पर! पढ़ना-लिखना सब अकारथ गया। इसके थोड़े ही दिनों बाद, जब मुन्शी वंशीधर इस दुरवस्था में घर पहुँचे और बूढ़े पिताजी ने यह समाचार सुना तो सिर पीट लिया। बोले—जी चाहता है कि तुम्हारा और अपना सिर फोड लूँ। बहुत देर तक पछता-पछताकर हाथ मलते रहे। क्रोध में कुछ कठोर बातें भी कहीं और यदि वंशीधर वहाँ से टल न जाते तो अवश्य ही यह क्रोध विकट रूप धारण करता। वृद्धा माता को भी दुःख हुआ। जगन्नाथ और रामेश्वर-यात्रा की कामनाएँ मिट्टी में मिल गयीं। पत्नी ने तो कई दिन तक सीधे मुँह से बात भी नहीं की।

इसी प्रकार एक सप्ताह बीत गया। सन्ध्या का समय था बूढ़े मुन्शीजी

बैठे राम-नाम की माला जप रहे थे। इसी समय उनके द्वार पर एक सजा हुआ रथ आकर रुका। हरे और गुलाबी परदे, पछहियें बैलों की जोडी, उनकी गर्दनों में नीले धागे, सींगें पीतल से जड़ी हुई। कई नौकर लाठियाँ कन्धों पर रखे साथ थे। मुन्शीजी अगुवानी को दौडे। देखा तो पण्डित अलोपीदीन हैं। झुककर दडवत की और लल्लो-चप्पो की बातें करने लगे, हमारा भाग्य उदय हुआ, जो आपके चरण इस द्वार पर आये। आप हमारे पूज्य देवता हैं, आपको कौन-सा मुँह दिखावें, मुँह में तो कालिख लगी हुई है। किन्तु क्या करें, लडका अभागा कपूत है, नहीं तो आपसे क्यों मुँह छिपाना पडता? ईश्वर निस्सन्तान चाहे रखे पर ऐसी सन्तान न दे।

अलोपीदीन ने कहा—नहीं भाई साहब, ऐसा न कहिए।

मुन्शीजी ने चकित होकर कहा—ऐसी सन्तान को और क्या कहूँ?

अलोपीदीन ने वात्सल्यपूर्ण स्वर से कहा—कुलतिलक और पुरुषों की कीत उज्ज्वल करनेवाले ससार में ऐसे कितने धर्मपरायण मनुष्य हैं जो धर्म पर अपना सब कुछ अर्पण कर सकें?

प० अलोपीदीन ने वशीधर से कहा—दारोगाजी, इसे खुशामद न समझिएगा, खुशामद करने के लिए मुझे इतना कष्ट उठाने की जरूरत न थी। उस रात को आपने अपने अधिकार-बल से मुझे अपनी हिरासत में लिया था, किन्तु आज मैं स्वेच्छा से आपकी हिरासत में आया हूँ। मैंने हजारों रईस और अमीर देखे, हजारों उच्च पदाधिकारियों से काम पड़ा किन्तु मुझे परास्त किया तो आपने। मैंने सबको अपना और अपने धनका गुलाम बनाकर छोड दिया। मुझे आज्ञा दीजिए कि आपसे कुछ विनय करूँ।

वशीधर ने अलोपीदीन को आते देखा तो उठकर सत्कार किया, किन्तु स्वाभिमान सहित। समझ गये कि यह महाशय मुझे लज्जित करने और जलाने आये हैं। क्षमा-प्रार्थना की चेष्टा नहीं की, वरन् उन्हें अपने पिता की यह ठकुरसुहाती की बात असह्य-सी प्रतीत हुई। पर पण्डितजी की बातें सुनीं तो मन की मैल मिट गयी। पण्डितजी की ओर उडती हुई दृष्टि से देखा। सद्भाव झलक रहा था। गर्व ने अब लज्जा के सामने सिर झुका दिया। शर्माते हुए बोले—यह आपकी उदारता है जो ऐसा कहते हैं। मुझसे जो कुछ अविनय हुई

है, उसे क्षमा कीजिए। मैं धर्म की वेडी में जकड़ा हुआ था। नहीं तो वैसे मैं आपका दास हूँ। जो आज्ञा होगी; वह मेरे सिर-माथे पर।

अलोपीदीन ने विनीत-भाव से कहा—नदी के तट पर आपने मेरी प्रार्थना नहीं स्वीकार की थी, किन्तु आज स्वीकार करनी पड़ेगी।

वंशीधर बोले—मैं किस योग्य हूँ, किन्तु जो कुछ सेवा मुझसे हो सकती है उसमें त्रुटि न होगी।

अलोपीदीन ने एक स्टाम्प लगा हुआ पत्र निकाला और उसे वंशीधर के सामने रखकर बोले—इस पद को स्वीकार कीजिए और अपने हस्ताक्षर कर दीजिए। मैं ब्राह्मण हूँ, जब तक यह सवाल पूरा न कीजिएगा, द्वार से न हटूँगा।

मुन्शी वंशीधर ने उस कागज को पढ़ा तो कृतज्ञता से आँखों में आँसू भर आये। पण्डित अलोपीदीन ने उन्हें अपनी सारी जायदाद का स्थायी मैनेजर नियत किया था। छः हजार वार्षिक वेतन के अतिरिक्त रोजाना खर्च अलग, सवारी के लिए घोड़े, रहने को बँगला, नौकर-चाकर मुफ्त। कम्पित स्वर से बोले—पण्डितजी, मुझमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि आपकी इस उदारता की प्रशंसा कर सकूँ। किन्तु मैं ऐसे उच्च पद के योग्य नहीं हूँ।

अलोपीदीन हँसकर बोले—मुझे इस समय एक अयोग्य मनुष्य की ही जरूरत है।

वंशीधर ने गम्भीर-भाव से कहा—यों मैं आपका दास हूँ। आप जैसे कीर्तिवान, सज्जन पुरुष की सेवा करना मेरे लिए सौभाग्य की बात है। किन्तु मुझमें न विद्या है, न बुद्धि, न वह अनुभव जो इन त्रुटियों की पूर्ति कर देता है। ऐसे महान् कार्य के लिए एक बड़े मर्मज्ञ अनुभवी मनुष्य की ज़रूरत है।

अलोपीदीन ने कलमदान से कलम निकाली और उसे वंशीधर के हाथ में देकर बोले—न मुझे विद्वत्ता की चाह है, न अनुभव की, न मर्मज्ञता की, न कार्य-कुशलता की। इन गुणों के महत्व का परिचय खूब पा चुका हूँ। अब सौभाग्य और सुअवसर ने मुझे वह मोती दे दिया है जिसके सामने योग्यता और विद्वत्ता की चमक फीकी पड़ जाती है। यह कलम लीजिए, अधिक सोच-विचार न कीजिए, दस्तखत कर दीजिए। परमात्मा से यही प्रार्थना है कि वह

आपको सदैव वही नदी के किनारे वाला, बेमुरौवत, उद्दण्ड, कठोर, परन्तु धर्मनिष्ठ दारोगा बनाये रखे।

वंशीधर की आँखें डबडबा आयीं। हृदय के संकुचित पात्र में इतना एहसान न समा सका। एक बार फिर पण्डितजी की ओर भक्ति और श्रद्धा की दृष्टि से देखा और काँपते हुए हाथ से मैनेजरी के कागज पर हस्ताक्षर कर दिये।

अलोपीदीन ने प्रफुल्लित होकर उन्हें गले लगा लिया।

उपदेश

(३)

प्रयाग के सुशिक्षित समाज में पण्डित देवरत्न शर्मा वास्तव में एक रत्न थे। शिक्षा भी उन्होंने उच्च श्रेणी की पायी थी और कुल के भी उच्च थे। न्यायशीला गवर्नमेण्ट ने उन्हें एक उच्चपद पर नियुक्त करना चाहा, पर उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता का घात करना उचित न समझा। उनके कई शुभचिन्तक मित्रों ने बहुत समझाया कि इस सुअवसर को हाथ से मत जाने दो, सरकारी नौकरी बड़े भाग्य से मिलती है, बड़े-बड़े लोग इसके लिए तरसते हैं और कामना लिये ही संसार से प्रस्थान कर जाते हैं। अपने कुल की कीर्ति उज्ज्वल करने का इससे सुगम और मार्ग नहीं है, इसे कल्पवृक्ष समझो। विभव, सम्पत्ति, सम्मान और ख्याति यह सब इसके दास हैं। रह गयी देश-सेवा, सो तुम्हीं देश के लिए क्यों प्राण देते हो? इस नगर में अनेक बड़े-बड़े विद्वान् और धनवान् पुरुष हैं, जो सुख-चैन से बँगलों में रहते और मोटरों पर हरहराते, धन की आँधी उड़ाते घूमते हैं। क्या वे लोग देश-सेवक नहीं हैं? जब आवश्यकता होती है या कोई अवसर आता है तो वे देश-सेवा में निमग्न हो जाते हैं। अभी जब म्युनिसिपल चुनाव का झगड़ा छिड़ा तो 'मेयोहाल" के हाते में मोटरों का ताँता लगा हुआ था। भवन के भीतर राष्ट्रीय गीतों और व्याख्यानों की भरमार थी। पर इनमें से कौन ऐसा है, जिसने स्वार्थ को तिलाञ्जलि दे रखी हो! संसार का नियम ही है कि पहले घर में दीया जलाकर तब मस्जिद में जलाया जाता है। सच्ची बात तो यह है कि यह जातीयता की चर्चा कुछ कालेज के विद्यार्थियों को ही शोभा देती है। जब संसार में प्रवेश हुआ तो कहाँ की जाति और कहाँ की जातीय चर्चा। संसार की यही रीति है। फिर तुम्हीं को काजी बनने की क्या जरूरत? यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो सरकारी पद पाकर मनुष्य अपने देश-भाइयों की जैसी सच्ची सेवा कर सकता है वैसी किसी अन्य अवस्था में कदापि नहीं कर सकता। एक दयालु दारोगा सैकड़ों जातीय सेवकों से अच्छा है। एक

न्यायशील, धर्म-परायण मजिस्ट्रेट सहस्रों जातीय दानवीरों से अधिक सेवा कर सकता है। इसके लिए केवल हृदय में लगन चाहिए। मनुष्य चाहे जिस अवस्था में हो देश का हित-साधन कर सकता है। इसलिए अब अधिक आगा-पीछा न करो, चटपट पद को स्वीकार कर लो।

शर्माजी को और युक्तियाँ कुछ न जँची, पर इस अंतिम युक्ति की सारगर्भिता से वह इनकार न कर सके। लेकिन फिर भी चाहे नियम-परायणता के कारण, चाहे केवल आलस्य के वश, जो बहुधा ऐसी दशा में जातीय सेवा का गौरव पा जाता है, उन्होंने नौकरी से अलग रहने में ही अपना कल्याण समझा। उनके इस स्वार्थ-त्याग पर कालेज के नवयुवकों ने उन्हें खूब बधाइयाँ दीं। इस आत्म-विजय पर एक जातीय ड्रामा खेला गया, जिसके नायक हमारे शर्माजी ही थे। समाज की उच्च श्रेणियों में इस आत्म-त्याग की चर्चा हुई और शर्माजी को अच्छी-खासी ख्याति प्राप्त हो गयी। इसी से वह कई वर्षों से जातीय सेवा में लीन रहते थे। इस सेवा का अधिक भाग समाचारपत्रों के अवलोकन में बीतता था, जो जातीय सेवा का ही एक विशेष अङ्ग समझा जाता है। इसके अतिरिक्त वह पत्रों के लिए लेख लिखते, सभाएँ करते और उनमें फड़कते हुए व्याख्यान देते थे। शर्माजी "फ्री लाइब्रेरी" के सेक्रेटरी, 'स्टुडेण्टस्स एसोसियेशन' के सभापति, "सोशल सर्विस लीग" के सहायक मन्त्री और प्राइमरी एजूकेशन कमिटी के संस्थापक थे। कृषि-सम्बन्धी विषयों से उन्हें विशेष प्रेम था। पत्रों में जहाँ कहीं किसी नयी खाद या किसी नवीन आविष्कार का वर्णन देखते, तत्काल उस पर लाल'पेन्सिल से निशान कर देते और अपने लेखों में उसकी चर्चा करते थे। किन्तु शहर से थोड़ी दूर पर उनका एक बड़ा ग्राम होने पर भी, वह अपने किसी असामी से परिचित न थे। यहाँ तक कि कभी प्रयाग के सरकारी कृषि-क्षेत्र की सैर करने न गये थे।

(२)

उसी मुहल्ले में एक लाला बाबूलाल रहते थे। वह एक वकील के मुहर्रिर थे। थोड़ी-सी उर्दू-हिन्दी जानते थे और उसी से अपना काम भली-भाँति चला लेते थे। सूरत-शक्ल के कुछ सुन्दर न थे। उस शक्ल पर मऊ के चारखाने

की लम्बी अचकन और भी शोभा देती थी। जूता भी देशी ही पहनते थे। यद्यपि कभी-कभी वे कड़वे तेल से उसकी सेवा किया करते, पर वह नीच स्वभाव के अनुसार उन्हें काटने से न चूकता था। बेचारों को साल के ६ महीने पैरों में मलहम लगानी पड़ती। बहुधा नगे पाँव कचहरी जाते, पर कंजूस कहलाने के भय से जूतों को हाथ में ले जाते। जिस ग्राम में शर्माजी की जमींदारी थी, उनमें कुछ थोड़ा-सा हिस्सा उनका भी था। इस नाते से कभी-कभी उनके पास आया करते थे। हाँ, तातील के दिनों में गाँव चले जाते। शर्माजी को उनका आकर बैठना नागवार मालूम देता, विशेषकर जब वह फैशनेबुल मनुष्यों की उपस्थिति मे आ जाते। मुन्शीजी भी कुछ ऐसी स्थूल दृष्टि के पुरुष थे कि उन्हें अपना अनमिलापन बिलकुल दिखायी न देता। सबसे बड़ी आपत्ति यह थी कि वे बराबर कुर्सी पर डट जाते, मानों हंसों में कौआ। उस समय मित्रगण अँग्रेजी में बातें करने लगते और बाबूलाल को क्षुद्रबुद्धि, झक्की, बौड़म, बुद्धू आदि उपाधियों का पात्र बनाते। कभी-कभी उनकी हँसी उड़ाते थे। शर्माजी में इतनी सज्जनता अवश्य थी कि वे अपने विचारहीन मित्र को यथाशक्ति निरादर से बचाते थे। यथार्थ में बाबूलाल की शर्माजी पर सच्ची भक्ति थी। एक तो वह बी० ए० पास थे, दूसरे वह देशभक्त थे, बाबूलाल जैसे विद्याविहीन मनुष्य का ऐसे रत्न को आदरणीय समझना कुछ अस्वाभाविक न था।

(३)

एक बार प्रयाग में प्लेग का प्रकोप हुआ। शहर के रईस लोग निकल भागे। बेचारे गरीब चूहों की भाँति पटापट मरने लगे। शर्माजी ने भी चलने की ठानी। लेकिन 'सोशल सर्विस लीग' के वे मंत्री ठहरे। ऐसे अवसर पर निकल भागने में बदनामी का भय था। बहाना ढूँढा। 'लीग' के प्रायः सभी लोग कॉलेज में पढते थे। उन्हें बुलाकर इन शब्दों में अपना अभिप्राय प्रकट किया—मित्रवृन्द! आप अपनी जाति के दीपक हैं। आप ही इस मरणोन्मुख जाति के आशास्थल हैं। आज हम पर विपत्ति की घटाएँ छायी हुई हैं। ऐसी अवस्था में हमारी आँखें आपकी ओर न उठें तो किसकी ओर उठेंगी। मित्र, इस जीवन में देश-सेवा के अवसर बड़े सौभाग्य से मिला करते हैं। कौन जानता है कि परमात्मा ने तुम्हारी परीक्षा के लिए ही यह वज्र-प्रहार किया

हो। जनता को दिखा दो कि तुम वीरों का हृदय रखते हो, जो कितने ही संकट पड़ने पर भी विचलित नहीं होता। हाँ, दिखा दो कि वह वीर-प्रसविनी पवित्र-भूमि जिसने हरिश्चन्द्र और भरत को उत्पन्न किया, आज भी शून्यगर्भा नहीं है। जिस जाति के युवकों में अपने पीड़ित भाइयों के प्रति ऐसी करुणा और यह अटल प्रेम है वह ससार में सदैव यश-कीर्त्ति की भागी रहेगी। आइए, हम कमर बाँधकर कर्म-क्षेत्र में उतर पड़ें। इसमें सन्देह नहीं कि काम कठिन है, राह बीहड़ है, आपको अपने आमोद-प्रमोद, अपने हाकी-टेनिस, अपने मिल और मिल्टन को छोड़ना पड़ेगा। तुम जरा हिचकोगे, हटोगे और मुँह फेर लोगे, परन्तु भाइयो! जातीय सेवा का स्वर्गीय आनन्द सहज में ही नहीं मिल सकता! हमारा पुरुषत्व, हमारा मनोबल, हमारा शरीर, यदि जाति के काम न आवे तो वह व्यर्थ है। मेरी प्रबल आकांक्षा थी कि इस शुभ कार्य में मैं तुम्हारा हाथ बँटा सकता, पर आज ही देहातों में भी बीमारी फैलने का समाचार मिला है। अतएव मैं यहाँ का काम आपके सुयोग्य, सुदृढ हाथों में सौंपकर देहात में जाता हूँ कि यथासाध्य देहाती भाइयों की सेवा करूँ। मुझे विश्वास है कि आप सहर्ष मातृभूमि के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करेंगे।

इस तरह गला छुड़ाकर शर्माजी सन्ध्या समय स्टेशन पहुँचे। पर मन कुछ मलिन था। अपनी इस कायरता और निर्बलता पर मन-ही-मन लज्जित थे।

संयोगवश स्टेशन पर उनके एक वकील मित्र मिल गये। यह वही वकील थे जिनके आश्रय में बाबूलाल का निर्वाह होता था। यह भी भागे जा रहे थे। बोले—कहिए शर्माजी, किधर चले? क्या भाग खड़े हुए?

शर्माजी पर घड़ों पानी पड़ गया, पर सँभल कर बोले—भागूँ क्यों?

वकील—सारा शहर क्यों भागा जा रहा है?

शर्माजी—मैं ऐसा कायर नहीं हूँ।

वकील—यार, क्यों बातें बनाते हो, अच्छा बताओ, कहाँ जाते हो?

शर्माजी—देहातों में बीमारी फैल रही है, वहाँ कुछ 'रिलीफ़' का काम करूँगा।

वकील—यह बिल्कुल झूठ है। अभी मैं डिस्ट्रिक्ट गजट देख के चला आता हूँ। शहर के बाहर कहीं बीमारी का नाम नहीं है।

शर्माजी निरुत्तर होकर भी विवाद कर सकते थे। बोले—गजट को आप देव-वाणी समझते होंगे, मैं नहीं समझता।

वकील—आपके कान में तो आकाश के दूत कह गये होंगे? साफ-साफ क्यों नहीं कहते कि जान के डर से भागा जा रहा हूँ।

शर्माजी—अच्छा, मान लीजिए यही सही। तो क्या पाप कर रहा हूँ? सबको अपनी जान प्यारी होती है।

वकील—हाँ, अब आये राह पर। यह मरदों की-सी बात है। अपने जीवन की रक्षा करना शास्त्र का पहला नियम है। लेकिन अब भूल कर भी देश-भक्ति की डींग न मारिएगा। इस काम के लिए बड़ी दृढ़ता और आत्मिक बल की आवश्यकता है। स्वार्थ और देश-भक्ति में विरोधात्मक अन्तर है। देश पर मिट जानेवाले को देश-सेवक का सर्वोच्च पद प्राप्त होता है, वाचालता और कोरी कलम घिसने से देश-सेवा नहीं होती। कम-से-कम मैं तो अख़बार पढ़ने को यह गौरव नहीं दे सकता। अब कभी बढ़-बढ़कर बातें न कीजिएगा। आप लोग अपने सिवा सारे संसार को स्वार्थान्ध समझते हैं, इसी से कहता हूँ।

शर्माजी ने इस उद्दण्डता का कुछ उत्तर न दिया। घृणा से मुँह फेरकर गाड़ी में बैठ गये।

(४)

तीसरे ही स्टेशन पर शर्माजी उतर पड़े। वकील की कठोर बातों से खिन्न हो रहे थे। चाहते थे कि उनकी आँख बचाकर निकल जायँ। पर उसने देख ही लिया और हँसकर बोला—क्या आपके ही गाँव में प्लेग का दौरा हुआ है?

शर्माजी ने कुछ उत्तर न दिया। बहली पर जा बैठे। कई बेगार हाजिर थे। उन्होंने असबाब उठाया। फागुन का महीना था। आमों के बौर से महँकती हुई मन्द-मन्द वायु चल रही थी। कभी-कभी कोयल की सुरीली तान सुनायी दे जाती थी। खलिहानों में किसान आनन्द से उन्मत्त हो-होकर फाग गा रहे थे। लेकिन शर्माजी को अपनी फटकार पर ऐसी ग्लानि थी कि इन चित्ताकर्षक वस्तुओं का उन्हें कुछ ध्यान ही न हुआ।

थोड़ी देर बाद वे ग्राम में पहुँचे। शर्माजी के स्वर्गवासी पिता एक रसिक पुरुष थे। एक छोटा-सा बाग, छोटा-सा पक्का कुआँ, बँगला, शिवजी का मन्दिर

यह सब उन्हीं के कीर्ति-चिह्न थे। वह गर्मी के दिनों में यहीं रहा करते थे, पर शर्माजी के यहाँ आने का यह पहला ही अवसर था। वेगारियों ने चारों तरफ सफाई कर रखी थी। शर्माजी बहली से उतरकर सीधे बँगले में चले गये, सैकड़ों असामी दर्शन करने आये थे, पर वह उनसे कुछ न बोले।

घड़ी रात जाते-जाते शर्माजी के नौकर टमटम लिये आ पहुँचे। कहार, साईस और रसोइया-महाराज तीनों ने असामियों को इस दृष्टि से देखा मानों वह उनके नौकर हैं। साईस ने एक मोटे-ताजे किसान से कहा—घोड़े को खोल दो।

किसान वेचारा डरता-डरता घोड़े के निकट गया। घोड़े ने अनजान आदमी को देखते ही तेवर बदलकर कनौतियाँ खड़ी कीं। किसान डरकर लौट आया, तब साईस ने उसे ढकेल कर कहा—बस, निरे बछिया के ताऊ ही हो। हल जोतने से क्या अक्ल भी चली जाती है। यह लो घोड़े को टहलाओ। मुँह क्या बनाते हो, कोई सिंह है कि खा जायगा?

किसान ने भय से काँपते हुए रास पकड़ी, उसका घबराया हुआ मुख देखकर हँसी आती थी। पग-पग पर घोड़े को चौकन्नी दृष्टि से देखता, मानों वह कोई पुलिस का सिपाही है।

रसोई बनानेवाले महाराज एक चारपाई पर लेटे हुए थे। कड़ककर बोले, अरे नउआ कहाँ है? चल पानी-वानी ला, हाथ-पैर धो दे।

कहार ने कहा—अरे किसी के पास जरा सुरती-चूना हो तो देना। बहुत देर से तमाखू नहीं खायी।

मुख्तार (कारिन्दा) साहब ने इन मेहमानों की दावत का प्रबन्ध किया। साईस और कहार के लिए पूरियाँ बनने लगीं, महाराज को सामान दिया गया। मुख्तार साहब इशारे पर दौड़ते थे और दीन किसानों का तो पूछना ही क्या, वे तो विना दामों के गुलाम थे। सच्चे स्वतन्त्र लोग इस समय सेवकों के सेवक बने हुए थे।

(५)

कई दिन वीत गये। शर्माजी अपने बँगले में बैठे पत्र और पुस्तकें पढ़ा करते थे। रस्किन के कथनानुसार राजाओं और महात्माओं के सत्संग का सुख लूटते थे, हालैंड के कृषि-विधान, अमेरिकी शिल्प-वाणिज्य और जर्मनी की

शिक्षा-प्रणाली आदि गूढ विषयों पर विचार किया करते थे। गाँव में ऐसा कौन था जिसके साथ बैठते? किसानों से बातचीत करने को उनका जी चाहता, पर न जाने क्यों वे उजड्ड, अक्खड़ लोग उनसे दूर रहते। शर्माजी का मस्तिष्क कृषि-सम्बन्धी ज्ञान का भण्डार था। हालैन्ड और डेनमार्क की वैज्ञानिक खेती, उसकी उपज का परिमाण और वहाँ के को-आपरेटिव बैंक आदि गहन विषय उनकी जिह्वा पर थे, पर इन गँवारों को क्या खबर! यह सब उन्हें झुककर पालागन अवश्य करते और कतराकर निकल जाते, जैसे कोई मरकहे बैल से बचे। यह निश्चय करना कठिन है कि शर्माजी को उनसे वार्त्तालाप करने की इच्छा में क्या रहस्य था, सच्ची सहानुभूति या अपनी सर्वज्ञता का प्रदर्शन।

शर्माजी की डाक शहर से लाने और ले जाने के लिए दो आदमी प्रतिदिन भेजे जाते। वह लूई कूने की जल-चिकित्सा के भक्त थे। मेवों का अधिक सेवन करते। एक आदमी इस काम के लिए भी दौड़ाया जाता था। शर्माजी ने अपने मुख्तार से सख्त ताकीद कर दी थी कि किसी से मुफ्त काम न लिया जाय, तथापि शर्माजी को यह देखकर आश्चर्य होता था कि कोई इन कामों के लिए प्रसन्नता से नहीं जाता। प्रतिदिन बारी-बारी से आदमी भेजे जाते थे। वह इसे भी बेगार समझते थे। मुख्तार साहब को प्रायः कठोरता से काम लेना पड़ता था। शर्माजी किसानों की इस शिथिलता को मुटमरदी के सिवा और क्या समझते! कभी-कभी वह स्वयं क्रोध से भरे हुए अपने शान्ति-कुटीर से निकल आते और अपनी तीव्र वाक्य शक्ति का चमत्कार दिखाने लगते थे। शर्माजी के घोड़े के लिए घास-चारे का प्रबन्ध भी कुछ कम कष्टदायक न था। रोज सन्ध्या समय डाँट-डपट और रोने-चिल्लाने की आवाज उन्हें सुनायी देती थी। एक कोलाहल-सा मच जाता था। पर वह इस सम्बन्ध में अपने मन को इस प्रकार समझा लेते थे कि घोड़ा भूखों नहीं मर सकता, घास का दाम दे दिया जाता है, यदि इस पर भी यह हाय-हाय होती है तो हुआ करे। शर्माजी को यह कभी नहीं सूझी कि जरा चमारों से पूछ लें कि घास का दाम मिलता है या नहीं। यह सब व्यवहार देख-देखकर उन्हें अनुभव होता जाता था कि देहाती बड़े मुटमरद, बदमाश हैं। इनके विषय में मुख्तार साहब जो कुछ कहते हैं, वह यथार्थ है। पत्रों और व्याख्यानों में उनकी

अवस्था पर व्यर्थ गुलगपाड़ा मचाया जाता है, यह लोग इसी वार्ता के योग्य हैं। जो इनकी दीनता और दरिद्रता का राग अलापते हैं, वह सच्ची अवस्था से परिचित नहीं हैं। एक दिन शर्माजी महात्माओं की संगति से उकताकर सैर को निकले। घूमते-फिरते खलिहानों की तरफ निकल गये। वहाँ आम के वृक्ष के नीचे किसानों की गाढ़ी कमाई के सुनहरे ढेर लगे हुए थे। चारों ओर भूसे की आँधी-सी उड़ रही थी। बैल अनाज का एक गाल खा लेते थे। यह सब उन्हीं की कमाई है, उनके मुँह में आज जाबी देना बड़ी कृतघ्नता है। गाँव के बढ़ई, चमार, धोबी और कुम्हार अपना वार्षिक कर उगाहने के लिए जमा थे। एक ओर नट ढोल बजा-बजाकर अपने करतब दिखा रहा था। कवीश्वर महाराज की अतुल काव्य-शक्ति आज उमंग पर थी।

शर्माजी इस दृश्य से बहुत प्रसन्न हुए। परन्तु इस उल्लास में उन्हें अपने कई सिपाही दिखायी दिये, जो लट्ठ लिये अनाज के ढेरों के पास जमा थे। पुष्प-वाटिका में ठूँठ जैसा भद्दा दिखायी देता है अथवा ललित संगीत में जैसे कोई बेसुरी तान कानों को अप्रिय लगती है, उसी तरह शर्माजी की सहृदयतापूर्ण दृष्टि में ये मँडराते हुए सिपाही दिखायी दिये। उन्होंने निकट जाकर एक सिपाही को बुलाया। उन्हें देखते ही सब-के-सब पगड़ियाँ सँभालते दौड़े।

शर्माजी ने पूछा—तुम लोग यहाँ इस तरह क्यों बैठे हो ?

एक सिपाही ने उत्तर दिया—सरकार, हम लोग असामियों के सिर पर सवार न रहें तो एक कौड़ी वसूल न हो। अनाज घर में जाने की देर है, फिर वह सीधे बात भी न करेंगे—बड़े सरकश लोग हैं। हम लोग रात-की-रात बैठे रहते हैं। इतने पर भी जहाँ आँख झपकी ढेर गायब हुआ।

शर्माजी ने पूछा—तुम लोग यहाँ कब तक रहोगे ?

एक सिपाही ने उत्तर दिया—हुजूर ! बनियों को बुलाकर अपने सामने अनाज तौलाते हैं। जो कुछ मिलता है उसमें से लगान काटकर बाकी असामी को दे देते हैं।

शर्माजी सोचने लगे, जब यह हाल है तो इन किसानों की अवस्था क्यों न खराब हो ? यह बेचारे अपने धन के मालिक नहीं हैं। उसे अपने पास रखकर अच्छे अवसर पर नहीं बेच सकते। इस कष्ट का निवारण कैसे किया जाय ? यदि मैं इस समय इनके साथ रिआयत कर दूँ तो लगान कैसे वसूल होगा।

इस विषय पर विचार करते हुए वह वहाँ से चल दिये। सिपाहियों ने साथ चलना चाहा, पर उन्होंने मना कर दिया। भीड़-भाड़ से उन्हें उलझन होती थी। अकेले ही गाँव में घूमने लगे। छोटा-सा गाँव था, पर सफाई का कहीं नाम न था। चारों ओर से दुर्गन्ध उठ रही थी। किसी के दरवाजे पर गोबर सड़ रहा था, तो कहीं कीचड़ और कूड़े का ही ढेर वायु को विषैली बना रहा था। घरों के पास ही घूर पर खाद के लिए गोबर फेंका हुआ था।जससे गाँव मे गन्दगी फैलने के साथ-साथ खाद का सारा अंश धूप और हवा के साथ गायब हो जाता था। गाँव के मकान तथा रास्ते बेसिलसिले, बेढंगे तथा टूटे-फूटे थे। मोरियों के गन्दे पानी के निकास का कोई प्रबन्ध न होने की वजह से दुर्गन्ध से दम घुटता था। शर्माजी ने नाक पर रूमाल लगा ली। साँस रोककर तेजी से चलने लगे। बहुत जी घबराया तो दौड़े, और हाँफते हुए एक सघन नीम के वृक्ष की छाया में आकर खडे हो गये। अभी अच्छी तरह साँस भी न लेने पाये थे कि बाबूलाल ने आकर पालागन किया और पूछा—क्या कोई साँड़ था?

शर्माजी साँस खींचकर बोले—साँड से अधिक भयंकर विषैली हवा थी। ओह! यह लोग ऐसी गन्दगी मे कैसे रहते हैं?

बाबूलाल—रहते क्या हैं, किसी तरह जीवन के दिन पूरे करते हैं।

शर्माजी—पर यह स्थान तो साफ है!

बाबूलाल—जी हाँ, इस तरफ गाँव के किनारे तक साफ जगह मिलेगी।

शर्माजी—तो उधर इतना मैला क्यों है!

बाबूलाल—गुस्ताखी माफ हो तो कहूँ।

शर्माजी हँसकर बोले—प्राणदान माँगा होता। सच बताओ क्या बात है? एक तरफ ऐसी स्वच्छता और दूसरी तरफ वह गन्दगी!

बाबूलाल—यह मेरा हिस्सा है और वह आपका हिस्सा है। मै अपने हिस्से की देख-रेख स्वयं करता हूँ, पर आपका हिस्सा नौकरों की कृपा के अधीन है।

शर्माजी—अच्छा, यह बात है! आखिर आप क्या करते हैं?

बाबूलाल—और कुछ नहीं, केवल ताकीद करता रहता हूँ। जहाँ अधिक मैलापन देखता हूँ, स्वयं साफ करता हूँ। मैंने सफाई का एक इनाम नियत कर

दिया है, जो प्रति मास सबसे साफ घर के मालिक को मिलता है। आइए बैठिए।

शर्माजी के लिए एक कुर्सी रख दी गयी। वे उस पर बैठ गये और बोले—क्या आप आज ही आये हैं?

बाबूलाल—जी हाँ, कल तातील है। आप जानते ही हैं कि तातील के दिनों में मैं यहीं रहता हूँ।

शर्माजी—शहर का क्या रंग-ढंग है!

बाबूलाल—वही हाल, बल्कि और खराब। 'सोशल सर्विस लीग' वाले भी गायब हो गये। गरीबों के घरों में मुर्दे पड़े हुए हैं। बाजार बन्द हो गये। खाने को अनाज नहीं मिलता।

शर्माजी—भला बताओ तो ऐसी आग में मैं वहाँ कैसे रहता? बस, लोगो ने मेरी ही जान सस्ती समझ रखी है। जिस दिन मैं यहाँ आ रहा था आपके वकील साहब मिल गये, बेतरह गरम हो पड़े। मुझे देश-भक्ति के उपदेश देने लगे। जिन्हें कभी भूलकर भी देश का ध्यान नहीं आता वे भी मुझे उपदेश देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। कुछ मुझे ही देश-भक्ति का दावा है! जिसे देखो वही तो देश-सेवक बना फिरता है। जो लोग सहस्रों रुपये अपने भोग-विलास में फूँकते हैं उनकी गणना भी जाति-सेवकों में है। मैं तो फिर भी कुछ-न-कुछ करता ही हूँ। मैं भी मनुष्य हूँ, कोई देवता नहीं, धन की अभिलाषा अवश्य है। मैं जो अपना जीवन पत्रों के लिए लेख लिखने में काटता हूँ, देश-हित की चिन्ता में मग्न रहता हूँ, उसके लिए मेरा इतना सम्मान बहुत समझा जाता है। जब किसी सेठजी या किसी वकील साहब के दरेदौलत पर हाजिर हो जाऊँ तो वह कृपा करके मेरा कुशल-समाचार पूछ लें। उस पर भी यदि दुर्भाग्यवश किसी चन्दे के सम्बन्ध में जाता हूँ तो लोग मुझे यम का दूत समझते हैं। ऐसी रुखाई का व्यवहार करते हैं जिससे सारा उत्साह भंग हो जाता है। यह सब आपत्तियाँ तो मैं झेलूँ, पर जब किसी सभा का सभापति चुनने का समय आता है तो कोई वकील साहब इसके पात्र समझे जाते हैं, जिन्हें अपने धन के सिवा उक्त पद का कोई अधिकार नहीं। तो भाई, जो गुड़ खाय वह कान छिदावे। देश-हितैषिता का पुरस्कार यही जातीय-सम्मान है। जब वहाँ तक मेरी पहुँच ही नहीं तो व्यर्थ जान क्यों

दूँ ? यदि यह आठ वर्ष मैंने लक्ष्मी की आराधना में व्यतीत किये होते तो अब तक मेरी गिनती बड़े आदमियों में होती। अभी मैंने कितने परिश्रम से देहाती बैंकों पर लेख लिखा, महीनों उसकी तैयारी में लगे, सैकड़ों पत्र-पत्रिकाओं के पन्ने उलटने पड़े, पर किसी ने उसके पढ़ने का कष्ट भी न उठाया। यदि इतना परिश्रम किसी और काम में किया होता तो कम-से-कम स्वार्थ तो सिद्ध होता। मुझे ज्ञात हो गया कि इन बातों को कोई नहीं पूछता। सम्मान और कीर्त्ति यह सब धन के नौकर हैं।

बाबूलाल—आपका कहना यथार्थ ही है; पर आप जैसे महानुभाव इन बातों को मन में लावेंगे तो यह काम कौन करेगा ?

शर्माजी—वही करेंगे जो 'आनरेबुल' बने फिरते हैं या जो नगर के पिता कहलाते हैं। मैं तो अब देशाटन करूँगा, संसार की हवा खाऊँगा।

बाबूलाल समझ गये कि यह महाशय इस समय आपे में नहीं हैं। विषय बदलकर पूछा—यह तो बताइए, आपने देहात को कैसा पसन्द किया ? आप तो पहले-ही-पहले यहाँ आये हैं।

शर्माजी—बस, यही कि बैठे-बैठे जी घबराता है। हाँ, कुछ नये अनुभव अवश्य प्राप्त हुए हैं। कुछ भ्रम दूर हो गये। पहले समझता था कि किसान बड़े दीन-दुःखी होते हैं। अब मालूम हुआ कि यह लोग बड़े मुटमरद, अनुदार और दुष्ट हैं। सीधे बात न सुनेंगे, पर कड़ाई से जो काम चाहे करा लो। बस, निरे पशु हैं। और तो और, लगान के लिए भी इनके सिर पर सवार रहने की जरूरत है। टल जाओ तो कौड़ी वसूल न हो। नालिश कीजिए, बेदखली जारी कीजिए, कुर्की कराइए, यह सब आपत्तियाँ सहेंगे, पर समय पर रुपया देना नहीं जानते। यह सब मेरे लिए नयी बातें हैं। मुझे अब तक इनसे जो सहानुभूति थी वह अब नहीं है। पत्रों में इनकी हीनावस्था के जो मरसिये गाये जाते हैं वह सर्वथा कल्पित हैं। क्यों आपका क्या विचार है ?

बाबूलाल ने सोचकर जवाब दिया—मुझे तो अब तक कोई शिकायत नहीं हुई। मेरा अनुभव यह है कि यह लोग बड़े शीलवान्, नम्र और कृतज्ञ होते हैं। परन्तु इनके ये गुण प्रकट में नहीं दिखायी देते। इनमें मिलिए और इन्हें मिलाइए तब इनके जौहर खुलते हैं। इन पर विश्वास कीजिए तब यह आप

पर विश्वास करेंगे। आप कहेंगे इस विषय में अग्रसर होना इनका काम है और आपका यह कहना उचित भी है, लेकिन शताब्दियों से यह इतने पीसे गये हैं, इतनी ठोकरें खायी हैं कि इनमें स्वाधीन गुणों का लोप-सा हो गया है। जमींदार को यह एक हौआ समझते हैं जिनका काम इन्हें निगल जाना है। यह उनका मुकाबिला नहीं कर सकते, इसलिए छल और कपट से काम लेते हैं, जो निर्बलों का एक मात्र आधार है। पर आप एक बार उनके विश्वासपात्र बन जाइए, फिर आप कभी उनकी शिकायत न करेंगे।

बाबूलाल यह बातें कर ही रहे थे कि कई चमारों ने घास के बड़े-बड़े गट्ठे लाकर डाल दिये और चुपचाप चले गये। शर्माजी को आश्चर्य हुआ। इसी घास के लिए उनके बँगले पर हाय-हाय होती है और यहाँ किसी को खबर भी नहीं हुई। बोले—आखिर अपना विश्वास जमाने का कोई उपाय भी है?

बाबूलाल ने उत्तर दिया—आप स्वयं बुद्धिमान् हैं। आपके सामने मेरा मुँह खोलना धृष्टता है। मैं इसका एक ही उपाय जानता हूँ। इन्हें किसी कष्ट में देखकर इनकी मदद कीजिए। मैंने इन्हीं के लिए वैद्यक सीखा और एक छोटा-मोटा औषधालय अपने साथ रखता हूँ। रुपया माँगते हैं तो रुपया, अनाज माँगते हैं तो अनाज देता हूँ, पर सूद नहीं लेता। इससे मुझे कोई हानि नहीं होती, दूसरे रूप में सूद अधिक मिल जाता है। गाँव में दो अन्धी स्त्रियाँ और दो अनाथ लड़कियाँ हैं, उनके निर्वाह का प्रबन्ध कर दिया है। होता सब इन्हीं की कमाई से है, पर नेकनामी मेरी होती है।

इतने में कई असामी आये और बोले—भैया, पोत ले लो।

शर्माजी ने सोचा, इसी लगान के लिए मेरे चपरासी खलिहान में चारपाई डालकर सोते हैं और किसानों को अनाज के ढेर के पास फटकने नहीं देते और वही लगान यहाँ इस तरह आप-से-आप चला आता है। बोले—यह सब तो तब ही हो सकता है जब जमींदार आप गाँव में रहें।

बाबूलाल ने उत्तर दिया—जी हाँ, और क्या? जमींदार के गाँव में न रहने से इन किसानों की बड़ी हानि होती है। कारिन्दों और नौकरों से यह आशा करनी भूल है कि वह इनके साथ अच्छा वर्ताव करेंगे, क्योंकि उनको तो अपना उल्लू सीधा करने से काम रहता है। जो किसान उनकी मुट्ठी गरम

करते हैं उन्हें मालिक के सामने सीधा और जो कुछ नहीं देते उन्हें बदमाश और सरकश बतलाते हैं। किसानों को बात-बात के लिए चूसते हैं, किसान छान छवाना चाहे तो उन्हें दे, दरवाजे पर एक खूँटा तक गाड़ना चाहे तो उन्हें पूजे, एक छप्पर उठाने के लिए दस रुपये जमींदार को नजराना दे तो दो रुपये मुंशीजी को जरूर ही देने होंगे। कारिन्दे को घी-दूध मुफ्त खिलावें, कहीं-कहीं तो गेहूँ-चावल तक मुफ्त में हजम कर जाते हैं। जमींदार तो किसानों को चूसते ही हैं, कारिन्दे भी कम नहीं चूसते। जमींदार तीन पाव के भाव में रुपये का सेर-भर घी ले तो मुंशीजी को अपने घर अपने साले-बहनोइयों के लिए अठारह छटाँक चाहिए ही। तनिक-तनिक-सी बात के लिए डाँड़ और जुर्माना देते-देते किसानों के नाक में दम हो जाता है। आप जानते हैं इसी से और कहीं की ३०) की नौकरी छोड़कर भी जमींदारों की कारिन्दगिरी लोग ८), १०) में स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि ८), १०) का कारिन्दा साल में ८००), १०००) ऊपर से कमाता है। खेद तो यह है कि जमींदार लोगों मे शिक्षा की उन्नति के साथ-साथ शहर में रहने की प्रथा दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। मालूम नहीं आगे चलकर इन बेचारों की क्या गति होगी?

(६)

शर्माजी को बाबूलाल की बातें विचारपूर्ण मालूम हुई। पर वह सुशिक्षित मनुष्य थे। किसी बात को चाहे वह कितनी ही यथार्थ क्यों न हो, बिना तर्क के ग्रहण नहीं कर सकते थे। बाबूलाल को वह सामान्य बुद्धि का आदमी समझते आये थे। इस भाव में एकाएक परिवर्तन हो जाना असम्भव था। इतना ही नहीं इन बातों का उल्टा प्रभाव यह हुआ कि वह बाबूलाल से चिढ़ गये। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि बाबूलाल अपने सुप्रबन्ध के अभिमान में मुझे तुच्छ समझता है, मुझे ज्ञान सिखाने की चेष्टा करता है। जिसने सदैव दूसरों को सद्ज्ञान सिखाने और सम्मान दिखाने का प्रयत्न किया हो वह बाबूलाल जैसे आदमी के सामने कैसे सिर झुकाता? अतएव जब यहाँ से चले तो शर्माजी की तर्क-शक्ति बाबूलाल की बातों की आलोचना कर रही थी। मैं गाँव में क्योंकर रहूँ? क्या जीवन की सारी अभिलाषाओं पर पानी फेर दूँ? गँवारों के साथ बैठे-बैठे गप्पें लड़ाया करूँ? घड़ी-आध-घड़ी मनोरंजन के लिए उनसे बातचीत करना

सम्भव है, पर यह मेरे लिए असह्य है कि वह आठों पहर मेरे सिर पर सवार रहें। मुझे तो उन्माद हो जाय। माना कि उनकी रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है, पर यह कदापि नहीं हो सकता कि उनके लिए मैं अपना जीवन नष्ट कर दूँ। बाबूलाल बन जाने की क्षमता मुझमें नहीं है कि जिससे बेचारे इस गाँव की सीमा से बाहर नहीं जा सकते। मुझे संसार में बहुत काम करना है, बहुत नाम करना है। ग्राम्य जीवन मेरे लिए प्रतिकूल ही नहीं बल्कि प्राणघातक भी है।

यही सोचते हुए बँगले पर पहुँचे तो क्या देखते हैं कि कई कांस्टेबल बँगले के बरामदे में लेटे हुए हैं। मुख्तार साहब शर्माजी को देखते ही आगे बढकर बोले—हुजूर! बड़े दारोगाजी छोटे दारोगाजी के साथ आये हैं। मैंने उनके लिए पलॅग कमरे में ही बिछवा दिये हैं। ये लोग जब इधर आ जाते हैं तो यहीं ठहरा करते हैं। देहात में इनके योग्य स्थान और कहाँ है! अब मैं इनसे कैसे कहता कि कमरा खाली नहीं है। हुजूर का पलँग ऊपर बिछवा दिया है।

शर्माजी अपने अन्य देश-हितचिन्तक भाइयों की भाँति पुलिस के घोर विरोधी थे। पुलिसवालों के अत्याचारों के कारण उन्हें बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते थे। उनका सिद्धान्त था कि यदि पुलिस का आदमी प्यास से मर भी जाय तो उसे पानी न देना चाहिए। अपने कारिन्दे से यह समाचार सुनते ही उनके शरीर में आग-सी लग गयी। कारिन्दे की ओर लाल आँखों से देखा और लपककर कमरे की ओर चले कि बेईमानों का बोरिया-बँधना उठाकर फेंक दूँ। वाह! मेरा घर न हुआ कोई होटल हुआ! आकर डट गये। तेवर बदले हुए बरामदे में जा पहुँचे कि इतने में छोटे दारोगा बाबू कोकिलासिंह ने कमरे से निकलकर पालागन किया और हाथ बढाकर बोले—अच्छी साइत से चला था कि आपके दर्शन हो गये। आप मुझे भूल तो न गये होंगे?

यह महाशय दो साल पहले "सोशल सर्विस लीग" के उत्साही सदस्य थे। इण्टरमीडियेट फेल हो जाने के बाद पुलिस में दाखिल हो गये थे। शर्मा जी ने उन्हें देखते ही पहचान लिया। क्रोध शान्त हो गया। मुसकुराने की चेष्टा करके बोले—भूलना बडे आदमियों का काम है। मैंने तो आपको दूर ही से पहचान लिया था। कहिए, इसी थाने में हैं क्या?

कोकिलासिंह बोले—जी हाँ, आजकल यहीं हूँ। आइए, आपको दारोगा जी से इन्ट्रोड्यूस (परिचित) करा दूँ।

भीतर आराम-कुरसी पर लेटे दारोगा जुल्फिकारअलीखाँ हुक्का पी रहे थे। बड़े डीलडौल के मनुष्य थे। चेहरे से रोब टपकता था। शर्माजी को देखते ही उठकर हाथ मिलाया और बोले—जनाब से नियाज हासिल करने का शौक मुद्दत से था। आज खुशनसीबी से मौका भी मिल गया। इस मुदाखिलत बेजा को मुआफ फरमाइएगा।

शर्माजी को आज मालूम हुआ कि पुलिसवालों को अशिष्ट कहना अन्याय है। हाथ मिलाकर बोले—यह आप क्या फरमाते हैं, यह आपका घर है।

पर इसके साथ ही पुलिस पर आक्षेप करने का ऐसा अच्छा अवसर हाथ से नहीं जाने देना चाहते थे। कोकिलासिंह से बोले—आपने तो पिछले साल कालेज छोड़ा है, लेकिन आपने नौकरी भी की तो पुलिस की!

बड़े दारोगाजी यह ललकार सुनकर सँभल बैठे और बोले—क्यों जनाब! क्या पुलिस ही सारे मुहकमों से गया-गुजरा है? ऐसा कौन-सा सेगा है जहाँ रिश्वत का बाजार गर्म नहीं। अगर आप ऐसे एक भी सेगा का नाम बता दीजिए तो मैं ताउम्र आपकी गुलामी करूँ। मुलाजमत करके रिश्वत न लेना मुहाल है। तामील के सेगे को बेलौस कहा जाता है, मगर मुझको इसका खूब तजरबा हो चुका है। अब मैं किसी के रास्तबाजी के दावे को तसलीम नहीं कर सकता। और दूसरे सेगों की निस्बत तो मैं नहीं कह सकता, मगर पुलिस में जो रिश्वत नहीं लेता उसे मैं अहमक समझता हूँ। मैंने दो-एक दयानतदार सब-इन्स्पेक्टर देखे हैं, पर उन्हें हमेशा तबाह देखा। कभी मातूब, कभी मुअत्तल, कभी बरखास्त। चौकीदार और कांस्टेबल बेचारे थोड़ी औकात के आदमी हैं, उनका गुजारा क्योंकर हो? वही हमारे हाथ-पाँव हैं, उन्हीं पर हमारी नेकनामी का दारमदार है। जब वह खुद भूखों मरेंगे तो काम क्या करेंगे? जो लोग हाथ बढ़ाकर लेते हैं, खुद खाते हैं, दूसरों को खिलाते हैं, अफसरों को खुश रखते हैं, उनका शुमार कारगुजार, नेकनाम आदमियों में होता है। मैंने तो यही अपना वसूल बना रखा है और खुदा का शुक्र है कि अफसर और मातहत सभी खुश हैं।

शर्माजी ने कहा—इसी वजह से तो मैंने ठाकुर साहब से कहा था कि आप क्यों इस सेगे में आये ?

जुल्फिकारअलीखाँ गरम होकर बोले—आये तो मुहकमे पर कोई एहसान नहीं किया। किसी दूसरे सेगे में होते तो अभी तक ठोकरें खाते होते, नहीं तो घोड़े पर सवार नौशा बने घूमते हैं। मैं तो बात सच्ची कहता हूँ। चाहे किसी को अच्छी लगे या बुरी। इनसे पूछिए, हराम की कमाई अकेले आज तक किसी को हजम हुई है ? यह नये लोग जो आते हैं उनकी यह आदत होती है कि जो कुछ मिले अकेले ही हजम कर लें। चुपके-चुपके लेते हैं और थाने के अहलकार मुँह ताकते रह जाते हैं। दुनिया की निगाह में ईमानदार बनना चाहते हैं, पर खुदा से नहीं डरते। अरे, जब हम खुदा ही से नहीं डरते तो आदमियों का क्या खौफ ? ईमानदार बनना हो तो दिल से बनो। सचाई का स्वाँग क्यों भरते हो ? यह हजरत छोटी-छोटी रकमों पर गिरते हैं। मारे गरूर के किसी आदमी से राय तो लेते नहीं। जहाँ आसानी से सौ रुपये मिल सकते हैं वहाँ पाँच रुपये में बुलबुल हो जाते हैं। कहीं दूधवाले के दाम मार लिये, कहीं हज्जाम के पैसे दबा लिये, कहीं बनिये से निर्ख के लिए झगड़ बैठे। यह अफसरी नहीं टुचापन है, गुनाह बेलज्जत, फायदा तो कुछ नहीं, बदनामी मुफ्त। मैं बड़े-बड़े शिकारों पर निगाह रखता हूँ। यह पिद्दी और बटेर मातहतों के लिए छोड़ देता हूँ। हलफ से कहता हूँ, गरज बुरी शै है। रिश्वत देनेवालों से ज्यादा अहमक अन्धे आदमी दुनिया में न होंगे। ऐसे कितने ही उल्लू आते हैं जो महज यह चाहते हैं कि मैं उनके किसी पट्टीदार या दुश्मन को दो-चार खोटी-खरी सुना दूँ, कई ऐसे बेईमान जमींदार आते हैं जो यह चाहते हैं कि वह असामियों पर जुल्म करते रहें और पुलिस दखल न दे। इतने ही के लिए वह सैकड़ों रुपये मेरी नजर करते हैं और खुशामद घालू में। ऐसे अक्ल के दुश्मनों पर रहम करना हिमाकत है। जिले में मेरे इस इलाके को सोने की खान कहते हैं। इस पर सबके दाँत रहते हैं। रोज एक-न-एक शिकार मिलता रहता है। ज़मींदार निरे ज़ाहिल, लपठ, जरा-ज़रा-सी बात पर फौजदारियाँ कर बैठते हैं। मैं तो खुदा से दुआ करता रहता हूँ कि वह हमेशा इसी जहालत के गढ़े में पड़े रहें। सुनता हूँ, कोई साहब आमतालीम का सवाल पेश कर रहे हैं, उस भलेमानुस

को न जाने यह क्या धुन है। शुक्र है कि हमारी आली फ़हम सरकार ने उसे नामजूर कर दिया। बस, इस सारे इलाके में एक यही आपका पट्टीदार अलबत्ता समझदार आदमी है। उसके यहाँ मेरी या और किसी की दाल नहीं गलती और लुत्फ यह कि कोई उससे नाखुश नहीं। बस मीठी-मीठी बातों से मन भर देता है। अपने असामियों के लिए जान देने को हाजिर, और हलफ से कहता हूँ कि अगर मैं जमींदार होता तो इसी शख्स का तरीका अख्तियार करता। जमींदार का फर्ज है कि अपने असामियों को जुल्म से बचाये। उन पर शिकारियों का वार न होने दे। बेचारे गरीब किसानों की जान के तो सभी गाहक होते हैं और हलफ से कहता हूँ, उनकी कमाई उनके काम नहीं आती। उनकी मेहनत का मजा हम लूटते हैं। यों तो जरूरत से मजबूर होकर इन्सान क्या नहीं कर सकता, पर हक़ यह है कि इन बेचारों की हालत वाक़ई रहम के क़ाबिल है और जो शख्स उनके लिए सीना-सपर हो सके उसके क़दम चूमने चाहिए। मगर मेरे लिए तो वही आदमी सबसे अच्छा है जो शिकार में मेरी मदद करे।

शर्माजी ने इस बकवाद को बड़े ध्यान से सुना। वह रसिक मनुष्य थे। इसकी मार्मिकता पर मुग्ध हो गये। सहृदयता और कठोरता के ऐसे विचित्र मिश्रण से उन्हें मनुष्यों के मनोभावों का एक कौतूहल-जनक परिचय प्राप्त हुआ। ऐसी वक्तृता का उत्तर देने की कोशिश करना व्यर्थ था। बोले—क्या कोई तहकीकात है, या महज गश्त?

दारोगाजी बोले—जी नहीं, महज गश्त। आजकल किसानों के फसल के दिन हैं। यही जमाना हमारी फसल का भी है। शेर को भी तो माँद में बैठे-बैठे शिकार नहीं मिलता। जगल में घूमता है। हम भी शिकार की तलाश में हैं। किसी पर खुफिया-फरोशी का इलजाम लगाया, किसी को चोरी का माल खरीदने के लिए पकड़ा, किसी को हमलहराम का झगड़ा उठाकर फाँसा। अगर हमारे नसीब से डाका पड़ गया तो हमारी पाँचों अँगुलियाँ घी में समझिए। डाकू तो नोच-खसोटकर भागते हैं। असली डाका हमारा पड़ता है। आस-पास के गाँवों में झाड़ू फेर देते हैं। खुदा से शबोरोज दुआ किया करते हैं कि या परवर दिगार! कहीं से रिज़क भेज। झूठे-सच्चे डाके की खबर आवे। अगर

देखा कि तकदीर पर शाकिर रहने से काम नहीं चलता तो तदबीर से काम लेते हैं। जरा-से इशारे की जरूरत है, डाका पड़ते क्या देर लगती है! आप मेरी साफगोई पर हैरान होते होंगे। अगर मैं अपने सारे हथकण्डे बयान करूँ तो आप यकीन न करेंगे और लुत्फ यह कि मेरा शुमार जिले के निहायत होशियार, कारगुजार, दयानतदार सब-इन्सपेक्टरों में है। फर्जी डाके डलवाता हूँ। फर्जी मुल्जिम पकड़ता हूँ, मगर सजाएँ असली दिलवाता हूँ। शहादतें ऐसी गढ़ता हूँ कि कैसा ही बैरिस्टर का चचा क्यों न हो, उनमें गिरफ्तार नहीं कर सकता!

इतने में शहर से शर्माजी की डाक आ गयी। वे उठ खड़े हुए और बोले—दारोगाजी, आपकी बातें बड़ी मजेदार होती हैं। अब इजाजत दीजिए। डाक आ गयी है। जरा उसे देखना है।

(७)

चाँदनी रात थी। शर्माजी खुली छत पर लेटे हुए एक समाचारपत्र पढ़ने में मग्न थे। अकस्मात् कुछ शोर-गुल सुनकर नीचे की तरफ झाँका तो क्या देखते हैं कि गाँव के चारों तरफ से कान्सटेबलों के साथ किसान चले आ रहे हैं। बहुत से आदमी खलिहान की तरफ से बड़बड़ाते आते थे। बीच-बीच में सिपाहियों की डाँट-फटकार की आवाजें भी कानों में आती थीं। यह सब आदमी बँगले के सामने सहन में बैठते जाते थे। कहीं-कहीं स्त्रियों का आर्त्त-नाद भी सुनायी देता था। शर्माजी हैरान थे कि मामला क्या है? इतने में दारोगाजी की भयकर गरज सुनायी पड़ी—हम एक न मानेंगे, सब लोगों को थाने चलना होगा।

फिर सन्नाटा हो गया। मालूम होता था कि आदमियों में कानाफूसी हो रही है। बीच-बीच में मुख्तार साहब और सिपाहियों के हृदय-विदारक शब्द आकाश में गूँज उठते। फिर ऐसा जान पड़ा कि किसी पर मार पड़ रही है। शर्माजी से अब न रहा गया। वह सीढ़ियों के द्वार पर आये। कमरे में झाँक-कर देखा। मेज पर रुपये गिने जा रहे थे। दारोगाजी ने फर्माया—इतने बड़े गाँव में सिर्फ य

मुख्तार स दिया—अभी ५ अबकी मुखियों की खबर ली देर लग जाता

यह कहकर मुख्तार ने कई किसानों को पुकारा, पर कोई न बोला। तब दारोगाजी का गगन-भेदी नाद सुनायी दिया—यह लोग सीधे न मानेंगे, मुखियों को पकड़ लो। हथकड़ियाँ भर दो। एक-एक को डामुल भिजवाऊँगा।

यह नादिरशाही हुक्म पाते ही कान्स्टेबलों का दल उन आदमियों पर टूट पड़ा। ढोल-सी पिटने लगी। क्रन्दन-ध्वनि से आकाश गूँज उठा। शर्माजी का रक्त खौल रहा था। उन्होंने सदैव न्याय और सत्य की सेवा की थी। अन्याय और निर्दयता का यह करुणात्मक अभिनय उनके लिए असह्य था।

अचानक किसी ने रोकर कहा—दोहाई सरकार की, मुख्तार साहब हम लोग का हक-नाहक मरवाये डारत हैं।

शर्माजी क्रोध से काँपते हुए धम-धम कोठे से उतर पड़े। यह दृढ़ संकल्प कर लिया कि मुख्तार साहब को मारे हंटरों के गिरा दूँ, पर जन-सेवा में मनोवेगों के दबाने की बड़ी प्रबल शक्ति होती है। रास्ते ही में सँभल गये। मुख्तार को बुलाकर कहा—मुन्शीजी आपने यह क्या गुलगपाड़ा मचा रखा है ?

मुख्तार ने उत्तर दिया—हुजूर, दारोगाजी ने इन्हें एक डाके की तहकीकात में तलब किया है।

शर्माजी बोले—जी हाँ, इस तहकीकात का अर्थ मैं खूब समझता हूँ। घण्टे-भर से इसका तमाशा देख रहा हूँ। तहकीकात हो चुकी या कसर बाकी है ?

मुख्तार ने कहा—हुजूर, दारोगाजी जानें, मुझे क्या मतलब ?

दारोगाजी बड़े चतुर पुरुष थे। मुख्तार साहब की बातों से उन्होंने समझा था कि शर्माजी का स्वभाव भी अन्य जमींदारों के सदृश है। इसलिए वह बेखटके थे, पर इस समय उन्हें अपनी भूल ज्ञात हुई। शर्माजी के तेवर देखे, नेत्रों से क्रोधाग्नि की ज्वाला निकल रही थी, शर्माजी की शक्तिशालीनता से भलीभाँति परिचित थे। समीप आकर बोले—आपके इस मुख्तार ने मुझे बड़ा धोखा दिया, वरना मैं हलफ से कहता हूँ कि यहाँ यह आग न लगती। आप मेरे मित्र बाबू कोकिलासिंह के मित्र हैं और इस नाते से मैं आपको अपना मुरब्बी समझता हूँ पर इस नाभरदूद बदमाश ने मुझे बड़ा चकमा दिया। मैं भी ऐसा अहमक था कि इसके चक्कर में आ गया। मैं बहुत नादिम हूँ कि हिमारत के बाइस जनाब को इतनी तकलीफ हुई। मैं आपसे मुआफी का

सायल हूँ। मेरी एक दोस्ताना इल्तमाश यह है कि जितनी जल्दी मुमकिन हो इस शख्स को बरतरफ कर दीजिए। यह आपके रियासत को तबाह किये डालता है। अब मुझे भी इजाजत हो कि अपने मनहूस कदम यहाँ से ले जाऊँ। मैं हलफ से कहता हूँ कि मुझे आपको मुँह दिखाते शर्म आती है।

(८)

यहाँ तो यह घटना हो रही थी, उधर बाबूलाल अपने चौपाल में बैठे हुए इसके सम्बन्ध में अपने कई असामियों से बातचीत कर रहे थे। शिवदीन ने कहा—भैया, आप जाके दारोगाजी को काहे नाहीं समझावत हौ। राम-राम! ऐसन अन्धेर!

बाबूलाल—भाई, मैं दूसरे के बीच में बोलनेवाला कौन? शर्माजी तो वहीं हैं, वह आप ही बुद्धिमान् हैं। जो उचित होगा, करेंगे। यह आज कोई नयी बात थोड़े ही है। देखते नो हो कि आये दिन एक-न-एक उपद्रव मचा ही रहता है। मुख्तार साहब का इसमें भला होता है। शर्माजी से मैं इस विषय में इसलिए कुछ नहीं कहता कि शायद वे यह समझें कि मैं ईर्ष्यावश शिकायत कर रहा हूँ।

रामदास ने कहा—शर्माजी कोठा पर हैं और नीचू बेचारन पर मार परत है। देखा नाहीं जात है। जिनसे मुराद पाय जात है उनका छोडे देत हैं। मोका तो जान परत है कि ई तहकीकात-सहकीकात सब रुपैयन के खातिर कीन जात है।

बाबूलाल—और काहे के लिए की जाती है। दारोगाजी तो ऐसे ही शिकार ढूँढा करते हैं, लेकिन देख-लेना शर्माजी अपने मुख्तार साहब की जरूर खबर लेंगे। वह ऐसे-वैसे आदमी नहीं हैं कि यह अन्धेर अपनी आँखों से देखें और मौन धारण कर लें। हाँ यह तो बताओ, अबकी कितनी ऊख बोई है?

रामदास—ऊख बोये ढेर रहे मुदा दुष्टन के मारे बचै पावै तब न। तू मानत नाहीं हौ भैया, पर आँखन देखी बात है कि कराह-क-कराह रस जर गवा और छटाँको-भर माल न परा। न-जानी अस कौन मन्तर मार देत है।

बाबूलाल—अच्छा अबकी मेरे कहने से यह हानि उठा लो। देखूँ ऐसा कौन बड़ा सिद्ध है जो कराही का रस उड़ा देता है? जरूर इसमें कोई-न-कोई

घात है। इस गाँव में जितने कोल्हू जमीन में गडे पडे हैं उनसे विदित होता है कि पहले यहाँ ऊख बहुत होती थी, किन्तु अब बेचारों का मुँह भी मीठा नहीं होने पाता।

शिनदीन—अरे भैया! हमरे होस मे ई सब कोल्हू चलत रहे हैं। माघ-पूस में रात-भर मेला लगा रहत रहा, पर जब से ई नासिनी बिया फैली है तब से कोऊ का ऊख के नेरे जाये का हियाव नाही परत है।

बाबूलाल—ईश्वर चाहेंगे तो फिर वैसी ही ऊख लगेगी। अबकी मैं इस मन्त्र को उलट दूँगा। भला यह तो बताओ अगर ऊख लग जाय और माल पड़े तो तुम्हारी पट्टी में एक हजार का गुड़ हो जायगा?

हरखू ने हँसकर कहा—भैया, कैसी बात कहत हौ—हजार तो पाँच बीघा में मिल सकत है। हमरे पट्टी में २५ बीघा से कम ऊख नाहीं बा। कुछौ न परे तो अढाई हजार कहूँ नहीं गवा है।

बाबूलाल—तब तो आशा है कि कोई पचास रुपये बधाई में मिल जायँगे। वह रुपये गाँव की सफाई में खर्च होंगे।

इतने में एक युवा मनुष्य दौडता हुआ आया और बोला—भैया! ऊह तहकीकात देखे गइल रहलीं। दारोगाजी सबका डाँटन-मारत रहें। देवी मुखिया बोला—मुख्तार साहब, हमका चाहे काट डारो, मुदा हम एक कौड़ी न देवै। थाना-कचहरी जहाँ कहो चलै के तैयार हई। ई सुन के मुख्तार लाल हुइ गयेन। चार सिपाहिन से कहेन कि एहिका पकरिके खूब मारो, तब देवी चिल्लाय-चिल्लाय रोवै लागल, एतने मे सरमाजी कोठा पर से खट-खट उतरेन और मुख्तार का लगे डाँटै। मुख्तार ठाढ़ झूर होय गयेन। दारोगाजी धीरे से घोडा मँगवाय के भागेन। सनई सरमाजी का असीसत चला जात है।

बाबूलाल—यह तो मैं पहले ही कहता था कि शर्माजी से यह अन्याय न देखा जायगा।

इतने में दूर से एक लालटेन का प्रकाश दिखायी दिया। एक आदमी के साथ शर्माजी आते हुए दिखायी दिये। बाबूलाल ने असामियों को वहाँ से हटा दिया, कुरसी रखवा दी और आगे बढकर बोले—आपने इस समय क्यों कष्ट किया, मुझको बुला लिया होता।

शर्माजी ने नम्रता से उत्तर दिया—आपको किस मुँह से बुलाता, मेरे सारे आदमी वहाँ पीटे जा रहे थे, उनका गला दबाया जा रहा था और आप पास न फटके। मुझे आपसे मदद की आशा थी। आज हमारे मुख्तार ने गाँव में लूट मचा दी थी। मुख्तार को और क्या कहूँ। बेचारा थोड़े औक़ात का आदमी है। खेद तो यह है कि आपके दारोगाजी भी उसके सहायक थे। कुशल यह थी कि मैं वहाँ मौजूद था।

बाबूलाल—मैं बहुत लज्जित हूँ कि इस अवसर पर आपकी कुछ सेवा न कर सका। पर बात यह है कि मेरे वहाँ जाने से मुख्तार साहब और दारोगा दोनों ही अप्रसन्न होते। मुख्तार मुझसे कई बार कह चुके हैं कि आप मेरे बीच में न बोला कीजिए। मैं आपसे कभी गाँव की यह दशा इस भय से न कहता था कि शायद आप समझें कि मैं ईर्ष्या के कारण ऐसा कहता हूँ। यहाँ यह कोई नयी बात नहा है। आये दिन ऐसी ही घटनाएँ होती रहती हैं, और कुछ इसी गाँव में नहीं, जिस गाँव को देखिए, यही दशा है। इन सब आपत्तियों का एकमात्र कारण यह है कि देहातों में कर्मपरायण, विद्वान् और नीतिज्ञ मनुष्यों का अभाव है। शहर के सुशिक्षित जमींदार, जिनसे उपकार की बहुत कुछ आशा की जाती है, सारा काम कारिन्दों पर छोड़ देते हैं। रहे देहात के जमींदार, सो निरक्षर भट्टाचार्य हैं। अगर कुछ थोडे-बहुत पढे भी हैं तो अच्छी सगति न मिलने के कारण उनमें बुद्धि का विकास नहीं है। कानून के थोड़े से दफे सुन-सुना लिये हैं, बस उसी की रट लगाया करते हैं। मैं आपसे सत्य कहता हूँ, मुझे जरा भी खबर होती तो मैं आपको सचेत कर दिये होता।

शर्माजी—खैर, यह बला तो टली, पर मैं देखता हूँ कि इस ढग से काम न चलेगा। अपने असामियों को आज इस विपत्ति में देखकर मुझे बडा दुःख हुआ। मेरा मन बार-बार मुझको इन सारी दुर्घटनाओं का उत्तरदाता ठहरता है। जिनकी कमाई खाता हूँ, जिनकी बदौलत टमटम पर सवार होकर रईस बना घूमता हूँ, उनके कुछ स्वत्व भी तो मुझ पर हैं। मुझे अब अपनी स्वार्थान्धता स्पष्ट दीख पड़ती है। मैं आप अपनी ही दृष्टि में गिर गया हूँ। मैं सारी जाति के उद्धार का बीडा उठाये हुए हूँ, सारे भारतवर्ष के लिए प्राण

देता फिरता हूँ, पर अपने घर की खबर ही नहीं। जिनकी रोटियाँ खाता हूँ उनकी तरफ से इस तरह उदासीन हूँ! अब इस दुरवस्था को समूल नष्ट करना चाहता हूँ। इस काम में मुझे आपकी सहायता और सहानुभूति की जरूरत है। मुझे अपना शिष्य बनाइए। मैं याचक-भाव से आपके पास आया हूँ। इस भार को सँभालने की शक्ति मुझमें नहीं। मेरी शिक्षा ने मुझे किताबों का कीड़ा बनाकर छोड़ दिया और मन के मोदक खाना सिखाया। मैं मनुष्य नहीं, किन्तु नियमों का पोथा हूँ। आप मुझे मनुष्य बनाइए, मैं अब यहीं रहूँगा, पर आपको भी यहीं रहना पड़ेगा। आपकी जो हानि होगी उसका भार मुझ पर है। मुझे सार्थक जीवन का पाठ पढ़ाइए। आपसे अच्छा गुरु मुझे न मिलेगा। सम्भव है कि आपका अनुगामी बनकर मैं अपना कर्त्तव्य पालन करने योग्य हो जाऊँ।

परीक्षा

(१)

जब रियासत देवगढ के दीवान सरदार सुजानसिंह बूढे हुए तो परमात्मा की याद आयी। जाकर महाराज से विनय की कि दीनबन्धु! दास ने श्रीमान् की सेवा चालीस साल तक की, अब मेरी अवस्था भी ढल गयी, राज-काज सँभालने की शक्ति नहीं रही। कहीं भूल-चूक हो जाय तो बुढापे में दाग लगे। सारी जिन्दगी की नेकनामी मिट्टी में मिल जाय।

राजा साहब अपने अनुभवशील, नीति-कुशल दीवान का बड़ा आदर करते थे। बहुत समझाया, लेकिन जब दीवान साहब ने न माना तो हारकर उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली, पर शर्त यह लगा दी कि रियासत के लिए नया दीवान आप ही को खोजना पडेगा।

दूसरे दिन देश के प्रसिद्ध पत्रों में यह विज्ञापन निकला कि देवगढ के लिए एक सुयोग्य दीवान की जरूरत है। जो सज्जन अपने को इस पद के योग्य समझें वे वर्त्तमान दीवान सरदार सुजानसिंह की सेवा में उपस्थित हों। यह जरूरी नहीं है कि वे ग्रेजुएट हों, मगर हृष्ट-पुष्ट होना आवश्यक है, मन्दाग्नि के मरीज को यहाँ तक कष्ट उठाने की कोई जरूरत नहीं। एक महीने तक उम्मीदवारों की रहन-सहन, आचार-विचार की देखभाल की जायगी। विद्या का कम, परन्तु कर्त्तव्य का अधिक विचार किया जायगा। जो महाशय इस परीक्षा में पूरे उतरेंगे, वे इस उच्च पद पर सुशोभित होंगे।

(२)

इस विज्ञापन ने सारे मुल्क में हलचल मचा दी। ऐसा ऊँचा पद और किसी प्रकार की कैद नहीं! केवल नसीब का खेल है। सैकड़ों आदमी अपना-अपना भाग्य परखने के लिए चल खडे हुए। देवगढ में नये-नये और रग-बिरग के मनुष्य दिखायी देने लगे। प्रत्येक रेल गाड़ी से उम्मीदवारों का एक मेला-सा उतरता। कोई पजाब से चला आता था, कोई मद्रास से, कोई नये फैशन का प्रेमी, कोई पुरानी सादगी पर मिटा हुआ। पण्डितों और मौलवियों

को भी अपने-अपने भाग्य की परीक्षा करने का अवसर मिला। बेचारे सनद के नाम को रोया करते थे, यहाँ उसकी कोई जरूरत नहीं थी। रंगीन एमामे, चोंगे और नाना प्रकार के अंगरखे और कन्टोप देवगढ़ में अपनी सज-धज दिखाने लगे। लेकिन सबसे विशेष सख्या ग्रेजुएटों की थी, क्योंकि सनद की केद न होने पर भी सनद से परदा तो ढका रहता है।

सरदार सुजानसिंह ने इन महानुभावों के आदर-सत्कार का बड़ा अच्छा प्रबन्ध कर दिया था। लोग अपने-अपने कमरों में बैठे हुए रोजेदार मुसलमानों की तरह महीने के दिन गिना करते थे। हर एक मनुष्य अपने जीवन को अपनी बुद्धि के अनुसार अच्छे रूप में दिखाने की कोशिश करता था। मिस्टर, 'अ' नौ बजे दिन तक सोया करते थे, आजकल वे बगीचे में टहलते हुए ऊषा का दर्शन करते थे। मि० 'ब' को हुक्का पीने की लत थी, पर आजकल बहुत रात गये किवाड़ बन्द करके अन्धेरे में सिगार पीते थे। मि० 'द', 'स' और 'ज' से उनके घरों पर नौकरों के नाक में दम था, लेकिन ये सज्जन आजकल 'आप' और 'जनाब' के बगैर नौकरों से बातचीत नहीं करते थे। महाशय 'क' नास्तिक थे, हक्सले के उपासक, मगर आजकल उनकी धर्मनिष्ठा देखकर मन्दिर के पुजारी को पदच्युत हो जाने की शंका लगी रहती थी। मिस्टर 'ल' को किताबों से घृणा थी, परन्तु आजकल वे बड़े-बड़े ग्रन्थ देखने-पढ़ने में डूबे रहते थे। जिससे बात कीजिए, वह नम्रता और सदाचार का देवता बना मालूम देता था। शर्माजी घड़ी रात से ही वेद-मन्त्र पढ़ने लगते थे और मौलवी साहब को तो नमाज और तलावत के सिवा और कोई काम न था। लोग समझते थे कि एक महीने का झंझट है, किसी तरह काट लें, कहीं कार्य सिद्ध हो गया तो कौन पूछता है।

लेकिन मनुष्यों का वह बूढ़ा जौहरी आड में बेठा हुआ देख रहा था कि इन बगुलों में हंस कहाँ छिपा हुआ है!

(२)

एक दिन नये फैशनवालों को सूझी की आपस में 'हाकी' का खेल हो जाय। यह प्रस्ताव हाकी के मँजे हुए खिलाड़ियों ने पेश किया। यह भी तो आखिर एक विद्या है। इसे क्यों छिपा रखें। संभव है, कुछ हाथों की सफ़ाई

ही काम कर जाय। चलिए तय हो गया, कोर्ट बन गये, खेल शुरू हो गया और गेंद किसी दफ्तर के अप्रेंटिस की तरह ठोकरें खाने लगा।

रियासत देवगढ में यह खेल बिलकुल निराली बात थी। पढ़े-लिखे भलेमानुस लोग शतरज और ताश जैसे गभीर खेल खेलते थे। दौड-कूद के खेल बच्चों के खेल समझे जाते थे।

खेल बड़े उत्साह से जारी था। धावे के लोग जब गेंद को लेकर तेजी से उड़ते तो ऐसा जान पड़ता था कि कोई लहर बढती चली आती है। लेकिन दूसरी ओर से खिलाड़ी इस बढती हुई लहर को इस तरह रोक लेते थे कि मानो लोहे की दीवार है।

सन्ध्या तक यही धूमधाम रही। लोग पसीने में तर हो गये। खून की गर्मी आँख और चेहरे से झलक रही थी। हाँफते-हाँफते बेदम हो गये, लेकिन हार-जीत का निर्णय न हो सका।

अँधेरा हो गया था। इस मैदान से जरा दूर हटकर एक नाला था। उस पर कोई पुल न था। पथिकों को नाले में से चलकर आना पडता। खेल अभी बन्द ही हुआ था और खिलाड़ी लोग बैठे दम ले रहे थे कि एक किसान अनाज से भरी हुई गाड़ी लिये हुए उस नाले में आया। लेकिन कुछ तो नाले में कीचड़ था और कुछ उसकी चढाई इतनी ऊँची थी कि गाड़ी ऊपर न चढ सकती थी। वह कभी बैलों को ललकारता, कभी पहियों को हाथ से ढकेलता, लेकिन बोझ अधिक था और बैल कमज़ोर। गाड़ी ऊपर को न चढ़ती और चढ़ती भी तो कुछ दूर चढ़कर फिर खिसककर नीचे पहुँच जाती। किसान बार-बार ज़ोर लगाता और बार-बार झुँझलाकर बैलों को मारता, लेकिन गाड़ी उभरने का नाम न लेती। बेचारा इधर-उधर निराश होकर ताकता, मगर वहाँ कोई सहायक नजर न आता। गाड़ी को अकेले छोड़कर कहीं जा भी न सकता था। बड़ी आपत्ति में फँसा हुआ था। इसी बीच में खिलाड़ी हाथों में डण्डे लिये झूमते-झामते उधर से निकले। किसान ने उनकी तरफ सहमी हुई आँखों से देखा, परन्तु किसी से मदद माँगने का साहस न हुआ। खिलाडियों ने भी उसको देखा मगर बन्द आँखों से, जिनमें सहानुभूति न थी। उनमें स्वार्थ था, मद था, मगर उदारता और वात्सल्य का नाम भी न था।

(४)

लेकिन उसी समूह में एक ऐसा भी मनुष्य था जिसके हृदय में दया थी और साहस था। आज हाकी खेलते हुए उसके पैरों में चोट लग गयी थी। लँगड़ाता हुआ धीरे-धीरे चला जाता था। अकस्मात् उसकी निगाह गाड़ी पर पड़ी। ठिठक गया। उसे किसान की सूरत देखते ही सब बातें ज्ञात हो गयीं। डण्डा एक किनारे पर रख दिया। कोट उतार डाला और किसान के पास जाकर बोला—मैं तुम्हारी गाड़ी निकाल दूँ।

किसान ने देखा कि एक गठे हुए बदन का लम्बा आदमी सामने खड़ा है, झुककर बोला—हुजूर! मैं आपसे कैसे कहूँ? युवक ने कहा—मालूम होता है, तुम यहाँ बड़ी देर से फँसे हुए हो। अच्छा, तुम गाड़ी पर जाकर बैलों को साधो, मैं पहियों को ढकेलता हूँ, अभी गाड़ी ऊपर चढ जाती है।

किसान गाड़ी पर जा बैठा। युवक ने पहियों को जोर लगाकर उसकाया। कीचड़ बहुत ज्यादा था। वह घुटने तक जमीन में गड गया; लेकिन हिम्मत न हारी। उसने फिर ज़ोर किया, उधर किसान ने बैलों को ललकारा। बैलों को सहारा मिला, हिम्मत बँध गयी उन्होंने कंधे झुकाकर एक बार जोर किया तो गाड़ी नाली के ऊपर थी।

किसान युवक के सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। बोला—महाराज! आपने आज मुझे उबार लिया, नहीं तो सारी रात यहीं बैठना पड़ता।

युवक ने हँसकर कहा—अब मुझे कुछ इनाम देते हो? किसान ने गम्भीर भाव से कहा—नारायण चाहेंगे तो दीवानी आपको ही मिलेगी।

युवक ने किसान की तरफ गौर से देखा। उसके मन में एक सन्देह हुआ, क्या यह सुजानसिंह तो नहीं है? आवाज़ मिलती है, चेहरा-मोहरा भी वही। किसान ने भी उसकी ओर तीव्र दृष्टि से देखा। शायद उसके दिल के सन्देह को भाँप गया। मुसकुराकर बोला—गहरे पानी में पैठने से ही मोती मिलता है।

(५)

निदान महीना पूरा हुआ। चुनाव का दिन आ पहुँचा। उम्मीदवार लोग प्रातःकाल ही से अपनी किस्मतों का फैसला सुनने के लिए उत्सुक थे। दिन

(४)

लेकिन उसी समूह में एक ऐसा भी मनुष्य था जिसके हृदय मे दया थी और साहस था। आज हाकी खेलते हुए उसके पैरों में चोट लग गयी थी। लँगड़ाता हुआ धीरे-धीरे चला जाता था। अकस्मात् उसकी निगाह गाड़ी पर पड़ी। ठिठक गया। उसे किसान की सूरत देखते ही सब बातें ज्ञात हो गयीं। डण्डा एक किनारे पर रख दिया। कोट उतार डाला और किसान के पास जाकर बोला—मैं तुम्हारी गाड़ी निकाल दूँ।

किसान ने देखा कि एक गठे हुए बदन का लम्बा आदमी सामने खड़ा है, झुककर बोला—हुजूर! मैं आपसे कैसे कहूँ? युवक ने कहा—मालूम होता है, तुम यहाँ बड़ी देर से फँसे हुए हो। अच्छा, तुम गाड़ी पर जाकर बैलों को साधो, मैं पहियों को ढकेलता हूँ, अभी गाड़ी ऊपर चढ जाती है।

किसान गाड़ी पर जा बैठा। युवक ने पहियों को ज़ोर लगाकर उसकाया। कीचड़ बहुत ज्यादा था। वह घुटने तक जमीन में गड़ गया; लेकिन हिम्मत न हारी। उसने फिर ज़ोर किया, उधर किसान ने बैलों को ललकारा। बैलों को सहारा मिला, हिम्मत बँध गयी उन्होंने कंधे झुकाकर एक बार जोर किया तो गाड़ी नाली के ऊपर थी।

किसान युवक के सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। बोला—महाराज! आपने आज मुझे उबार लिया, नहीं तो सारी रात यहीं बैठना पड़ता।

युवक ने हँसकर कहा—अब मुझे कुछ इनाम देते हो? किसान ने गम्भीर भाव से कहा—नारायण चाहेंगे तो दीवानी आपको ही मिलेगी।

युवक ने किसान की तरफ गौर से देखा। उसके मन में एक सन्देह हुआ, क्या यह सुजानसिंह तो नहीं है? आवाज़ मिलती है, चेहरा-मोहरा भी वही। किसान ने भी उसकी ओर तीव्र दृष्टि से देखा। शायद उसके दिल के सन्देह को भाँप गया। मुसकुराकर बोला—गहरे पानी में पैठने से ही मोती मिलता है।

(५)

निदान महीना पूरा हुआ। चुनाव का दिन आ पहुँचा। उम्मीदवार लोग प्रातःकाल ही से अपनी किस्मतों का फैसला सुनने के लिए उत्सुक थे। दिन

ही काम कर जाय। चलिए तय हो गया, कोर्ट बन गये, खेल शुरू हो गया और गेंद किसी दफ्तर के अप्रेंटिस की तरह ठोकरें खाने लगा।

रियासत देवगढ़ में यह खेल बिलकुल निराली बात थी। पढ़े-लिखे भलेमानुस लोग शतरंज और ताश जैसे गंभीर खेल खेलते थे। दौड़-कूद के खेल बच्चों के खेल समझे जाते थे।

खेल बड़े उत्साह से जारी था। धावे के लोग जब गेंद को लेकर तेजी से उड़ते तो ऐसा जान पड़ता था कि कोई लहर बढ़ती चली आती है। लेकिन दूसरी ओर से खिलाड़ी इस बढ़ती हुई लहर को इस तरह रोक लेते थे कि मानो लोहे की दीवार है।

सन्ध्या तक यही धूमधाम रही। लोग पसीने में तर हो गये। खून की गर्मी आँख और चेहरे से झलक रही थी। हाँफते-हाँफते बेदम हो गये, लेकिन हार-जीत का निर्णय न हो सका।

अँधेरा हो गया था। इस मैदान से जरा दूर हटकर एक नाला था। उस पर कोई पुल न था। पथिकों को नाले में से चलकर आना पड़ता। खेल अभी बन्द ही हुआ था और खिलाड़ी लोग बैठे दम ले रहे थे कि एक किसान अनाज से भरी हुई गाड़ी लिये हुए उस नाले में आया। लेकिन कुछ तो नाले में कीचड़ था और कुछ उसकी चढ़ाई इतनी ऊँची थी कि गाड़ी ऊपर न चढ़ सकती थी। वह कभी बैलों को ललकारता, कभी पहियों को हाथ से ढकेलता, लेकिन बोझ अधिक था और बैल कमज़ोर। गाड़ी ऊपर को न चढ़ती और चढ़ती भी तो कुछ दूर चढ़कर फिर खिसककर नीचे पहुँच जाती। किसान बार-बार ज़ोर लगाता और बार-बार झुँझलाकर बैलों को मारता, लेकिन गाड़ी उभरने का नाम न लेती। बेचारा इधर-उधर निराश होकर ताकता, मगर वहाँ कोई सहायक नज़र न आता। गाड़ी को अकेले छोड़कर कहीं जा भी न सकता था। बड़ी आपत्ति में फँसा हुआ था। इसी बीच में खिलाड़ी हाथों में डण्डे लिये झूमते-झामते उधर से निकले। किसान ने उनकी तरफ सहमी हुई आँखों से देखा, परन्तु किसी से मदद माँगने का साहस न हुआ। खिलाड़ियों ने भी उसको देखा मगर बन्द आँखों से, जिनमें सहानुभूति न थी। उनमें स्वार्थ था, मद था, मगर उदारता और वात्सल्य का नाम भी न था।

(४)

लेकिन उसी समूह में एक ऐसा भी मनुष्य था जिसके हृदय में दया थी और साहस था। आज हाकी खेलते हुए उसके पैरों में चोट लग गयी थी। लंगड़ाता हुआ धीरे-धीरे चला जाता था। अकस्मात् उसकी निगाह गाड़ी पर पड़ी। ठिठक गया। उसे किसान की सूरत देखते ही सब बातें ज्ञात हो गयीं। डंडा एक किनारे पर रख दिया। कोट उतार डाला और किसान के पास जाकर बोला—मैं तुम्हारी गाड़ी निकाल दूँ।

किसान ने देखा कि एक गठे हुए बदन का लम्बा आदमी सामने खड़ा है, झुककर बोला—हुजूर! मैं आपसे कैसे कहूँ? युवक ने कहा—मालूम होता है, तुम यहाँ बड़ी देर से फँसे हुए हो। अच्छा, तुम गाड़ी पर जाकर बैलों को साधो, मैं पहियों को ढकेलता हूँ, अभी गाड़ी ऊपर चढ़ जाती है।

किसान गाड़ी पर जा बैठा। युवक ने पहियों को जोर लगाकर उसकाया। कीचड़ बहुत ज्यादा था। वह घुटने तक जमीन में गड़ गया, लेकिन हिम्मत न हारी। उसने फिर ज़ोर किया, उधर किसान ने बैलों को ललकारा। बैलों को सहारा मिला, हिम्मत बँध गयी उन्होंने कंधे झुकाकर एक बार ज़ोर किया तो गाड़ी नाली के ऊपर थी।

किसान युवक के सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। बोला—महाराज! आपने आज मुझे उबार लिया, नहीं तो सारी रात यहीं बैठना पड़ता।

युवक ने हँसकर कहा—अब मुझे कुछ इनाम देते हो? किसान ने गम्भीर भाव से कहा—नारायण चाहेंगे तो दीवानी आपको ही मिलेगी।

युवक ने किसान की तरफ गौर से देखा। उसके मन में एक सन्देह हुआ, क्या यह सुजानसिंह तो नहीं है? आवाज़ मिलती है, चेहरा-मोहरा भी वही।' किसान ने भी उसकी ओर तीव्र दृष्टि से देखा। शायद उसके दिल के सन्देह को भाँप गया। मुसकुराकर बोला—गहरे पानी में पैठने से ही मोती मिलता है।

(५)

निदान महीना पूरा हुआ। चुनाव का दिन आ पहुँचा। उम्मीदवार लोग प्रातःकाल ही से अपनी किस्मतों का फैसला सुनने के लिए उत्सुक थे। दिन

काटना पहाड़ हो गया। प्रत्येक चेहरे पर आशा और निराशा के रंग आते थे। नहीं मालूम, आज किसके नसीब जागेंगे? न जाने किस पर लक्ष्मी की कृपादृष्टि होगी?

सन्ध्या समय राजा साहब का दरबार सजाया गया। शहर के रईस और धनाढ्य लोग, राज्य के कर्मचारी और दरबारी तथा दीवानी के उम्मीदवारों का समूह, सब रंग-विरंगी सज-धज बनाये दरबार में आ विराजे! उम्मीदवारों के कलेजे धड़क रहे थे।

तब सरदार सुजानसिंह ने खड़े होकर कहा—मेरे दीवानी के उम्मीदवार महाशयो! मैंने आप लोगों को जो कष्ट दिया है, उसके लिए मुझे क्षमा कीजिए। मुझे इस पद के लिए ऐसे पुरुष की आवश्यकता थी जिसके हृदय में दया हो और साथ-साथ आत्म-बल। हृदय वह जो उदार हो, आत्म-बल वह जो आपत्ति का वीरता के साथ सामना करे और इस रियासत के सौभाग्य से हमको ऐसा पुरुष मिल गया। ऐसे गुणवाले संसार में कम हैं, और जो हैं, वे कीर्त्ति और मान के शिखर पर बैठे हुए हैं, उन तक हमारी पहुँच नहीं। मैं रियासत को पण्डित जानकीनाथ-सा दीवान पाने पर बधाई देता हूँ।

रियासत के कर्मचारियों और रईसों ने जानकीनाथ की तरफ देखा। उम्मीदवार दल की आँखें उधर उठीं, मगर उन आँखों में सत्कार था, इन आँखों में ईर्ष्या।

सरदार साहब ने फिर फरमाया—आप लोगों को यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति न होगी कि जो पुरुष स्वयं जख्मी होकर भी एक गरीब किसान की भरी हुई गाड़ी को दलदल से निकालकर नाले के ऊपर चढा दे उसके हृदय में साहस, आत्मबल और उदारता का वास है। ऐसा आदमी गरीबों को कभी न सतायेगा। उसका संकल्प दृढ है जो उसके चित्त को स्थिर रखेगा। वह चाहे धोखा खा जावे, परन्तु दया और धर्म से कभी न हटेगा।